डॉ० दयाकृष्ण विजय
एम. ए.; पी-एच. डी.
एल-एल. बी.

□

अर्चना प्रकाशन, अजमेर

गीता-अनुशीलन

☐ डॉ० दयाकृष्ण विजय

© प्रकाशन वर्ष १९८४

☐ मूल्य—पैंसठ रुपये

☐ प्रकाशक—अर्चना प्रकाशन, अजमेर

☐ मुद्रक—अर्चना प्रकाशन, अजमेर

भूमिका

'गाता सुगीता कर्तव्या'—गीता का गान किया जाना चाहिए, उसका चिन्तन-मनन किया जाना चाहिए, उसके उपदेशों के अनुसार आचरण करना चाहिए। देश और विदेश में अनेक विद्वानों-चिन्तकों ने श्रीमद्भगवद्गीता का पृथक् पृथक् दृष्टियों से अध्ययन किया है, सुदीर्घकाल से ऐसा होता आया है। उसी परम्परा में डॉ० विजय की 'गीता-अनुशीलन' की एक दृष्टि है।

भारतीय संस्कृति का चिन्तन का वहुआयामी इतिहास इतना विस्तारयुक्त है कि उसमें नया कुछ भी नहीं होता। हर नवीन प्रत्न भी होता है। अभिव्यक्ति कौशल सबसे अलग हो सकता है। ऐसी किसी कृति में यही देखना होगा कि चिन्तन कितना तथ्यगत है और अभिव्यक्ति कितनी तर्कसङ्गत है। प्रस्तुत कृति का परीक्षण भी विद्वज्जन इसी दृष्टि से करेंगे।

गीता को समझने का सूत्र है—जीवन-व्यापार का यह क्रम—सर्वप्रथम भाव, भाव का निर्देशक ज्ञान और ज्ञान निर्दिष्ट भाव के अनुसार आचरण या कर्म। इन तीनों में किसी ने कोई एक सूत्र पकड़ा है, किसी अन्य ने दूसरा। ज्ञानमार्गी ज्ञान को प्राथमिकता देते हैं तो कर्ममार्गी कर्म को और भक्तिमार्गी भाव को। सही और समन्वित दृष्टि के अनुसार भाव-ज्ञान-कर्म का क्रम अधिक तर्क सङ्गत है। वैसे प्राथमिकता का आधार मनुष्य का चिन्तन-स्तर या मानसिक विकास है।

श्री विजय की दृष्टि विश्लेषणपरक है। विविध प्रश्नों के माध्यम से चिन्तन के मुद्दे तय करके उन पर एक-एक करके विचार किया गया है। वे एक प्रभावशाली अभिभाषक हैं। तदनुरूप ही उन्होंने अभिभाषक शैली में गीता का मर्म-विस्तार किया है। दृष्टि यही रही है कि पाठक के लिए गीता की विचार निगूढ़ता कुछ हल्की हो जाय और निर्णय लेने की दिशा की पकड़ कुछ अधिक सरल और सहज हो जाय।

आशा है गीता-प्रेमी इसे इस रूप में उपयोगी पाएँगे। दृष्टिभेद से मतभेद तो हो सकता है और किसी की सब बातों को स्वीकार करना भी आवश्यक नहीं है; पर पक्ष विशेष की बात सुन लेना और उस पर समझपूर्वक निर्णय देने की मानसिकता बना लेना भी एक बिन्दु तो है ही, जिसकी पकड़ पाने की सफलता एक सफलता ही है।

—(डॉ०) बद्रीप्रसाद पंचोली

अनुक्रम

प्रास्ताविक

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए सन्नद्ध कौरव पाण्डव सेनाएं आमने सामने खड़ी हैं। दोनों पक्षों के धनुर्धर महारथियों ने व्यूह रचनानुसार दृढ़ता एवं सावधानी के साथ अपना अपना स्थान सँभाल लिया है। युद्धारम्भ सूचक शङ्खध्वनियां तुमुलता से दिशाओं को गुञ्जित कर रही हैं, तभी श्वेत अश्वों वाले पाण्डव वीर अर्जुन के कपिध्वज रथ को हाँकते हुए अनूठे सारथी यदुनन्दन यादवेन्द्र कृष्ण, कौरव सेनापति भीष्म; द्रोणादिकों के सम्मुख समुपस्थित होते हैं। वीरवर अर्जुन अपने सामने खड़े अपने ही गुरुजनों, बंधु-बांधवों सगे सम्बन्धियों को अपने हाथों काल का ग्रास बनते देख विषाद एवं मोह से मर्माहत हो जाता है। मोहाभिभूत शरीर का अंग अंग व्याकुल हो उठता है। मुख सूख जाता है। बार बार रोमाञ्च होने लगता है। गाण्डीव हाथ से छूटा पड़ता है। त्वचा जलने लगती है। मन विभ्रमित हो जाता है। रणभूमि में क्षण भर खड़े रह पाने में असमर्थ हुआ, शोक संविग्न मानस धनञ्जय धनुषबाण एक ओर पटक, यह कहता हुआ रथ के उपस्थ भाग में बैठ जाता है कि मैं ऐसे युद्ध में, जिसमें अपने ही बांधवों को मारकर राज्य प्राप्त करना पड़े, कोई श्रेय नहीं देखता हूँ। समर क्षेत्र की उस विषम परिस्थिति में कौन्तेय की ऐसी दयनीय स्थिति देख हृषीकेश कृष्ण ने उसके अनार्यजुष्ट, अस्वर्ग्य, अकीर्तिकर अशुभ कश्मल के परिमार्जन तथा उसे युद्ध प्रवृत्त करने के अभिप्राय से, वहीं जो महान कर्म प्रेरक उद्बोधन दिया, उसे ही आज हम गीता के रूप में जानते हैं। भगवान् मधुसूदन ने सभी सम्भव तर्कों, उपायों, एवं प्रदर्शनों से सुभद्रापति को सन्तुष्ट एवं युद्धोद्यत करने का यत्न किया। वही यत्न गीता का कृष्ण द्वैपायन व्यास के हाथों अठारह अध्यायी विस्तार है, जिसे सुनकर आशा निराशा के सन्देही झूलों में झूलता पार्थ नष्टमोह हुआ, क्षात्रधर्म का स्मरण करते हुए विगत सन्देह युद्ध प्रवृत्त होता है।

भगवान् के श्रीमुख से उच्चरित वे तर्कादि ही आत्म ज्ञान के प्रदाता तथा गीता के गेय विषय हैं। वेद व्यास ने उन्हें १८ विभिन्न योगों में विभाजित कर अध्यात्म-ज्ञान-कोष के रूप में विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया है, जिसका उल्लेख स्वयं गीताकार ने गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में किया भी है। ये हैं (१) विषाद योग (२) सांख्य योग (३) कर्म योग (४) ज्ञान कर्म संन्यास योग (५) कर्म संन्यास योग (६) आत्म संयम योग (७) ज्ञान विज्ञान योग (८) अक्षर ब्रह्म योग (९) राजविद्या राजगुह्य योग (१०) विभूति योग (११) विश्व रूप दर्शन योग (१२) भक्ति योग (१३) क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग (१४) गुण त्रय विभाग योग (१५) पुरुषोत्तम योग (१६) दैवासुर सम्पद्विभाग योग (१७) श्रद्धा-

त्रय विभाग योग तथा (१८) मोक्ष संन्यास योग। इन्हीं योगों के परिसर में ज्ञान, भक्ति एवं कर्म के तर्क प्रवृद्ध शब्द-शर चले हैं। वे जीवन को समग्रता के साथ छूते हैं। गीता में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति की त्रिवेणी अध्यात्म के धरातल पर चिति की संचेतना का संकीर्त्तन करती सतत संचरित हुई है। इसी कारण गीता का ज्ञान देश काल को भेद विश्व का शाश्वत ज्ञान हो गया है। कहा भी है—

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः।

गीताकार ने कृष्णोद्‌बोधन के व्याज से वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों का सार तत्त्व लाकर हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। इस तरह यह उद्‌बोधन अकेले पार्थ के लिए उद्‌बोधन न रहकर अखिल मानवता के लिए उद्‌बोधन हो गया है।

गीता का गत ५००० वर्षों से विद्वानों, मनीषियों तथा सक्षम अधिकारी लेखकों द्वारा निरन्तर अनुशीलन, चिन्तन, विवेचन, भाष्य आदि प्रस्तुत किया जाता रहा है, पर इतने पर भी गीता अपने विशिष्ट ज्ञान को लिए और और विवेचन और विश्लेषण की प्रतीक्षा में अलग खड़ी है।

गीता का अध्ययन किया। हर बार नवीन अर्थ सामने मिले। राजनीतिक कारणों से दीर्घकाल के लिए बंदीगृह का आश्रय मिला। उस समय जिज्ञासु मन नहीं माना। वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत आदि सभी सद्‌ग्रंथ पढ डाले। गीता के छोटे कलेवर ने जितनी संश्लिष्टता के साथ प्रभावित किया उतना और किसी ग्रंथ ने नहीं। इसे पढ़ने के बाद जैसे कुछ पढ़ना सेष नहीं रहा। मानो शेष ग्रंथ इसी की व्याख्या हों। बंदीगृह से आने के बाद गीता को जो कुछ समझा; सचमुच समझा हूँ यह जानने के लिए, उसे लिखने का विचार सहसा आया। एक बार फिर गीता का आद्योपान्त अध्ययन कर कलम उठा ही ली।

यदि गीता सारी उपनिषद् रूपी गायों के दोहन के उपरांत निकला नवनीत है तो यह प्रस्तुत कृति गीता रूपी कामधेनु के दोहनोपरांत निकला नवनीत है। मैं भगवान् के इस कथन पर विश्वास किए हूं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।१८.७०

ज्ञानयज्ञ से उसी एक परमपिता परमात्मा की आराधना का भाव लिए गीता को मैंने पढ़ा है और जो कुछ ज्ञान अर्जित किया उसे सब के सम्मुख प्रस्तुत करने की इच्छा से ही कलम उठाई है। वैसे गीता ने मुझे जितना प्रभावित किया है उतना और किसी ग्रंथ ने नहीं। गीता का ज्ञान मनुष्य मात्र के लिए आचरणीय ज्ञान है।

हमारे भीतर एक सतत महाभारत युद्ध लड़ा जा रहा है। शुभ अशुभ का, सद् असद् का संघर्ष। गीता हमें अन्धकार पर प्रकाश की, अनृत पर अमृत की, असत् पर सत् की, अशुभ पर शुभ की तथा मृत्यु पर जीवन की विजय का पाठ पढ़ाती है। गीता का प्रतिपाद्य विषय 'बुद्धियोग' है। इसी 'बुद्धियोग' की सिद्धि के निमित्त वेदव्यास ने कृष्णार्जुन-संवाद के व्याज से आत्मा, ब्रह्म, कर्म, कर्म-योग, ज्ञान-योग, भक्ति-योग की सम्पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है। गीतोक्त-ज्ञान इन्हीं छह भागों में विभक्त किया जा सकता है। वेदों में भी छहों विषयों का विरूपण मिलता

है। कर्म, ज्ञान, उपासना, विज्ञान, स्तुति और इतिहास— इन छह भागों में वेद्य-विषयों को बांटा जा सकता है। वेदों को वैसे सर्व शास्त्र कहा जाता है। 'सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति' (मनुस्मृति)। गीता 'सर्वम्' की वाहिका स्थूल रूप में नहीं है। गीता आध्यात्मिक दृष्टि से अवश्य एकमेव सर्वम् की वाचिका है। इस नाते सम्पूर्ण वेद-शास्त्र को यह अपने में नहीं समेटे है। गीता पूर्व प्रचलित षड्दर्शनों से आगे की एक कड़ी है। गीता के अतिरिक्त अन्य दर्शन-तन्त्रों में बुद्धियोग निरूपण का सर्वथा अभाव है। उसका कारण है, षड्दर्शन ग्रन्थ मात्र दर्शन ग्रन्थ हैं, जब कि गीता ब्रह्म के वाचिक भाव का ही विश्लेषण न कर, उसके व्यावहारिक स्वरूप को भी हमारे सामने रखती है। इसी कारण गीता दर्शन-शास्त्र ही न होकर व्यावहारिक शास्त्र अर्थात् विज्ञान-शास्त्र भी है। वैशेषिक दर्शन ने क्षर द्वारा अक्षर पर, सांख्य ने अक्षर द्वारा अव्यय पर तथा इतिहास वेदान्त ने भी अक्षर द्वारा अव्यय की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है या अक्षर अव्यय को एक ही समझकर निरूपण कर डाला है। इनमें हमें अव्यय का केवल सोपाधिक निरूपण ही मिलता है; जब कि गीता ने अव्यय, अक्षर, क्षर तीनों की विस्तृत व्याख्या करते हुए विशुद्ध अव्यय का तथा इस अव्यय की प्राप्ति हेतु सर्वथा नूतन चतुर्विध बुद्धियोग का व्यावहारिक निरूपण किया है तथा अपना विज्ञान-शास्त्र होना सिद्ध किया है। कहा भी है—

पुरुष: स पर: पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यथा।
यस्यान्त:स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्। ८.२२

अनन्य निष्काम भक्ति ही बुद्धियोग की जनक है। बुद्धि के चार गुण होते हैं—वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य और धर्म। ये चारों इसके स्वाभाविक गुण हैं। इसके विपरीत आसक्ति, मोह, अस्मिता और अभिनिवेश, ये चारों इसके स्वाभाविक गुणों के प्रतिद्वन्द्वी हैं तथा इन्द्रियों के माध्यम से इसे भौतिक जगत् में सम्मोहित किए रहते हैं। बुद्धि का आत्मा के साथ योग न होने देने में ये चारों अविद्यामूलक हेतु ही कारणभूत हैं। अत: इनका निराकरण एवं स्वाभाविक चारों गुणों का योगानुष्ठान ही बुद्धियोग है। इन चारों का विस्तृत रूप से गीता में आख्यान होने से गीता-दर्शन का वाचिक एवं व्यावहारिक विज्ञानशास्त्र हो गया है। इस तरह गीता न तो दर्शन-शास्त्र है, न पूर्व दर्शनशास्त्रों के तन्त्रों से गीता प्रभावित ही है। यह तो ज्ञान-विज्ञानसम्मत बुद्धियोग का उपनिषद् है। आत्म स्वरूप दिखलाने वाले शास्त्र, दर्शन हैं और उसकी प्राप्ति का व्यावहारिक उपाय बतलाने वाले शास्त्र विज्ञान कहलाते हैं। गीता में ये दोनों रूप हमें देखने को मिलते हैं। अत: यह परतत्त्व के ज्ञान-विज्ञान को अपने में सहेजे है। इस तरह गीता सम्पूर्ण शास्त्र है। दर्शन-शास्त्रों की अपूर्णता को पूर्ण करने वाला ग्रन्थ है। गीता दर्शन-शास्त्रों के सम्यक् दर्शन के साथ-साथ सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र्य का सम्यक् स्वरूप प्रदर्शित करता हुआ, भव-बन्धन से मुक्ति का व्यावहारिक मार्ग बतलाने वाला सत्-शास्त्र है। गीता ने प्राय: सभी आत्म-विवर्तों का दिग्दर्शन कराते हुए उस एकमेव अव्यय की प्राप्ति का उपाय बताया है। आत्म सम्बन्धी जितना भी जानने योग्य है वह आपको गीता-शास्त्र में उपलब्ध मिलेगा।

गीता की सबसे बड़ी विलक्षणता जिसके कारण अन्य दर्शन ग्रन्थों से यह स्वतः ही पृथक् हो जाती है, वह है सत्-असत् का तात्त्विक निरूपण। गीता स्पष्ट शब्दों में कहती है—'सत् कभी असत् नहीं हो सकता। असत् में सत् की सत्ता हो नहीं सकती। सत् का कभी अभाव नहीं होता और असत् की कभी कोई सत्ता नहीं होती।' इस तरह गीता सत् असत् को दो स्वतन्त्र तत्त्व मानते हुए भी अद्वैत की पुरःस्थापना करते हुए कहती है कि उस एक के ही सत् असत् दो रूप हैं। दोनों मिलकर एक हैं। दोनों परस्पर अत्यधिक विरोधी होते हुए भी एक हैं। यही गीता की विलक्षणता तथा अनिर्वचनीयता कही जा सकती है। देखिए—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

गीता ने केवल औपनिषदिक आत्मा का विश्लेषण ही नहीं किया है अपितु वैदिक संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक एवं उपनिषदों रूपी तन्त्र चतुष्टय में जिस सोपाधिक आत्मा का वर्णन आया है, गीता ने उसका वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक स्वरूप निरूपित किया है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि वेद एवं दर्शन ग्रन्थों में जहां आत्मा का सम्यक् दार्शनिक रूप निरूपित हुआ है वहां गीता में आत्मा के सम्यक् दर्शन, ज्ञान व चारित्र्य तीनों का विवेचन हुआ है। इस तरह गीता वेद का अन्तःभाग न होते हुए भी 'भगवद्गीतोपनिषत्' रूप से सर्वत्र सुपरिचित हुई है। गीता अभेदवाद की मुख्य प्रवक्त्री नहीं है, उसका मुख्य लक्ष्य तो अव्यय का स्वरूप प्रतिपादित कर उसकी प्राप्ति का बुद्धियोग द्वारा उपाय बतलाना ही प्रधान लक्ष्य है। इस तरह गीता को विशुद्ध अव्यय शास्त्र कहा जा सकता है।

गीताकार ने षड्दर्शनों के प्रति खण्डनात्मक दृष्टि नहीं रखी है। षड्दर्शनों में मुख्य तीन दर्शन माने गए हैं—वैशेषिक, सांख्य एव वेदान्त। मीमांसा, न्याय एवं योग आनुषंगिक माने गए हैं। मीमांसा जहां कर्मकाण्ड को लिए है, वहां न्याय तर्कशास्त्र को अपने में समेटे है। योग एक प्रक्रिया भर है। दार्शनिक प्रतिपाद्यों का इनमें स्पर्श भर है। अतः इन्हें दर्शन ग्रन्थों की कोटि में गौण रूप से ही माना जाता है। मुख्य दर्शन तो तीन ही हैं। गीता की दृष्टि समाहनात्मक एवं संग्रहात्मक रही है। निरुपाधिक अव्यय के विषय प्रतिपादन में जहां जितना सुलभ हुआ वह सम्पूर्ण दर्शन ग्रन्थों से लिया है, जो असंगत लगा, उसे छोड़ दिया। उसे त्रुटिपूर्ण नहीं कहा। गीताकार ने अपनी बात कही है। खण्डन का इसे हम शिष्ट रूप कह सकते हैं। जैसे गीताकार ने सांख्य के परिणामी अव्यय से अपनी असहमति प्रकट करते हुए अक्षर अव्यय को अपरिणामी कहा है। उनके अनुसार वह कभी उपादान नहीं हो सकता। गीता क्षर को परिणामी मानती है। यह ठीक है गीता ने निरुपाधिक अव्यक्त के सोपाधिक अव्यय, अक्षर एवं क्षर तीनों रूप माने हैं; पर विषयानुसार गीताकार ने अव्यय को परब्रह्म, अक्षर को परम ब्रह्म तथा क्षर को मात्र ब्रह्म कह कर भिन्नता प्रदर्शित की है। सोपाधिक अव्यय, अक्षर एवं क्षर से आगे गीता का आनन्दावतार निरुपाधिक अव्यय है। सांख्य ने अपने २४ तत्त्वों में बुद्धि की परिगणना नहीं की है। गीताकार ने सांख्यों को इसी लिए स्थान-स्थान पर अबुद्धयः और परमात्म के परम अव्यक्त भाव को न जानने

वाला कहा है। देखिए—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्। ७.२४

गीता आत्मा को बुद्धि से परे मानती है—

यो बुद्धेः परतस्तु सः।

गीता को विभिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से देखा है। इस कारण उनका भाष्यार्थ गीतार्थ न होकर उनका मतार्थ हो गया है। इस तरह निश्चित धारणा वाले साम्प्रदायिकों ने गीता को अपने साम्प्रदायिक दर्शन में खींचने की कोशिश की है। शंकराचार्य जी को ही ले लें। उनकी संन्यास दृष्टि से गीता विशुद्ध ज्ञानयोग का ग्रन्थ है। रामानुज, वल्लभ, माध्व, निम्बार्कादि वैष्णव आचार्यों के मत से गीता विशुद्ध भक्ति ग्रन्थ है। लोकमान्य तिलक के मतानुसार गीता विशुद्ध कर्म योग का ग्रन्थ है। लेकिन सूक्ष्मतः ज्ञान, ध्यान, भक्ति एवं कर्म तो गीतोक्त बुद्धियोग के चार स्तम्भ हैं, जिन पर बुद्धियोग का भवन खड़ा है। गीता में बुद्धियोग के रूप में आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त एवं प्राप्ति उपायों का व्यवस्थित प्रतिपादन हुआ है।

गीता में कुछ विद्वान् त्रैत, तो कुछ द्वैत देखते हैं। जब कि गीता विशुद्ध अद्वैतवादी है। उसके अनुसार निरुपाधिक अव्यय परात्पर से परतर कुछ नहीं है। वही अक्षर है, वही क्षर है। वही अव्यक्त और वही सनातन अव्यक्त है। 'सर्वं इदं ततम्' 'ॐ तत् सत्' 'तत् त्वम् असि' इसी सिद्धान्त का उद्घोष कर रहे हैं। गीता इसी तत् त्वम् असि की व्याख्या है। अध्याय १ से ६ तक कर्म प्रसङ्ग को लेकर तत् की; अध्याय ७ से १२ तक ईश्वर प्रसङ्ग को लेकर त्वम् की तथा अध्याय १३ से १८ तक गुण प्रसङ्ग को लेकर असि की व्याख्या की गई है।

वेदान्त का प्रस्थानत्रयी वाला सिद्धान्त भी गीतोक्त सत्य के समक्ष सही नहीं लगता है। उपनिषत्+ब्रह्मसूत्र+गीता ये तीनों मिलकर प्रस्थानत्रयी कहे जाते हैं। आद्याचार्य शंकर ने उपनिषत्, वेदान्तसूत्र तथा गीता पर भाष्य लिखने से पूर्व अद्वय निर्विशेष मूलक अद्वैत सिद्धान्त स्थापित कर लिया। उसी के आधार पर प्रस्थानत्रयी में समन्वय की चेष्टा की है। इस कारण द्वैत प्रतिपादक जितने भी वचन थे, वे गौण हो गए। शंकर के अनुसार प्रस्थानत्रयी एक मात्र निर्गुण, व्यापक परात्पर ब्रह्म की प्रतिपादक है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। 'अंशो नानात्वात्' इत्यादि इसके समर्थन में कहे गए हैं। जब कि निर्गुण परात्पर तो सर्वथा अविज्ञेय है। जहाँ तक शब्द शास्त्र की गति नहीं है। फिर प्रस्थानत्रयी उसका प्रतिपादन कैसे कर सकती है। वेदान्तिक निर्गुण, परात्पर, अव्यय, अक्षर सबको समानार्थक मानकर चलते हैं जब कि गीता दोनों अव्ययों का अभेद बतलाती हुई, अव्ययाक्षर क्षर तीनों का विभूतित्व सिद्ध करते हुए, बुद्धियोग द्वारा प्रत्यगात्मा की प्राप्ति का व्यावहारिक उपयोग बतलाती है। अव्यय स्वरूप प्रतिपादन तथा तत्प्राप्ति उपायभूत बुद्धियोग का निरूपण ही गीता का प्रधान लक्ष्य है। महर्षि कपिल सांख्यसूत्र में अव्यय अक्षर को प्रकृति मानते हैं, उपादान कारण, परिणामी। वे अव्यय का सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं मानते। पुरुष आत्मा है, ज्ञ है, चिन्मात्र है, निष्क्रिय

है तथा जगत्सृष्टि से उदासीन है। जब कि गीता अक्षर को अक्षर ही मानती है अपरिणामी। वह उपादान नहीं है। क्षर ही परिणामी है। उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश का यही कारण है, अव्यक्त तो निमित्त है। गीता में सगुण पुरुष के अमृत, ब्रह्म, शुक्र रूपों के साथ साथ, अमृतात्मा के उत्तम पर्व अव्यय का निरूपण हुआ है। इस तरह गीता स्वतंत्र रूप से एक कृत्स्न दर्शन है जब कि अन्य दर्शन ग्रन्थ अकृत्स्न हैं। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। अयन के लिए और कोई दूसरा पंथ नहीं।

निश्चय ही वेद ज्ञान के पवित्र तीर्थ हैं। उपनिषत् उन पवित्र तीर्थों में ऋषि कण्ठों से उच्चरित वे मंत्रसूत्र हैं जिनमें सृष्टि का ज्ञान-विज्ञान विश्लेषित हुआ है। जिन-जिन महर्षियों ने जिस रूप में उस ऋत् सत्य को मापा, वही मन्त्र सूत्र उसी नाम से जाने गए। वह सूत्रबद्ध ज्ञान ही भारत का षड् दर्शन है। ऋषि बादरायण के मन्त्रसूत्र ब्रह्मसूत्र (वेदान्त), ऋषि जैमिनी के मीमांसा सूत्र, गौतम के न्यायसूत्र, कणाद् के वैशेषिकसूत्र, पतञ्जलि के योग सूत्र नाम से जाने गए। कपिल सूत्र ही सांख्यदशन के नाम से प्रसिद्ध है। वेदों को 'त्रैगुण्य विषया वेदा' कहा गया है। और सूत्र एक पक्ष को महत्त्व देने के कारण पूर्णता नहीं पा सके लेकिन गीता अध्यात्म पक्ष की सम्पूर्णता को सहेजे होने से एक कृत्स्नदर्शनग्रन्थ हो गया है। यह न किसी देशकाल का है, न किसी सम्प्रदाय विशेष का। यह तो सम्पूर्ण का वाचक होने से सम्पूर्ण मानवता का आधार ग्रन्थ है ऐसा निर्विवाद कह सकते हैं अन्त में जहां से हमने इसे प्रारम्भ किया था, वहीं लौटते हुए कह सकते हैं कि गीता कोई युद्ध ग्रन्थ नही है, जैसा इसके प्रथम अध्याय को पढ़ने से लगता है। यदि किसी से जिसने गीता पूरी नहीं पढ़ी हो केवल पहला अध्याय ही पढ़ा हो और उससे पूछा जाए कि गीता में वर्णित विषय के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं, तो वह यही कहेगा कि धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र में कौरवों एवं पाण्डवों की सेना आमने-सामने युद्ध के लिए खड़ी थी। कौरवों की सेना ११ अक्षौहिणी थी और पाण्डवों की ७ अक्षौहिणी। पाण्डव सेना के प्रमुख योद्धाओं में युयुधान, सात्यकि विराट्, महारथ द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज, शैव्य, युधामन्यु, विक्रान्त, उत्तमौजा अभिमन्यु, द्रौपदी के पांचों पुत्र तथा पांचों पाण्डव थे। पाण्डवों की सेना भीम से रक्षित थी। वह व्यूह बना कर खड़ी थी। कौरव सेना के प्रमुख योद्धाओं में भीष्म, कर्ण, कृप, अश्वत्थामा, विवर्ण, भूरिश्रुवा (सोमदत्ति) थे। इनकी सेना भीष्म से रक्षित थी। जब दोनों ओर की सेनाएं खड़ी थीं तथा दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास जाकर इन योद्धाओं के नाम बता रहा था तभी भगवान् कृष्ण श्वेत अश्व जुते रथ को लिए, जिस पर कपिध्वज लहरा रहा था तथा जिसमें अर्जुन बैठा था, दोनों सेनाओं के बीचों बीच आये। उनके आते ही शंखध्वनियां होने लगीं। भेरी (नगाड़े), पण (ढोल), बानक (मृदंग), गोमुख (नृसिंह) बाजे बजने लगे। भगवान् कृष्ण जिन्हें हृषीकेश कहते हैं, उन्होंने अपना पाञ्चजन्य शङ्ख, धनञ्जय अर्जुन ने अपना देवदत्त शङ्ख, भीम ने पौण्ड्र शङ्ख, युधिष्ठिर ने अनन्तविजय शङ्ख, नकुल ने सुघोष शङ्ख, तथा सहदेव ने मणि पुष्पक शंख बजाए। इसी बीच अर्जुन के हृदय में दोनों ही ओर पिता के भाई, पितामह,

आचार्य, मातुल, भ्राता, पुत्र, पौत्र, सखा, श्वसुर, सुहृद आदि को मृत्युमुख में देखकर मोह जग आया और वह विषादयुक्त हो गया। वह शोक संविग्न मानस हो गया और गाण्डीव फेंककर रथ के पिछले हिस्से में बैठ गया। युद्ध तो धरा रह गया और भगवान् कृष्ण व अर्जुन आपसे में सम्वाद करने लग गए। यही कहेगा न ? लेकिन क्या यही गीता है ? वास्तव में यह तो गीता की पूर्व भूमिका है। यह तो गीता के ज्ञान की सरिता के प्रवाह के लिए भूमिका निर्माण भर है। इसी में से गीता का विश्व मानव ज्ञान निसृत हुआ है।

इस विश्व मानव ज्ञान का मैं तो केवल अध्ययन ही कर सकता हूँ। इसका भाष्य अथवा समीक्षा दोनों ही करने का मैं किञ्चित् अधिकारी नहीं हूँ। मैं तो जैसा गीता को पढ़ कर समझ सका वही लिख रहा हूँ और पूछ रहा हूँ, मैं सही तो समझा न ? जहां त्रुटि हो, विद्वान् अधिकारियों से मेरा आग्रह है कि वे मेरी त्रुटि बताएं तथा गीता को सही रूप में जान सकूं इसमें मेरी सहायता करें; इसी लिए यह कृति विद्वान् मनीषियों के हाथों में समर्पित है।

दो

अष्टादश पार्थ-प्रश्न

श्री वेद व्यास ने गीता को कहीं वासुदेव एवं पार्थ का सम्वाद कहा है, तो कहीं केशवार्जुन या कृष्णार्जुन सम्वाद। तीनों का अभिप्राय एक ही है। नीचे उद्धृत श्लोक दृष्टव्य हैं—

> इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
> सम्वादमिममश्रौषमद्भुतं रोम हर्षणम् ॥१८.७४
> राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
> केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥१८.७६

इस सम्वाद को गीताकार ने उपर्युक्त दोनों श्लोकों में ही अद्भुत कहा है। अद्भुत से तात्पर्य है; जैसा पूर्व में नहीं देखा गया हो, सर्वथा नवीन एवं मौलिक। यह विशेषण, कुछ अन्यत्र व्यवहृत विशेषणों से भी समर्थित होता है। जैसे गीताकार ने इसे 'गुह्याद् गुह्यतरं परम योगम्' (१८.६३) तथा 'धर्म्यं सवादमावयोः' (१८.७०) कहा है। जो गुह्याद् गुह्यतर होगा वह निश्चय ही अद्भुत होगा। वैसे तो प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखा गया है 'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे' पर गीता इस कारण से उपनिषत् होते हुए भी अन्य घोषित उपनिषदों से अद्भुत है कि इसमें ब्रह्म के वाचिक भाव का ही विश्लेषण न होकर, उसका व्यावहारिक स्वरूप भी हमारे सामने प्रस्तुत हुआ

है। गीता षड् दर्शनों से भी आगे की कड़ी है। जहाँ षड् दर्शनों में क्षर अक्षर आधारित अव्यय का केवल सोपाधिक निरूपण हुआ है, वहाँ गीता ने अव्यय, अक्षर, क्षर तीनों की विस्तृत व्याख्या के साथ-साथ विशुद्ध अव्यय का विभूतिमयस्वरूप तथा उसकी प्राप्ति का चतुर्विध व्यावहारिक उपाय स्वरूप बुद्धियोग का वैज्ञानिक निरूपण प्रस्तुत किया है। इस कारण यह सर्वथा नूतन, अद्‌भुत एवं आश्चर्यजनक हो गई है। यदि गीताकार इसे 'गुह्याद् गुह्यतर' (१८.६३) 'सर्वगुह्यतम' (१८ ६४) 'परमगुह्यम्' (१८.६८) 'गुह्यम् परम्' (१८.७५) कहते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं है। यह परम गुह्य धर्मयोग साक्षात् योगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन के जिज्ञासा मूलक प्रश्नों के उत्तर में स्वयं अपने श्रीमुख से कहा है। इस कारण भी यह गुह्याद् गुह्यतर परम यौगिक ज्ञान माना जाना चाहिए। देखिए—

व्यास प्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।१८.७५

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गीता, वासुदेव पार्थ कहें या केशवार्जुन या कृष्णार्जुन, इन दोनों महा विभूतियों का सम्वाद है। गीताकार ने इसे यही माना है और दिव्य संजय भी इसे 'सम्वाद' ही कहते हैं। इस तरह गीता को सम्वाद काव्य मानने में कोई आपत्ति शेष नहीं रहती है।

लेकिन हम देखते हैं गीता का प्रारम्भ व अन्त कृष्णार्जुन सम्वाद से न होकर धृतराष्ट्र संजय सम्वाद से होता है। संजय व्यास प्रसाद से प्राप्त दिव्य-दृष्टि से जो कुछ देखता है उसे धृतराष्ट्र से कहता है। धृतराष्ट्र पूछता है, संजय उत्तर देता है। गीता का प्रारम्भ इन्हीं के सम्वाद से होता है। देखिए—

धृतराष्ट्र उवाच

धर्म क्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सव।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।१.१

धृतराष्ट्र ने पूछा—संजय! धर्म क्षेत्र कुरु क्षेत्र में युद्धेच्छा से एकत्र मेरे तथा पाण्डु के पुत्र क्या कर रहे हैं?

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्।१.२

संजय उत्तर देता है, राजा दुर्योधन, पाण्डवों की व्यूहित सेना को देखकर, आचार्य द्रोण के पास जाकर कह रहे हैं....।.........

इस तरह गीता को क्या हम अन्धे धृतराष्ट्र तथा दिव्य-दृष्टि संजय का सम्वाद नहीं कह सकते? गीता के अन्त में भी देख लीजिए। संजय उवाच से लेकर 'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीविजयो भूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम (१८.७८) तक संजय जो कुछ घटित हुआ है उसे तथा अपने स्वयं का मन्तव्य भी धृतराष्ट्र से कहता है। कौन सा संवाद मुख्य है, जिससे गीता का प्रारम्भ और अन्तहुआ, जिसके लिए गीता कही गई वह या मात्र एक दृश्य चित्र जिसे संजय ने देखा और धृतराष्ट्र से कहा—इसी में से गीता की आधार कथा कौन सी और नायक कौन; यह प्रश्न उभर कर सहसा सामने आ जाता है। संजय यदि गीता को कृष्णार्जुन

सम्वाद कहे, तो समझ में आ सकता है; क्यों कि उसने सम्वाद देखा सुना है, पर गीताकार कृष्णार्जुन सम्वाद कहे यह समझ के लिए एक कठिन बात लगती है। बुद्धिजनित ऐसे तर्कों का बहुत सामान्य सा उत्तर है; जो कुछ संजय कह रहा है वह सम्वाद नहीं, कथोपकथन भर है। सम्वाद मात्र कथोपकथन नहीं होता; अपितु वह किसी एक वाद या विचार का सम्यक् विश्लेषण करने के निमित्त विचार के नये-नये आयाम प्रस्तुत करने वाला होता है। इस कारण यदि सम्वाद कोई है तो वह केवल कृष्णार्जुन का। धृतराष्ट्र संजय का तो कथोपकथन भर है। दूसरे, हम देखते हैं, संस्कृत के सभी धार्मिक ग्रन्थों की कथाओं में पञ्चतन्त्र शैली का प्रयोग हुआ है। किसी राजपुत्र को, कोई पण्डित ज्ञान सिखाने के बहाने अनेकानेक आख्यानों की आयोजना करता है। कौन मुख्य हुआ, आख्यान या राजपुत्र का शिक्षण। यही गीता की अपनी एक शैलीगत विशेषता है। गीताकार जो कुछ ज्ञान समाज को देना चाहता है, उससे सम्बन्धित आख्यान ही मुख्य है। धृतराष्ट्र या संजय का कथोपकथन नहीं। इस तरह हम देखते हैं, गीता का लेखन भी शैलीगत विलक्षणता के कारण औध्रृत्य धारण किए हुए है।

इस अद्भुत कृष्णार्जुन संवाद में हमें आद्योपान्त पढ़ने पर अर्जुन के द्वारा पूछे गए १८ प्रश्न मिलते हैं। जिनका भगवान् ने उत्तर दिया है। अठारह प्रश्नों का अठारह अध्यायों से कोई सम्वन्ध नहीं है। अठारह अध्याय हैं अतः १८ प्रश्न हों, ऐसी बात नहीं है। कई अध्यायों में २-२ प्रश्न हैं, ग्यारहवें अध्याय मे तो तीन प्रश्न हैं। कई अध्यायों में कोई प्रश्न ही नहीं है। इसी तरह कई-कई प्रश्नों का उत्तर दो-दो अध्यायों में जाकर समाप्त हुआ है और कहीं एक ही अध्याय में तीन तीन प्रश्नों का उत्तर आ गया है। इसे स्पष्ट करती अध्यायों के साथ-साथ प्रश्नों की तालिका इस प्रकार दी जा सकती है—

अध्याय क्रमांक	प्रश्नों की संख्या	प्रश्न क्रमांक	श्लोक क्रमांक
१	१	१	१।२७ से ४७ तक
२	२	२ व ३	२।४ से ९ तक तथा २।५४
३	२	४-५	३।१-२
४	१	६	४।४
५	१	७	५।१
६	२	८ व ९	६।३३-३४ तथा ६।३७-३८-३९
७	—	—	—
८	१	१०	८।१-२
९	—	—	—
१०	१	११	१०।१२ से १८ तक
११	३	१२-१३-१४	११।१ से ४ तक, ११।३१, तथा ११।४५-४६
१२	१	१५	१२।१
१३	—	—	—
१४	१	१६	१४।२१

अध्याय क्रमांक	प्रश्नों की संख्या	प्रश्न क्रमांक	श्लोक क्रमांक
१५	—	—	—
१६	—	—	—
१७	१	१७	१७।१
१८	१	१८	१८।१

अर्जुन के प्रश्न आध्यात्मिक जिज्ञासा के प्रश्न हैं; जो आध्यात्मिक रहस्यों को खोलते रहने के विविध आयाम स्वयं उपस्थित करते चलते हैं। यह भी एक अद्भुत संयोग है—एक ओर रणस्थल, फिर प्रश्न पर प्रश्न और उत्तर अध्यायों के अध्याय। जैसा हम उपर्युक्त तालिका में देखते हैं। महाभारत के व गीता के सामान्य पाठक में पढ़ते-पढ़ते यही पहला प्रश्न उपस्थित होता है; क्या सचमुच यह सम्वाद कुरुक्षेत्र में, जहाँ आमने-सामने युद्ध सन्नद्ध सेनाएँ खड़ी हैं, शङ्खध्वनियाँ हो रही हैं ऐसा घटित होना सम्भव है? या यह केवल वेदव्यास की मात्र कल्पना है? ऐसे ही प्रसंगों ने महाभारत की ऐतिहासिकता पर कई प्रश्नवाचक लगाए हैं। महाभारत वृहत्तर भारत के सत्युग से द्वापर के अन्त तक के उन सभी सुप्रसिद्ध आख्यानों को अपने में समेटे है जो ऐतिहासिक दृष्टि से कहे, पढ़े व लिखे जाते रहे हों—स्वयं व्यास जी के शब्दों में कहें तो, तब तक का ऐसा कोई प्रसिद्ध ऐतिहासिक आख्यान शेष नहीं रहा है जो महाभारत में समाविष्ट न किया गया हो। महाभारत एक महा इतिहास ग्रन्थ है; पर उसके लेखक अध्यात्म के महान् प्रवाचक हैं। राम कथा लिखी तो वह भी अध्यात्म रामायण के नाम से, कृष्ण चरित लिखा तो वह भी अध्यात्म परक श्रीमद् भागवत के रूप में। वे हर प्रसंग में अपना दार्शनिक ज्ञान विज्ञान देना नहीं चूके हैं। सारी उपमाएँ, रूपक, प्रतीक, दृष्टान्त सब आध्यात्मिक हैं। इसका कारण हम ऊपर कह आए हैं कि महर्षि वेदव्यास ने पूर्व प्रचलित सांख्य निष्ठा एवं कर्म निष्ठा का सुन्दर समन्वय करते हुए षड् दर्शन के क्षेत्र मे आगे बढ़कर ज्ञान, भक्ति एवं कर्म समन्वित अद्भुत समत्व बुद्धियोग का लोक के सम्मुख प्रस्तुतीकरण किया है। उन्होंने मानों ज्ञान का पुनरुत्थान ही नहीं किया है; पूर्व प्रचलित दर्शनों को विशुद्ध अव्ययी मार्ग पर आगे भी बढ़ाया है। श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि विशाल ग्रन्थों में महर्षि अपने द्वारा पुरस्थापित वास्तविक ज्ञान को प्रस्तुत करते क्यों चूकेंगे यह सामान्य सी बात है। अध्यात्म का पुनरुद्धार उनका मुख्य लक्ष्य था। अत: असम्भव या काल्पनिक लगने का भय त्याग महर्षि वेदव्यास ने श्रीमद्भगवद्गीता की गंगा अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ महाभारत में बहाई है। यही उनके ग्रन्थों का काव्य सौष्ठव भी कहा जा सकता है। काव्यकार इतिहास के छोटे से स्फुलिंग को विराट् अग्नि पुञ्ज में परिवर्तित कर देता है। यही उसका कौशल है। महाभारत को महर्षि के ज्ञान एवं काव्य कौशल दोनों का जीवन्त उदाहरण कह सकते हैं।

पहला पार्थ प्रश्न सचमुच प्रश्न नहीं; एक मन:स्थिति का चित्रण है। शब्द अनेक हैं; पर उनमें भाव एक ही है। उनके बोल अनेक हैं, पर राग एक ही है और वह राग है, विषाद राग। एक लम्बा कायरता का तर्कों की पीठ पर सम्मोह की स्याही से लिखा मृत्यु लेख। जिसके उत्तर में १८ अध्यायी लम्बी गीता भगवान् को कहनी पड़ी। अर्जुन को इस विषाद राग को गाने में गीता का आधा

अध्याय लगा। पहले अध्याय के १७वें श्लोक से लेकर ४७वें श्लोक तक लगातार यह राग चलता है। उसी एक राग से निकलकर पृथक्-पृथक् दो प्रश्न हमारे सामने खड़े हो जाते हैं। एक तो युद्ध में सामने खड़े स्वजनों के अपने द्वारा मारे जाने का मोह जनित अश्रेयस्कर पाप का भाव तथा दूसरा कुल नाश से उत्पन्न दोषों की विभीषिका से डर कर दूर भागने के निमित्त मरण एवं भिक्षा को श्रेष्ठ मानने का भाव। दोनों प्रश्नों में से हम पहले का ही विवेचन यहां विस्तार से प्रस्तुत करेंगे। दूसरे प्रश्न के उत्तर से सम्बन्धित लेख हम पृथकशः दे रहे हैं—

(१) मोहजनित आङ्गिक अनुभाव—

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्। १.२७
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्। १.२८
सीदन्ति मम गात्राणि, मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते। १.२९
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः। १.३०

वह कुन्तीपुत्र अर्जुन, अवस्थित उन सभी बन्धुओं को देख परम करुणा के भाव से आविष्ट होकर विषादयुक्त हुआ बोला—हे कृष्ण! युद्ध की इच्छा वाले समुपस्थित स्वजनों को देखकर मेरा शरीर शिथिल हो रहा है। मुख सूख रहा है, शरीर में कम्प हो रहा है तथा रोमाञ्च हो आता है। हाथ से गाण्डीव खिसक रहा है, त्वचा जल रही है, मैं खड़े रहने में भी समर्थ नहीं हूं, मेरा मन घूम रहा है।

इसमें कोई प्रश्न नहीं; विषाद के विभिन्न भाव-अनुभाव एवं संचारियों का ही विवरण यहां प्रस्तुत हुआ है। मानो मनोविज्ञान के ज्ञाता वेदव्यास ने विषाद-शास्त्र प्रस्तुत किया हो। विषाद भाव के आठ अङ्ग प्रदर्शित हुए हैं—(१) देह शिथिल होना (२) मुख सूखना (३) शरीर में कम्पन होना (४) रोमाञ्च होना (५) हाथ से गाण्डीव छूटना (६) त्वचा में जलन होना (७) खड़े रह पाने की स्थिति न होना तथा (८) मन का भ्रमित होना।

(२) क्षोभ जनित विरक्ति—

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे। १.३१
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा। १.३२

हे केशव! मैं स्वजन की हत्या में कोई श्रेय नहीं देखता हूं। निमित्तों को भी विपरीत देखता हूं। हे कृष्ण! न मैं विजय चाहता हूं और न राज्य सुख। हे गोविन्द! हमें राज्य से क्या है और भोग व जीवित रहने से भी क्या है।

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च। १.३३

आचार्या: पितर: पुत्रास्तथैव च पितामहा: ।
मातुला: श्वसुरा: पौत्रा: श्याला: संबन्धिनस्तथा । १.३४
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतो: किं नु महीकृते । १.३५

हम जिनके लिए राज्य, भोग और सुख की इच्छा करते हैं वे ही प्राणों एवं धन की आशा त्याग युद्ध में खड़े हैं। आचार्य, पितर, पुत्र, पितामह, मातुल, श्वसुर, पौत्र, साले और सम्बन्धी इन्हें मैं, मुझे मार देने पर भी, अथवा पृथिवी के लिये तो क्या त्रैलोक्य के राज्य के लिए भी मारना नहीं चाहता।

यहां मन:स्थिति के साथ साथ पहला प्रश्न भी प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। यह विरक्ति, विषाद का ही परिणाम है जो स्वाभाविक है। प्रश्न है गुरुजनों व बंधुओं को मारना क्या श्रेयस्कर है? और अपने इसी प्रश्न की पुष्टि में अर्जुन कई तर्क प्रस्तुत करता है—

तर्क—(१) पाप का भय—

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिन: स्याम माधव । १.३७
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतस:
कुलक्षयकृतं दोषं, मित्रद्रोहे च पातकम् । १.३८
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यता: । १.४५

अत: हम अपने बंधु धार्तराष्ट्रों को मारने योग्य नहीं हैं। हे माधव, हम स्वजन को मार कर निश्चय ही किस प्रकार सुख प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि लोभ से अपहृत चित्त वाले कुल क्षय से उत्पन्न इन दोषों तथा मित्र से द्रोह करने से इस पाप को नहीं देखते है। अहो, हम महान् पाप करने को उद्यत हैं और राज्य सुख के लोभ से स्वजनों को मारने को ही उद्यत हो रहे हैं।

कुल क्षय कृतदोष वाले प्रश्न को श्लोक १.४०-४१-४२-४३-४४ में और अधिक विस्तार दिया है अत: हम इस विषय को पृथक् लेख के रूप में दे रहे हैं। अत: यहां इतना ही लिखना पर्याप्त है।

(३) जीत हार का अनिश्चय—

न चैतद्विद्म: कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयु: ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिता: प्रमुखे धार्तराष्ट्रा: । २.६

और न हम यह जानते हैं कि हमारे लिए क्या करना श्रेष्ठ है, हम यह भी नही जानते कि इस युद्ध में हम जीतेंगे या हमें वे जीतेंगे। जिन्हें मार कर हम नहीं जीना चाहते, वे प्रमुख धार्तराष्ट्र सामने खड़े हैं।

तर्कों की दीर्घ पदावली प्रस्तुत करते-करते महाभट धनुर्धर अर्जुन ऐसी पापमयी दोषपूर्ण स्थिति से मृत्यु वरण करना श्रेयस्कर समझते हुए कहता है—

(४) पलायन का भाव—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणय:
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् । १.४६

यदि मुझ अप्रतिकारी अशस्त्री को ये धृतराष्ट्र के शस्त्रधारी पुत्र युद्ध मे मार भी देते है तो मेरे लिए यह कल्याणकारक ही होगा।

अर्जुन के इतने लम्बे चौडे प्रश्न का, उसके ढेर सारे सन्देहो का—मन के गहन विषाद का, केवल दो श्लोकों मे ही भगवान् उत्तर देते हैं और वह भी बडी कडी भाषा मे। वे अर्जुन को धिक्कारते हुए युद्ध के लिए खड़ा होने को कहते हैं। देखिए—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्
अनार्य जुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन। २.२
क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप। २.३

अर्जुन, युद्ध स्थल की इस विषम परिस्थिति मे तुझमे यह अज्ञान कैसे समुत्थित हो गया। यह तो अनार्य जुष्ट (भोग्य) अस्वर्ग्य तथा अकीर्तिकर है। अतः पार्थ, तू क्लीवता को प्राप्त न हो। यह तेरे लिए शोभनीय नही है। हे परतप, हृदय की क्षुद्र दुर्बलता त्याग, युद्ध के लिए खड़ा हो। लेकिन इस पर भी अर्जुन क मन को सन्तोष नही होता। उसका पलायन का भाव भिक्षा भाव मे परिणत हो जाता है अर्थात् और गहन हो जाता है। वह दूसरा प्रश्न करते हुए कहता है।

दूसरा प्रश्न—

(५) भिक्षा का भाव—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन। २.४
गुरुनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थ कामांस्तु गुरुनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिर प्रदिग्धान्। २ ५

हे अरिसूदन, हे मधुसूदन, मैं कैसे युद्ध मे भीष्म द्रोण जैसे पूजनीयो के प्रति बाण साधूंगा क्योकि गुरुजनों को मारकर मैं इस लोक मे रुधिर से सने हुए अर्थ व काम रूप भोगो को ही भोगूंगा। इन्हे मारने की अपेक्षा मेरे लिए भिक्षा वृत्ति करके जीना अधिक श्रेयस्कर है।

और अन्त में अर्जुन मे वेदव्यास अपनी आकांक्षा के अनुसार कहलाते है। जिसके उत्तर मे ही सारा आध्यात्मिक दर्शन का भवन खड़ा हुआ है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्य सुराणामपि चाधिपत्यम्। २ ८
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयं स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। २.७

भूमि पर निष्कटक धनधान्य सम्पन्न राज्य तथा देवताओ पर आधिपत्य कर लेने मे भी मैं इस इन्द्रियो का उत्शोषण कर रहे इस शोक को दूर करने का कोई उपाय नही देख रहा हूँ। अतः मैं कार्पण्यदोषोपहत स्वभाव वाला, धर्म के सम्बन्ध मे मोहित चित्त हुआ आपसे पूछ रहा हूँ। आप जो सुनिश्चय एवं श्रेयस्कर हो वह मेरे प्रति कहे। मैं आपका शिष्य आपकी शरण हूँ। मुझे ज्ञान दीजिए।

यही दूसरा प्रश्न है, जिसका उत्तर गीता मे शेष सभी अध्याय है। लेकिन

ये दोनों प्रश्न अलग-अलग होकर भी एक ही हैं। इन दोनों प्रश्नों में पहला है, मोह जनित विषाद, जानने की इच्छा। तथा दूसरा इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर करने का धर्मसम्मत उपाय। पहले प्रश्न ने अर्जुन के हृदय में विरक्ति जगाई और भगवान् के मन में क्रोध। क्रोध में अधिक नहीं बोला जाता अतः भगवान् ने केवल दो ही श्लोक कहे और वे भी कठोर शब्दावली में। दूसरे प्रश्न ने अर्जुन के हृदय में युद्ध करने की स्थिति में शोक को दूर करने के उपाय जानने की जिज्ञासा जगाई, तो भगवान् के मन में ज्ञान देने की उत्सुकता। जिज्ञासा संक्षेप में कही जाती है अतः अर्जुन ने २-३ श्लोक में अपनी बात समाप्त कर दी लेकिन भगवान् ने पूरी गीता ही कह डाली। संक्षेप में अर्जुन के पहले प्रश्न के उपप्रश्नों को इस प्रकार अंकित कर सकते हैं

(१) आचार्यों एवं सगे सम्बन्धियों को मारने से उत्पन्न पाप का भय।

(२) सभी स्वजनों को मार कर प्राप्त रक्तप्रदग्ध राज्य, भोग, सुख एवं देवाधिपत्य से भी क्या लाभ ?

(३) युद्ध जन्य वर्ण संकरता दोष।

दूसरे प्रश्न को इस प्रकार अंकित कर सकते हैं:—

(१) युद्ध ही करना पड़ा तो उपर्युक्त दोषों से मुक्ति के क्या उपाय है ?

सचमुच में भगवान् ने इन दोनों ही प्रश्नों का उत्तर एक साथ दिया है। वैसे उन्होंने भी उत्तर दो ही प्रकार से दिया है। पहला उत्तर ज्ञानप्रधान है और दूसरा उत्तर क्षात्रधर्मप्रधान। ज्ञानप्रकरण २.११ से २.३० तक लगातार चलता है। जिसमे इन्द्रिय सुख की क्षण भंगुरता तथा आत्मा की अमरता प्रदर्शित है। सदसत् विवेचन, तथा शरीर एवं आत्मा का भेद निरूपण मुख्य है। क्षात्रधर्म का विषय २.३१ से २.३८ तक बराबर चलता है। क्षात्रधर्म विवेचन सही माने में पहले प्रश्न का उत्तर है, सद् असद् विवेचन दूसरे प्रश्न का उत्तर है। पर वेदव्यास में, जैसा हम लिख चुके हैं, अध्यात्म के प्रति अति उत्साह है। अतः उन्होंने उसे प्रथम और क्षात्रधर्म को तत्पश्चात् लिया। दोनों ही उत्तर विस्तार की अपेक्षा रखते हैं अतः पृथक्-पृथक् अध्यायों में हम इन्हें निरूपित करेंगे।

अर्जुन का तीसरा प्रश्न है—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ? २.५४

इस प्रश्न में स्थितप्रज्ञ, समाधिस्थ तथा स्थितधी तीन भिन्न शब्द बुद्धि योग के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। स्थितधी का अर्थ है—अन्य बाह्य विषयों से हटकर बुद्धि एकमेव अव्यय परमात्मा में स्थित हो जाये वह स्थिति। समाधिस्थ स्थिति है, स्थितधी की निरन्तरता, एकतानता, निर्वातदीपशिखा सी अकम्प स्थिति और जो ऐसी स्थिति को प्राप्त कर ले वह स्थितप्रज्ञ। इस तरह से अर्जुन ने इन तीनों स्थितियों को एक ही प्रश्न में पूछ लिया जो क्रमागत ऊँचाई की ओर अग्रसर है।

भगवान् पहले श्लोक २.५५ से ५८ तक इनकी परिभाषाएं देते हैं। फिर २.६०-६१ तथा ६७-६८ में इन्द्रियों की सबलता का विश्लेषण करते हैं, फिर २.६२ से ६५ तक विषयों के ध्यान को ही सब रोगों की जड़ बताते हैं फिर २.७०-७१ में दो श्लोकों में शान्ति की चर्चा करते हुए अन्त में २.७२ में मृत्यु उपरान्त भी

ब्रह्म निर्वाण प्राप्ति बताते हैं। अर्जुन के दोनों प्रश्नों का ज्ञान एवं कर्मनिष्ठा का विश्लेषण करते हुए भगवान् बड़ा सटीक उत्तर दे देते हैं। लेकिन भ्रमित मन का दो तरह की बातों में और भ्रमित हो जाना स्वाभाविक है अतः अर्जुन आगे चौथा प्रश्न करता है, भगवान् ज्ञान एवं कर्म में कौनसा एक श्रेयस्कर है मुझे तो आप अभी बतायें। आप ज्ञान को श्रेष्ठ बताते हैं तो फिर मुझे युद्ध जैसे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं। देखिए—

चौथा प्रश्न—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव । ३.१
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् । ३.२

हे जनार्दन, यदि आपके मत से कर्मयोग से बुद्धियोग श्रेष्ठ है तो मुझे केशव ! घोर कर्म में क्यों नियोजित कर रहे हैं ? प्रश्न बड़ा सार्थक है तथा कर्म के पक्ष को उद्घाटित कराने वाला है। तीसर प्रश्न के उत्तर में ज्ञान पर उद्घाटित हो चुका है। कर्म पर उद्घाटित होना शेष है अतः चौथे प्रश्न का उत्तर कर्मपक्ष का व्याख्यात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए भगवान् कर्म पक्ष को उद्घाटित करते हैं।

भगवान् सर्वप्रथम उनके द्वारा पुरातन काल में बताई हुई दो प्रकार की निष्ठाओं का श्लोक ३.३ में उल्लेख करते हैं। सांख्य ज्ञानियों की ज्ञानयोग रूपी तथा योगियों की कर्मयोग रूपी निष्ठा। लेकिन भगवान् को ज्ञान की नहीं कर्म की व्याख्या करनी है। अतः वे तुरन्त अगले श्लोक में ही कर्म की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए अगले श्लोकों में कर्म का स्वरूप तथा प्राणिमात्र से उसका सम्बन्ध बताते हैं। श्लोक ३.६ में भगवान् उन लोगों की भर्त्सना करते हैं जो मन को अवरुद्ध किए बिना शरीर कर्मों के त्याग की बात करते हैं। उन्हें वे मिथ्याचारी कहते हैं। श्लोक ३.८ में अकर्म से कर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं। यहां से कर्म कैसे करें यह ज्ञान प्रारम्भ हो जाता है (१) अनासक्ति भाव (३.९ से १९ तक), कर्म गुण से होते हैं (३.२७ से ३५ तक), सब कर्म प्रभु को समर्पित हों (३.३०), इस तरह आत्मरती को फिर कोई काम नहीं होना। फिर न उसके करने या न करने का कोई अर्थ होता (२.१७ से १९,, उदाहरण जनका-दिकों का (३.२०), श्रेष्ठ लोगों के आचरण का ही अन्य अनुकरण करते हैं (३.२१), अवतारी पुरुष को कुछ नहीं करना होता (३.२२, २२-२४) वे केवल लोक संग्रह के लिए कार्य करते है। (३.२५-२६)। इस तरह श्लोक ३.३ से ३.३५ तक भगवान् कर्म योग का ज्ञान अर्जुन को देते हैं।

अर्जुन सारे ज्ञान को ध्यानपूर्वक सुनता है। इतना श्रेष्ठ ज्ञान जानते हुए भी मनुष्य किन कारणों से, किसकी प्रेरणा से न चाहते हुए भी बलत्कार की भांति पाप कर्मों में नियोजित हो जाता है ? वह पूछता है—

पांचवा प्रश्न—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः । ३.३६

भगवान् इसके उत्तर में रजो गुण से उत्पन्न काम एवं क्रोध को जो महा अशन, महापापी, दुष्पूर तथा मनुष्य मात्र के लिए नित्य वैरी है, तथा इन्द्रिय मन बुद्धि में निवास करते हैं;इसके कारण रूप बताते हैं श्लोक (३.३८-३९-४०), और आगे चलकर वे इन्द्रिय निग्रह तथा आत्मज्ञान के बल पर इन दोनों शत्रुओं को मारने की शिक्षा देते हैं (३.४१-४२-४३)। अर्जुन को विश्वास एवं ढाढस बंधाने के लिए वे उनके बार बार अवतार लेकर इस ज्ञान को मनुष्य मात्र को देने की बात करते हैं, कर्मयोग का इतिहास बताते हैं कि विवस्वान से लेकर राजर्षिगण तक को कैसे मिला (४.१-२) वे इतना भी कहते हैं कि यह बुद्धि योग कुछ समय से पृथ्वी से लोप हो गया था उसके पुनर्जागरण के लिए मैंने यह तुझ से कहा है। (४.३)

प्रच्छन्न रूप से वेदव्यास यहां कहना चाहते हैं कि गीता वर्णित बुद्धियोग विलुप्तप्राय था। उन्होंने ही इसका पुनरोद्धार किया है। इसी नाते गीता सर्वथा नवीन वास्तविक ज्ञान दृष्टि लिए है। अतः अन्य दर्शनग्रंथों की अपेक्षा वरेण्य है।

भगवान् जब विवस्वान को सर्वप्रथम इस ज्ञान को देने की बात कहते हैं तो अर्जुन के मन में सन्देह होता है कि विवस्वान के काल मे आप वहां कैसे हो सकते हैं? यह स्वाभाविक भी है। गीताकार को अवतारवाद की स्थापना भी इस माध्यम से बतानी है। यही उनका अभीष्ट भी है। अतः अर्जुन से प्रश्न करवाते हैं-

छठा प्रश्न—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति। ४.४

आपका जन्म तो बाद का है, विवस्वान का जन्म पहले हुआ है अतः आप ने कल्पादि में विवस्वान को यह ज्ञान दिया, यह मैं कैसे जानूं?

भगवान् लौकिक बहुजन्मवाद का तथा ईश्वरीय अवतारवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए अवतार के हेतुओं का तथा अवतारी जन्म की दिव्यता का निरूपण करते हैं (३.५ से ९ तक तथा ३.१३ से १५ तक)। इसके साथ ही भगवान् एक ओर बड़ी बात कहते हैं कि लौकिक जन्म वाले भी राग भय क्रोध से रहित होकर यदि मेरी शरण में अनन्यभाव से स्थित हो जावें तो मेरे इस दिव्य स्वरूप को अर्थात् भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा पूर्व में कर भी चुके हैं—इस तरह आत्मा एवं परमात्मा के अभेदत्व को दिग्दर्शित किया है (श्लोक ४.१०)। आगे भगवान् परमात्मा तथा देवता का भेदत्व दिखाते हुए कहते हैं कि जो मुझे छोड़कर देवताओं की उपासना करते हुए कर्म सिद्धि चाहते हैं, उन्हें कर्मणा सिद्धि इस मनुष्य लोक में प्राप्त होती है। मेरे दर्शन नहीं होते वह मेरे स्वरूप को प्राप्त नहीं होते (४.१२)। इसके पश्चात् भगवान् विषयान्तर होने की चिन्ता न करते हुए, अर्जुन को युद्धरत कराने हेतु कर्म, अकर्म एवं विकर्म का विस्तार से विश्लेषण करते हुए मुक्त पुरुष के कर्म (४.१९ से २३), यज्ञ कर्म के विविध रूप (४.२४ से ३३), ज्ञान की श्रेष्ठता व परमात्मा प्राप्ति उपायों (४.३३ से ३९ तक) का निरूपण करते हैं। इस वर्णन में कर्म समास एवं कर्म योग दोनों ही पक्षों का भगवान् दिग्दर्शन कराते हुए निष्काम कर्म योग की प्रशंसा करते हैं। तो अर्जुन फिर उलझन में पड़ जाता है और भगवान् से कर्म संन्यास एव कर्म योग

में श्रेष्ठ कौन है, ऐसा प्रश्न करता है। यह प्रश्न नया नहीं है। ठीक वैसा ही प्रश्न है जैसा अर्जुन का चौथा प्रश्न (३.१-२) है।

सातवां प्रश्न —

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्। ५.१

चौथा प्रश्न देखिए—

ज्यायसी चेतकर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्। ३.१-२

दोनों में भागवत समानता दृष्टव्य है। पर एक अन्तर दिखाई देता है। चौथे प्रश्न में भगवान कर्म योग से बुद्धि योग को श्रेष्ठ बताते हैं। सातवें प्रश्न में कर्म संन्यास एवं कर्म योग दोनों की बारी बारी से प्रशंसा करते हैं। हां, समानता एक बात में है वह है अर्जुन का एक निश्चित श्रेय मार्ग जानना। भगवान् चौथे प्रश्न के उत्तर में भी निष्काम कर्म योग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते है तो इस प्रश्न के उतर में भी योगी को ही श्रेष्ठ ठहराते हैं। (५.२ से ६.३२)। इस उत्तर में अधिकता यही है कि भगवान् संन्यासी के लक्षण (५ ३) कह कर संन्यास व योग दोनों को एक ही बताते है। (५ ४-५-६.२)। वे कर्मयोगी की प्रशंसा (५.७ मे १२ तक) स्वभाव ही कर्म कहकर करते हैं (५.१४) फिर वे ज्ञान की प्रशंसा (५.१६ से २९) करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि विना संन्यास के योगी नही हो सकता (६.२); लेकिन संन्यासी को योगी रूप होना आवश्यक मानते हैं। (६.४) योगी का अर्थ समझाते हुए (६.७ से ३१ तक) योगक्रिया (६.१० से २६ तक) बताते हैं। अपने को ही अपना शत्र और अपना मित्र कहते हैं (५.६)। इस तरह पूरे छठे अध्याय मे योग का निरूपण हुआ है। कर्म सन्यास एव निष्काम कर्म योग दोनों नि.श्रेयस्कारी हैं फिर भी कर्म संन्यास से कर्म योग विशिष्ट है। (५.२) न तो कर्मो के अनारम्भ से, न कर्मो के सम्पूर्ण त्याग से नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होती है। (३.४) केवल निष्काम कर्म योग ही नैष्कर्म्य सिद्धि का प्रदाता है।

भगवान् के इस उत्तर को सुनकर अर्जुन को फिर सन्देह होता है कि मन तो चंचल है यह स्थिर कैसे हो सकता है। तो वह प्रश्न करता है—

आठवां प्रश्न—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चल त्वात्स्थितिं स्थिराम्। ६.३३

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्। ६ ३४

मन चंचल है, प्रमाथी है बलवान है, वायु की तरह इसका निग्रह कठिन है। ऐसी स्थिति में ध्यान मे भी मैं अधिक देर तक मन को स्थिर हुआ नहीं देखता हूं। अर्जुन के इस प्रश्न पर वासुदेव कृष्ण कहते हैं कि यह सही है। मन चंचल है, दुर्निग्रही है लेकिन अभ्यास से यह अवश्य वैराग्य को प्राप्त हो जाता है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते । ६.३५

भगवान् के उत्तर से अर्जुन पहली बार सन्तुष्ट हुआ लगता है। इसीलिए वह अगला प्रश्न मन की चंचलता से सम्बन्धित नहीं कर योग को स्वीकारते हुए पूछता है, हे कृष्ण ! योग में लगा मन यदि बाद में चलायमान हो जाये, योग पथ से भटक जाये तो फिर उसकी क्या गति होती है ? क्या वह इस लोक व परलोक के सुख से चला तो नहीं जाता ? प्रश्न यह बताने के लिए है कि योग की जो उपलब्धि है वह नष्ट नहीं होती है। साधक जब दुबारा यत्न करेगा तो उस स्थिति को तत्काल प्राप्त कर वहां से ही आगे बढ़ेगा। इस तरह यह प्रश्न प्रकारान्तर से योग की महत्ता ही प्रतिपादित करता है। अर्जुन का मूल प्रश्न देखिए—

नवां प्रश्न—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलित मानसः
अप्राप्य योग संसिद्धि कां गतिं कृष्ण गच्छति । ६.३७

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढ़ ब्रह्मणः पथि । ६.३८

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता व ह्युपपद्यते । ६.३९

भगवान् इस का उत्तर देते हैं—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति । ६.४०

ऐसे विचलित योगी का न तो इस लोक में न परलोक मे विनाश होता है। क्योंकि कल्याणकारी कृत्य करने वाले की कहीं दुर्गति नहीं है। ऐसे लोग पुण्यकृत लोकों में रहकर पुण्य क्षीण होने पर श्रीमंत गृहों में जन्म लेते हैं। (६.४१), या योगी कुल में दुर्लभ जन्म को पाते हैं। (६.४२) अनेक जन्मों के प्रयत्नों से परागति होती है। (६ ४५) इतना उत्तर देने के पश्चात् भगवान स्वयं ही योग के महत्व पर आ जाते हैं। योगी की प्रशंसा करते हैं। (६ ४३ ७.१) इसके पश्चात् स्वय ही ज्ञान के वैज्ञानिक पक्ष पर आ जाते है। सविज्ञान ज्ञान (७.४ से ७ तक) विभूति (७.८ से १२) जगत् '७.१३) माया (७.१४) भक्ति (७.१६) ज्ञानी प्रियता (६.१७ से १९) अज्ञानीभूत पूजक की भर्त्सना (६.२६ का अधिभूत, अधिदेव, अधियज्ञ पर आ जाते हैं। ६.२९) जो प्रभु की शरणागति होकर जन्म मरण के चक्कर में मोक्ष की कामना करते हैं, उस हेतु योग यत्न करते हैं वे ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा सम्पूर्ण कर्म को जान जाते हैं - और जो पुरुष अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ सहित उस परम पुरुष को जान जाते है, वे अन्तकाल में भी मुझे ही प्राप्त होते हैं—भगवान् ने ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधि दैव तथा अधियज्ञ जैसे ६ नये शब्द कहे तो अर्जुन का अगला प्रश्न करना आवश्यक था ही। वह पूछता है—

दसवां प्रश्न—

किं तद्ब्रह्म, किमध्यात्मं, किं कर्म पुरुषोत्तम
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते । ८.१

तब भगवान् दो श्लोकों में ही अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हैं—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः ।८.३
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।८.४

अर्थात् परम अक्षर तो ब्रह्म है। उसके आत्मरूप में उत्पन्न होने के स्वभाव को अध्यात्म कहते हैं तथा प्राणिमात्र में जिन कार्यों से भावों की उत्पत्ति एवं विसर्ग होता है, वे कर्म हैं, जो नाशवान् है वह अधिभूत है, जो जीवरूप पुरुष है वह अधिदेव है तथा अधियज्ञ देह रूप में, सगुण रूप में या अवतार रूप में अवतरित परम ब्रह्म है। (८.३-४)। इस ज्ञान को ही उत्तम पवित्र राजगुह्य राजविद्या कहा है। इस उत्तर के साथ ही पूरा आठवां अध्याय योगाभ्यासी मृत्युकाल में कैसा आचरण करें, इस ज्ञान से आपूर्ण है। इस प्रश्न के साथ इस उत्तर को जोड़ना समीचीन नहीं लगता; पर भगवान् ने पहले योग कहा फिर योगभ्रष्ट की स्थिति कही तो योगी की मरण अवस्था का ज्ञान वे कैसे नहीं बताते। कब आवर्तन होता है, कब अनावर्तन ८.२३ से २७ तक) यह बताते हुए भगवान् परमात्मतत्त्वक का महत्त्व बताते हैं (८ २८)। यहां से वापस भगवान् ज्ञान-विज्ञान पर आ जाते हैं। जो अध्याय ७ का विषय है। लगता है सातवें अध्याय में जो शेष रह गया था उसे यहां पूर्ण किया है। भगवान् स्वयं ही अपनी शक्तियों का प्रवचन करते हुए अपने विविध भावों का वर्णन करते हैं। (१०.४-५) इसी के साथ भावमयी भक्ति भावना बताते हैं (१०.८ से ११ तक)। जिसे सुनकर अर्जुन स्तम्भित हो जाता है। वह प्रश्न नहीं करता। विस्तार के साथ भगवान् अर्जुन को विश्वास दिला देते हैं कि अधियज्ञ रूप में मैं विभूति सम्पन्न परम पुरुष ही हूँ। अर्जुन योगेश्वर के वचनों पर विश्वास करता हुआ मान लेता है कि आप ही परम ब्रह्म हैं, परम धाम भी आप ही हैं, आप ही परम पवित्र पुरुष, शाश्वत दिव्य आदि देव, अज और विभु हैं। क्योंकि आपको सारे ऋषि, देवर्षि, नारद, असित देवता और व्यास और स्वयं आप भी ऐसा ही कहते हैं। इसलिए हे केशव ! जो कुछ आप कह रहे हैं उसे मैं सत्य मान लेता हूँ क्योंकि आपके इस व्यक्तित्व को न तो देवता जानते हैं न दानव। अतः आप ही जो सब कुछ कह पाने में समर्थ हैं विस्तार के साथ अपनी योग की विभूतियों को कहिए। आपके अमृत वचनों को सुनने की लालसा तृप्ति होती ही नहीं है।

अर्जुन के सन्देहजनित प्रश्न तो समाप्त हो जाते हैं। उसकी विभूति एवं स्वरूप दर्शन की लालसा उत्कट हो जाती है। सचमुच में यह भी वैसे तो संशय के निवारणार्थ तथा भक्ति-भाव के सुदृढ़ीकरण के लिए प्रकारान्तर से आवश्यक प्रश्न ही है। यह सीधा प्रश्न न होकर विनम्र याचना के कलेवर में लिपटा प्रश्न है। देखिए—

ग्यारहवां प्रश्न—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।१०.१२
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।१०.१३
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ।१०.१४
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।१०.१८

आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं। क्योंकि आपको सब ऋषिगण, सनातन दिव्य पुरुष, देवों का भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद, असित देवता तथा आप स्वयं श्री व्यास भी मेरे लिए कहते हैं। हे जनार्दन! आप अपनी विभूतियों को विस्तार में कहिए क्योंकि आपके अमृत वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है। इस पर भगवान् विस्तार से अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए अन्त में कहते हैं—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप
एषतूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।१०.४०
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ।१०.४१
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।१०.४२

हे परतप! मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अन्त नही है। इसी कारण मैंने उन्हें संक्षेप में कहा है। जो-जो भी विभूतियुक्त, ऐश्वर्ययुक्त, कान्ति-शान्तियुक्त है उसे तू मेरे ही तेजांश से उत्पन्न जान। तुझे अधिक जानने से प्रयोजन भी क्या है? इतना जान ले कि मैं सम्पूर्ण सृष्टि को अपनी शक्ति के एक अश से धारण किए हूँ। यह हुआ अर्जुन के ग्यारहवीं जिज्ञासा का उत्तर; लेकिन वह जिज्ञासा अब कब शान्त होने वाली थी। अर्जुन ने कहा—हे परमेश्वर! जैसा आप कह रहे हैं वह सब ठीक है; पर मौखिक कथन की अपेक्षा मैं आपके ऐश्वर्ययुक्त रूप के साक्षात् दर्शन करना चाहता हूँ। यहां भी जिज्ञासा ही बोल रही है। जिज्ञासा स्पष्ट है। यह भी एक प्रश्न भरी जिज्ञासा है। आध्यात्मिक उपदेश से मोह नष्ट हो गया है। भूतों की उत्पत्ति, प्रलय तथा प्रभु का अविनाशी प्रभाव वह सुन चुका है। सुनने के स्थान पर अब साकार रूप में प्रत्यक्ष देखने की लालसा है। यही लालसा ही प्रश्न रूप बन गई है।

बारहवां प्रश्न—

एवमेतद्यथात्थ त्वामात्मानं परमेश्वर
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।११.३

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।११.४

तब भगवान् भी उसकी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए अपना विराट् रूप दिखाने को प्रस्तुत हो जाते हैं। यहां योगसिद्ध पुरुष की शक्तियों का यह अप्रस्तुत प्रकटीकरण है। अर्थात् जो योगी हो जाता है उसके लिए भूत, भविष्यत्, वर्तमान अगोचर नहीं है। अखिल सृष्टि जो बाहर है वह देह के भीतर है। सारी सृष्टि के निर्माण में पुरुष की आत्मशक्ति समर्थ है। कई एक प्रश्नों का उत्तर इस विराट् रूप प्रदर्शन से हल होकर, संशयी बुद्धि अनिश्चय की डगमगाहट से हटकर निश्चयात्मक की व्यवसायात्मिक बुद्धि हो जाती है। सामान्य चक्षुओं से वह विराट् दर्शन सम्भव नहीं था। अतः भगवान् महायोगेश्वर हरि उसे दिव्य चक्षु प्रदान करते हैं तथा अपना परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप बताते हैं।

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।११.९ तथा
(११.१०-११.१२-१३)

इस विराट् रूप दर्शन में अर्जुन 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेतायुयुत्सव' समस्त सेनानायकों को करालकाल के जबड़ों मे फँसते हुए देखता है। उसे विश्वास हो जाता है कि कौरव सेनापति सभी मृत्यु के ग्रास होने वाले हैं। अर्जुन उस रूप को देखकर स्तम्भित रह जाता है और भक्तिभाव से भगवान् की प्रार्थना करने लगता है। (११.१८ से ३१ तक)। प्रार्थना के बाद वह जानना चाहता है आप उग्र रूप वाले कौन हैं ? प्रश्न करता है—

तेरहवां प्रश्न

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।११.३१

मुझे कहें श्रीमान् उग्र रूप वाले कौन हैं ? मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता हूँ, मैं आपको तत्त्व से जानना चाहता हूँ। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। देववर ! मुझ पर प्रसन्न होइए। अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—'कालोऽस्मि' (११.३२) मैं काल हूँ। अतः उठो, यश लाभ करो। शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य का उपभोग करो। ये सब मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। हे सव्यसाचिन् ! तुम केवल निमित्त मात्र बन जाओ।
(११.३३-३४)

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्य समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।११.३३

इससे अधिक स्पष्ट उत्तर और क्या दिया जा सकता था। किसी को भी विजय का आश्वासन देने के लिए यह पर्याप्त है। प्रारम्भ में ही अर्जुन को संशय हुआ था, 'हम जीतेंगे यह हारेंगे यह भी निश्चित नहीं है' उसी का यह उत्तर है।

'मया हतांस्त्वं जहि, मा व्यथिष्ठा, युध्यस्व, जेतासि रणे सपत्नान् ।' (११.३४) । एक बार फिर विश्वास दिलाया । अर्जुन के लिए बद्धाञ्जलि प्रणिपात करने के और क्या शेष रह गया था । नहीं, एक बात और रह गई थी । विराट् रूप के दर्शन से भय जो जग गया था, उसे शान्त स्वरूप में व्यक्त करना था । शास्त्रों में चतुर्भुज रूप का वर्णन मिलता है । ईश्वर साक्षात् चतुर्भुज शङ्ख, चक्र, गदाधारी हैं इसलिए जब तक वह रूप नहीं देख ले पूर्ण आश्वस्त कैसे हो, फिर योग की शक्ति की पूर्णता भी कैसे प्रकट हो ? कृष्ण पूर्णावतार हैं यह भी कैसे लगे ? इन सब के लिए चतुर्भुज रूप की प्रस्तुति भी आवश्यक थी । शास्त्र से लेकर प्रत्यक्ष यौगिक चमत्कार तक की कड़ी जुड़ जाए, लोक मानस में बैठे हुए चतुर्भुज रूप की सार्थकता सिद्ध हो जाए इसलिए वह रूप दिखाना आवश्यक था । अर्जुन ने चतुर्भुज रूप देखने की उत्कण्ठा प्रकट की ।

चौदहवां प्रश्न—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ।११.४५

पूर्व अदेखे आपके विराट् रूप को पहली बार देखकर एक ओर जहां हर्षित हो रहा हूँ वहां दूसरी ओर भय से मन प्रव्यथित भी हो रहा है । इसलिए हे जगन्निवास देवेश, प्रसन्न होकर मुझे वही देवरूप अर्थात् चतुर्भुज रूप दिखाइए ।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।११.४६

मैं सिर पर मुकुट तथा हाथों में गदा व चक्र देखना चाहता हूँ । इसलिए आप अपना चतुर्भुज रूप दिखाइए । भगवान् ने चतुर्भुज रूप दिखाया । जिससे अर्जुन शान्तचित्त हुआ अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त हो गया । अब अर्जुन क्या प्रश्न करे ? वह अपनी यथास्थिति को प्राप्त हो गया; लेकिन अर्जुन के मन के सन्देहों की कड़ी समाप्त कहां होती है । वह फिर आगे बढ़ती है । अर्जुन कहता है—

पन्द्रहवां प्रश्न —

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा: ।१२.१

हे मनमोहन ! जो भक्त आपके इस परमात्म रूप की उपासना करते हैं और दूसरे जो उस अक्षर अव्यक्त आत्मा की उपासना करते हैं उन दोनों प्रकार के भक्तों में उत्तम योगवेत्ता कौन है ? तब भगवान् अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता: ।१२.२
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्
अव्यक्ता हि गतिर्दु:ख देहवद्भिरवाप्यते ।१२.५

अव्यक्त परमात्मा की अपेक्षा जो मुझ अव्यय परमात्मा का ध्यान करते हैं वे योगियों में भी अति उत्तम हैं । क्योंकि अव्यक्त अक्षर कूटस्थ आत्मा की उपासना

क्लेश साध्य है। क्योंकि देह वालों को अव्यक्त की गति दुःखपूर्वक ही प्राप्त होती है। भगवान् ने विस्तार से प्रकृति के इस प्रसङ्ग को बताते हुए कहा है कि जो भक्त मुझे प्राप्त करना चाहता है उसे प्रकृतिजात तीनों गुणों से ऊपर उठने की आवश्यकता है। पहले गुणातीत होना आवश्यक है। वे प्रभु दर्शन के विविध उपाय ध्यान (१२.६.७-८) योगाभ्यास (१२.९) कर्म परायणता (१२.१०) सर्व कर्म फल त्याग (१२.११-१२) बताते हुए योगी की गरिमा, प्रतिष्ठा तथा महत्त्व बताते हैं। (१२.१३ से १९ तक) इसी प्रकरण में भगवान् क्षेम क्षेमज्ञ (आत्मा) का ज्ञान कहते हैं। अव्यक्त अक्षर को क्षर से पृथक् बताने के भाव से स्वयमेव ही भगवान् विस्तार से इसका निरूपण करते हैं। इसी सन्दर्भ में ज्ञान ज्ञेय, प्रकृति, विकार, गुण, स्थावर, जङ्गम का सारा विज्ञान बता देते हैं। (१३.१ से ३० तक) तथा चौदहवें अध्याय में गुणों के प्रभाव का वर्णन करते हुए, गुणों से परे परमात्मा को जानने के लिए कहते हैं—इस तरह हम देखते हैं तेरहवें अध्याय में क्षेम का और चौदहवें में गुणों का विस्तार से वर्णन हुआ है। इसी पर अर्जुन ने गुणातीत के सम्बन्ध में प्रश्न किया—

सोलहवां प्रश्न—

> कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
> किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।१४.२१

जो त्रिगुणातीत हो जाता है उसके क्या-क्या लक्षण होते हैं? उसका आचार कैसा होता है और वह किन उपायों से तीनों गुणों से अतीत होता है? तब भगवान् उत्तर देते हैं—प्रकाश, प्रवृत्ति एवं मोह (ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया) ये तीनों सत्, रज व तम के कार्य हैं। जो न तो इन गुण-धर्मों में प्रवृत्त होना बुरा समझता है, न जो निवृत्त होने की आकांक्षा करता है। प्रत्येक कर्म में तीनों गुण वर्त रहे हैं ऐसा समझकर जो उदासीन भाव से रहता हुआ विचलित नहीं होता तथा सम बना रहता है वही गुणातीत है। जो प्रभु की अव्यभिचारी भक्ति से सेवा करता है वह गुणों के प्रभाव को पार कर ब्रह्म रूप को प्राप्त होता है। यह उत्तर मुक्त पुरुष से सम्बन्धित है। पहले गुणातीत का श्लोक १४.२२ से २६ तक वर्णन करते हैं। अपने विविध नाम बताते हैं। (१४.२७) भगवान् गुणों की व्याख्या में ही अपने उत्तर को आगे बढाते हुए पन्द्रहवें अध्याय में संसार वृक्ष का वर्णन करते हुए कहते है कि ईश्वर को तत्त्ववेत्ता ऊर्ध्वमूल एव अधः शाखो वाला अश्वत्थ वृक्ष कहते हैं। (१५.१-२-३-४) इसकी ऊपर नीचे फैली शाखाएँ कर्म बन्धन में बांधने वाली है। इसे असङ्ग शस्त्र से ही काटा जा सकता है। (१५.३ से ६ तक) भगवान् इस वर्णन के साथ ही क्षर की दैवी व आसुरी सम्पदा आचार का विवेचन करते हुए कहते है—

> अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्
> दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।१६.२
>
> तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता
> भवन्ति सपदं दैवीमभिजातस्य भारत।१६.३

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः
काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।१६.२१
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।१६ २४

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, दया, अलोलुप्य, मार्दव, ह्री, अचापल्य, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, नातिमानिता अभिजात वर्ग की दैवी सम्पदा है। इनका आचरण करना चाहिए। काम, क्रोध व लोभ तीनों नरक के द्वार हैं अत: त्याज्य हैं। शास्त्रों मे कर्म का जो विधान है उसी के अनुसार कर्म करना चाहिए। इस उत्तर को सुनकर अर्जुन प्रश्न करता है कि जो व्यक्ति कर्म तो शास्त्रोक्त विधि से नहीं करता पर श्रद्धान्वित है, उसकी निष्ठा को सत्, रज, तम में से किसमें आप रखेंगे। यह प्रश्न उसी भांति का है जैसा योग भ्रष्ट लिए पहले पूछा गया है।

सत्रहवां प्रश्न—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विता: ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तम: ।१७.१

भगवान् अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि श्रद्धा तीन प्रकार की होती है। सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी। अपने सत्त्व के अनुरूप ही सबकी श्रद्धा होती है और जिसकी जैसी श्रद्धा है वह भी वैसा ही है। यह वास्तव में मूल प्रश्न का उत्तर नहीं है। मूल प्रश्न का उत्तर तो श्लोक १७.५-६ मे आता है। फिर भगवान् आहार, यज्ञ, तप, दान के तीन प्रकार बताते हैं। (१७.७ से २२ तक) ॐ तत्सत् का प्रयोग समझाते है। (१७.२३ से २७ तक) फिर श्रद्धा से किए यज्ञ तप, दान का अलाभ बताते है। (१७.२८) इस तरह अर्जुन के सभी संशयात्मक प्रश्न तो समाप्त हो जाते है; लेकिन जिस सन्यास एवं कर्मफल त्याग की बात पहले आ चुकी थी उसे तत्त्वत: जानने हेतु अठारहवां एवं अन्तिम प्रश्न करता है। यह प्रश्न अध्याय १ से ६ तक व १८वें अध्याय को मिलाते हुए एक स्वतन्त्र प्रश्न है। गुणों के १४वें अध्याय के साथ इसे पढना चाहिए।

अठारहवां प्रश्न —

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।१८.१

हे महाबाहु हृषीकेश केशिनीसूदन कृष्ण ! मैं संन्यास के एवं त्याग के तत्त्व को पृथक् जानना चाहता हूँ। यहा अर्जुन ने भगवान् कृष्ण के लिए महाबाहु शब्द का प्रयोग किया है जब कि अन्यत्र कृष्ण यह सम्बोधन अर्जुन के लिए प्रयोग करते रहे हैं। पहले वाले प्रश्नो मे कर्म, सन्यास एवं निष्काम कर्मयोग का विवेचन आ चुका है। इस प्रश्न मे कर्म संन्यास के साथ-साथ कर्मफल त्याग की बात जोड़कर प्रश्न किया है। निष्काम मे कर्म की आसक्ति का अभाव ध्वनित होता है। जब कि कर्मफल त्याग में कर्म करते हुए फल की आसक्ति का अभाव ध्वनित होता है। कर्मासक्ति एवं कर्मफलासक्ति तत्त्वत: इस तरह भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यदि इसका समाधान नही होता है तो गीता का ज्ञान अधूरा रह जाता है। अत:

अर्जुन से वेदव्यास जी ने यह प्रश्न करवाया है। भगवान् इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं—

काम्यानां कर्मणा न्यास संन्यासं कवयो विदु:
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणां: ।१८.२

यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।१८.५

नियतस्य तु संन्यास: कर्मणो नोपपद्यते ।१८.७
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगंत्यक्त्वा फलं चैव स त्याग: सात्त्विको मत: ।१८.९

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! कामना प्रभूत कर्मों के न्यास अर्थात् त्याग को कविगण से, न्यास के नाम से जानते हैं और कर्मों के फल के त्याग को विचक्षणीजन त्याग कहते हैं। यज्ञ, दान, तप, कर्म त्यागने योग्य नहीं है क्योंकि ये मनीपियों को पवित्र करने वाले हैं। जो नियत कर्म को संन्यास भाव से करता है उसके लिए कोई कर्म करने योग्य नहीं रहता। जो नियत कर्म हैं उन्हें जो फल का त्याग करके करते हैं वही सात्त्विक त्याग है। इस तरह भगवान् ने संन्यास व त्याग की परिभापा बताते हुए नित्य कर्मों को अत्याज्य बताया है। कर्मफल त्रिविध होता है। संन्यासियों को नहीं होता। कर्म सिद्धि के पांच हेतु हैं। (१८.१३-१४) ज्ञान ज्ञेय परिज्ञाता, ज्ञान कर्म कर्त्ता का भेद समझाया है। गुण स्वभावानुसार चातुर्वण्यं समझाया। इसकी विस्तार से परानिष्ठा बताई। (१८.५० से ६३ तक) इतने पर भी अर्जुन ने हाँ का उत्तर नहीं दिया तो भगवान् उससे कहते हैं मेरी शरण में आ जा। (१८.६४ से ६९ तक) अर्जुन तब आत्म-समर्पण करते हुए यही कहता है, जैसा कहोगे वैसा करूँगा। (१८.७३) अब प्रश्न कैसा? यही प्रश्न समाप्त हो जाते हैं। □

तीन

तीस कृष्णादेश

गीता का प्रकट हेतु 'युद्धाय कृत निश्चय' है। इस अध्याय में निष्कर्पात्मक निर्देश की प्रस्तुति से पूर्व 'तस्माद्' शब्द का प्रयोग किया गया है। इन्हें हम अध्यायानुसार एक एक कर लेते हैं। प्रथम अध्याय में तो ऐसा कोई निष्कर्पात्मक आदेश नही है। दूसरे अध्याय में सर्वाधिक आदेश मिलते हैं। देखिये—

१ क्लैब्यं मा स्म गम: पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप। २.३

शब्दार्थ—हे अर्जुन, क्लीवता को प्राप्त मत हो। यह तेरे लिये योग्य नहीं है। हे परंतप, हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्याग, खड़ा हो।

भगवान् का यह आदेशात्मक अभिवचन, गीता के प्रथम अध्याय के श्लोक २८ से ४७ तक मोहग्रस्त अर्जुन की जो कायरता आचार्यों के प्रति समादरयुक्त श्रद्धा, तथा संहार जनित शोक संकुलता प्रकट हुई थी, उस संदर्भ में अभिव्यक्त हुआ है। इस अभिवचन में वैसे तो दो आदेश हैं, (१) क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ (२) क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त (३) उत्तिष्ठ परंतप। लेकिन यदि गहराई से देखे तो प्रथम व द्वितीय निर्देश तीसरे की पूर्णता या विशिष्टता हैं। निष्कर्षात्मक आदेश तो 'उत्तिष्ठ' ही है।

२ मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत। २.१४

शब्दार्थ—हे कौन्तेय, सर्दी गर्मी और सुख दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के सयोग तो क्षणभंगुर और अनित्य है; इसलिए हे भारत, उनको तू सहन कर।

भगवान् का यह आदेशात्मक अभिवचन, गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक चौथे से आठवें तक प्रति संशय प्रकट करते हुए स्व कर्त्तव्य पूछने पर अभिव्यक्त हुआ है। इसका निष्कर्ष शब्द है 'तितिक्षस्व'। द्वन्द्वात्मक स्पर्शादि तन्मात्राएँ क्षणभंगुर एवं अनित्य हैं; अतः इन्हें हर्ष और विषाद जैसी भी स्थिति हो, सहना चाहिए। गीता पलायन का संगीत नहीं; प्रवृत्ति का महाघोष है। दुःख को सहो, सुख को भोगो। किसी से न भागो। तितिक्षस्व तितिक्षस्व, यही भगवान् का आदेश है।

३ अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताःशरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत। २.१८

शब्दार्थ – नाश रहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर अन्तवन्त कहे गए हैं; इसलिए हे भारत, युद्ध कर।

भगवान् का यह आदेशात्मक अभिवचन, अर्जुन को युद्ध प्रवृत्त करने हेतु, आत्मा व परमात्मा के अनाशित्व तथा मात्र देहों के विनाशत्व को प्रकट करने के हेतु अभिव्यक्त हुआ है। इसका घोषादेश है 'युध्यस्व'। नाशवान शरीरों के नाश पर कैसी चिन्ता। लड़ो।

४ हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः। २.३७

शब्दार्थ—या तो मर कर स्वर्ग को प्राप्त होवेगा, अथवा जीतकर पृथ्वी को भोगेगा, अतः हे कौन्तेय, युद्धार्थ निश्चय वाला होकर, खड़ा हो।

भगवान् के इस आदेशात्मक अभिवचन की पृष्ठभूमि में दूसरे अध्याय के श्लोक ३१ से प्रारम्भ क्षात्र धर्म विवेचन प्रमुख है। और वह भी पलायन के संदर्भ में सहज मिलने वाली अपकीर्ति, निन्दा आदि को लेकर। इस आदेश का घोष-

वाक्य भी 'उत्तिष्ठ' ही है। लेकिन यह उत्तिष्ठ शब्द 'युद्धाय कृत निश्चय' के साथ है। जबकि पहले का उत्तिष्ठ हृदय की क्षुद्र दुर्बलता व क्लीवता को त्यागने के निमित्त है।

५ सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि। २.३८

शब्दार्थ—सुख दुःख, लाभ हानि और जय पराजय को समान समझकर फिर युद्ध के लिये तैयार हो इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को प्राप्त नहीं होगा।

यह आदेश सच में चौथे आदेश का पूरक होकर आया है। भगवान् यह विचारते हैं कि अर्जुन को विजय व मृत्यु दोनों का लाभ तो बता दिया; पर नर सहार के पाप का प्रतिकार तो बताया ही नहीं, तो इस श्लोक में समत्व बुद्धि योग का ज्ञान जो भौतिक कर्म सिद्धि के लिए एक आवश्यक अनिवार्यता है, बताते हैं। वैसे इस का आदेश वाक्य 'युद्धाय युज्यस्व' है; पर इसमें युद्ध करने की प्रक्रिया दर्शायी है।

६ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥२.४५

शब्दार्थ—हे अर्जुन, वेदों में तीनों ही गुणों के विषयों का उल्लेख है। इसलिये तू निस्त्रैगुण्य निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम तथा आत्मपरायण हो।

इस श्लोक के माध्यम से भगवान् ने युद्ध के लिये प्रवृत्त होने से पूर्व अर्जुन को, युद्ध कर्म का पाप न लगे, अतः कुछ निर्देश दिये हैं। मूल घोष 'निस्त्रैगुण्यो भव' कह सकते हैं। वैसे निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम व आत्मवान होना भी कम महत्वपूर्ण नही है। ये भी आदेशात्मक शब्द हैं ही।

७ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥२.४७

शब्दार्थ—तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार होवे, फल में कभी नही। तू कर्म के फल की वासना वाला भी मत हो। तेरी कर्म न करने में भी प्रीति न हो।

गीता का यह एक महत्त्वपूर्ण श्लोक है। सच में इस श्लोक में गीता का मूल कथ्य आ गया है। मनुष्य का अधिकार कर्म करना है कर्म-फल की इच्छा करना नहीं। इसी बात को और स्पष्टता इससे मिलती है जब भगवान् दूसरी पंक्ति में कहते हैं—मनुष्य को कर्मफल की वासना वाला अथवा अकर्म की स्थिति मे जीने वाला दोनों नही होना चाहिए।

यह श्लोक अनेक निर्देशों का पुञ्ज हो गया है। व्यापक दृष्टि से देखें तो चार निर्देश स्पष्ट दिखाई देते है (१) कर्मण्येवाधिकारस्ते (२) मा फलेषु कदाचन (३) मा कर्मफल हेतु-र्भूः तथा (४) मा ते संगोऽस्त्यकर्मणि। और सीमित परिप्रेक्ष्य मे विचारें तो एक ही उद्घोष सभी को समेटे लगेगा वह है 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'।

८ योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥२.४८

शब्दार्थ—हे धनञ्जय, आसक्ति को त्याग तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर, योग में स्थित हुआ कर्मो को कर। समत्व भाव ही योग नाम से कहा जाता है।

यहाँ भगवान् ने समत्व के लिए नया शब्द प्रयोग किया है—योग। 'योगस्थः कुरु कर्माणि।' समत्व का सिद्धान्त वे पांचवें उद्धरण में ही अभिव्यक्त कर चुके हैं। लेकिन भगवान् को समत्व प्रिय है अतः उसे पुनः उल्लिखित किया है। यही नहीं समत्व को ही योग कहा है। निर्देश रूप में 'योगस्थः कुरु कर्माणि' को कह सकते हैं। योगस्थ अर्थात् समत्व बुद्धि योग में स्थित होकर।

९ दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।२.४९

शब्दार्थ—बुद्धि योग से किये हुए कर्मो के अतिरिक्त अन्य कर्म अत्यन्त तुच्छ हैं। अतः समत्व बुद्धि योग का आश्रय ग्रहण कर। फल की कामना वाले अत्यन्त दीन होते हैं।

समत्व बुद्धि योग और फल की कामना परस्पर विरोधी है ऐसा भाव स्पष्ट हुआ। जहां समत्व रूप योग सिद्ध हो गया तो फिर कर्म करते समय फल की स्पृहा शेष नहीं रहती। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह समत्व में जिये। कर्म-फल की वासना को भगवान् ने अतीव हेय बताया है। इस श्लोक का इस तरह निर्देशित अभिवचन सिद्ध हुआ 'बुद्धौशरणमन्विच्छ'। वैसे यह घोष आठवें का ही पर्याय या पूरक या यों कहें पुष्टि कर्त्ता है। बुद्धि योग की शरण को ग्रहण करो।

१० बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।२.५०

शब्दार्थ—समत्व बुद्धि युक्त पुरुष (कर्म करता हुआ भी) पुण्य पाप दोनों को इस लोक में ही त्याग देता है। अतः योग के लिए चेष्टा कर। योग कर्मो में कुशलता है।

इस निर्देश का मूल स्वर 'योगाय युज्यस्व' है। गीता में योग शब्द बुद्धि योग के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। समत्व को गीता में योग कहा है और योग को कर्म की कुशलता। इस तरह समत्व बुद्धि से किया हुआ कर्म ही कुशलता से किया हुआ कर्म है।

गीता में श्लोक २.४७, २.४८, २.४९ व २.५० परस्पर जुड़े हुए हैं। इसी कारण लगातार निर्देश पर निर्देश होकर भी एक ही भाव की अभिव्यक्ति हुई दिखती है। यदि यह कहूँ कि इन चारों की निष्पत्ति 'योगाय युज्यस्व' में हुई है तो अन्यथा न होगा। पहले वाले तीनों एक तरह से योग की व्याख्या करते है।

११ नि तं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ।३.८

शब्दार्थ—तू नियत किए हुए कर्म को कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा, कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।

अब तक ऊपर बताया था; कर्म कैसे करें। अब यहां भगवान् बता रहे हैं कौन से कर्म करें। इस तरह इस निर्देश का प्रमुख स्वर है 'नियतं कुरु कर्म त्व'। नियत कर्म को गीता में अध्याय सत्रह एवं अठारह में अधिक व्यापक रूप से व्याख्यायित किया है। गुण, कर्म, स्वाभावानुसार कर्म को वहां स्वधर्मयुक्त कर्म कहा है। भगवान् ने मनुष्य जीवन को गुण कर्म स्वाभावानुसार चार वर्णों में विभक्त किया है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र कर्म को उसका स्वभावज कर्म कहा है और उसे ही नियत कर्म कहा है। इसे ही स्वधर्म भी कहा है। यही बात शास्त्रों ने कही है। अतः कुछ विद्वानों ने इसे शास्त्रविहित कर्म कहा है; लेकिन शास्त्र शब्द के आते ही वेद का कर्मकाण्ड भी जुड़ जाता है जो गीताकार को व भगवान् को अभीष्ट नहीं है। वैदिक कर्मकाण्ड स्वभावज नहीं, शास्त्रज या यों कहें अनुभव जन्य कर्म विधान है जो मनुष्य को लौकिक जगत् में अभ्युदय तथा परलोक में सुरेन्द्रलोक को दिलाने वाला है।

१२ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।३.९

शब्दार्थ—यज्ञ के निमित्त किए हुए कर्म के सिवाय अन्य कर्म करने पर मनुष्य कर्मो द्वारा (जन्म-मृत्यु जरा के दुःखों में) बँधता है; इसलिए हे कौन्तेय, आसक्ति रहित होकर उस यज्ञ के निमित्त कर्म का भली भांति आचरण कर।

यहां समष्टि के सन्दर्भ में कर्म को यज्ञ रूप होना आवश्यक कहा है। ग्यारहवें उद्धरण में जो नियत कर्म है वह व्यष्टि के सन्दर्भ मे है। व्यक्ति अपने लिए नियत कर्म को करे। सामाजिक स्तर पर वह आसक्ति रहित हो, परमार्थ रूपी यज्ञ के लिए कर्म करे। स्वार्थगत और परमार्थगत कर्मो का इस तरह इन दोनों उद्धरणों में उल्लेख आ गया। इसका आदेशात्मक वाक्य हुआ यज्ञार्थ मुक्त संग कर्म समाचर।

१३ मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यास्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।३.३०

शब्दार्थ—अध्यात्मनिष्ठ चित्त से सम्पूर्ण कर्मो को मुझ में संत्रस्त कर, फलाशा और अपनेपन से रहित होकर; (मोह) ज्वर को त्याग युद्ध कर।

इस श्लोक मे भगवान् ने निर्देश शब्द के रूप में तो कहा 'युद्धस्व' पर कर्त्ता की दृष्टि से कहा आध्यात्मिक चित्त से सम्पूर्ण कर्म परमात्मा को समर्पित करते हुए कर्म से फलाशा और मैं कर्त्ता हूँ यह कर्त्तापन का भाव निकालकर तथा सारे सम्मोहों के ज्वर से मुक्त होकर फिर युद्ध कर ऐसा निर्देश दिया है। स्वार्थ, परार्थ के बाद कर्मो को ईश्वर समर्पित कर पूर्ण करना यह नई तीसरी बात है। ऐसा करने से कर्म बन्धनकारी नही होते। इस तरह पूरा श्लोक ही एक महा-निर्देश है।

१४ तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।३.४१

शब्दार्थ— अत: हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके, ज्ञान और विज्ञान के नाश करने वाले इस काम नाम पापी को निश्चयपूर्वक मार ।

यहां काम व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । फल की आशा तथा ममत्व भी काम ही है । वासनाओं के पर्याय के रूप में काम शब्द का प्रयोग किया है । कामनाएँ जहां हैं वही बन्धन हैं । बिना किसी कामना के अपने लिए नियत कर्म, पर के लिए यज्ञ कर्म तथा सारे ही कर्मों को ईश्वरार्पण करते हुए करो । जब तक इन्द्रियां संयमित नहीं हैं तब तक यह ज्ञान विज्ञान का नाशी काम नहीं जीता जा सकता । अत:- 'इन्द्रिण्यादौ नियम्य पाप्मानं प्रजहि' यह इस श्लोक का घोष-वाक्य है ।

१५ एवं बुद्धे: परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।३.४३

शब्दार्थ—इस प्रकार बुद्धि से श्रेष्ठ जो शरीरस्थ आत्मा है उस अपनी आत्मा को जानकर तथा वश में करके हे महाबाहु अर्जुन ! इस दुर्जय कामरूप शत्रु को मार ।

भगवान् ने काम को मारने के लिए पहले तो बताया इन्द्रियों का संयमन और अब कहा आत्मजयी होकर दुर्जय काम को मार । इस श्लोक मे भी वही निर्देश है जो ऊपर वाले का था, पर वह इन्द्रिय संयम को लेकर था और यहां आत्मस्थ होने की बात है । घोष - जहि शत्रुं कामरूप दुरासदम् ।

१६ तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मन: ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।४.४२

शब्दार्थ—अत: हे भारत ! समत्व बुद्धि रूप योग मे स्थित होकर, अज्ञान से उत्पन्न अपने इस हृदयस्थ संशय का ज्ञानरूपी तलवार से छेदन कर युद्ध के लिए खडा हो ।

'उत्तिष्ठ' यद्यपि इसका निर्देश शब्द कह सकते है पर 'योगमातिष्ठ' भी कम महत्त्व नही रखता है । दोनो ही आदेश भगवान् ने अर्जुन के कहे हैं; लेकिन योग मे सिद्धता क्यो ले ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् कहते है ज्ञानरूपी तलवार मे संशयो को छिन्न-भिन्न करने के लिए । संशयो का छेदन ज्ञान ही कर सकता है । यह सिद्ध हुआ । साथ ही योग के लिए सशयहीनता की स्थिति आना आवश्यक है । सशय अज्ञान की उपज है । युद्ध के लिए दो बातें यहां स्पष्ट हुई दिखती है (१) समत्व बुद्धि योग की स्थिति तथा (२) ज्ञान की तलवार से समस्त हृदयस्थ सशयों का निराकरण । तभी युद्ध करना चाहिए । संशयरहित एवं योगस्थ होकर युद्ध करो ।

१७ तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक: ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।६.४६

शब्दार्थ—योगी तपस्वियो से श्रेष्ठ है, ज्ञानियो से भी श्रेष्ठ माना गया है और कर्म करने वालो से भी श्रेष्ठ है अत: हे अर्जुन ! तू समत्व बुद्धि योगी हो ।

'तस्माद्योगी भवार्जुन' भगवान् का अर्जुन के लिए यह स्पष्ट निर्देश है। योगी होकर युद्ध कर यही गीता का अर्जुन के लिए आदेश है।

१८ तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।८.७

शब्दार्थ—इसीलिए सारे समय में मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। मेरे मे अर्पित मन बुद्धि से युक्त हुआ निस्सन्देह मेरे को ही प्राप्त होगा।

यहां भगवान् ने युद्ध के साथ-साथ यह भी विश्वास दिलाया कि सब कर्मो को मन बुद्धि से प्रभु अर्पित कर तथा निरन्तर उस प्रभु का ही स्मरण करते हुए यदि युद्ध करेगा तो निस्सन्देह अन्तकाल में उस परमात्मा को ही प्राप्त होगा। योगस्थ कर्म करने के परिणामस्वरूप यह उपलब्धि मूलक बात भगवान् ने कही है। इस श्लोक का निर्देश वाक्य है 'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'। परमात्मा का स्मरण और युद्ध दोनों की संगति ही मानों गीता की गीति है। गीता इस तरह भाग्यवादी या नियतिवादी नहीं है अपितु कर्मवादी है। बस एक ही शर्त है ईश्वर को मत भूलो, उसका अनुसरण करते रहो।

१९ नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।८.२७

शब्दार्थ—हे पार्थ! इन दोनों (कृष्ण एवं शुक्ल) मार्गो को तत्त्व से जानता हुआ कोई भी योगी विमोहित नहीं होता है। इसलिए हे अर्जुन! तू सब काल में समत्व बुद्धि योग से युक्त हो।

इस श्लोक का घोष वाक्य है 'सर्वेषु कालेषु योग युक्तो भव'। भगवान् ने गीता में स्थान-स्थान पर योगी होकर जीवन यापन करने का निर्देश दिया है और योगी का अर्थ कर्म रहित होकर जीना नहीं कहा है। भगवान् ने अकर्म से कर्म को श्रेष्ठ बताया है। अकर्म में आसक्ति रहितता की बात कही है। कर्म का संदेश गीता का संदेश है पर वह वैदिक कर्मकाण्ड कतई नहीं है। इंद्रिय निग्रह, समत्व बुद्धि, यज्ञ कर्म, प्रभु समर्पित मन बुद्धि से कर्म तथा निरन्तर नियत कर्म करते हुए प्रभु स्मरण यह आवश्यक है। साथ ही शुक्ल व कृष्ण गति का ज्ञान भी अन्तकाल के लिए आवश्यक है।

२० मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।।९.३४ या १८.६५

शब्दार्थ—मेरे में मन वाला, मेरा भक्त और मेरा ही पूजन करने वाला होकर मुझे ही नमस्कार करता हुआ यदि इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्मा को मुझ से जोड़ेगा तो मेरे को ही प्राप्त होगा।

यहां भगवान् ने उसे, जिसने सम्पूर्णता से एकमेव उस सच्चिदानन्द, आनंदघन, परमात्मा से ही आत्मा को जोड़ लिया है विश्वास दिलाया है कि वह अन्तकाल में परमात्मा को ही प्राप्त होगा। 'मन्मना भव····मां नमस्कुरु' यह इस श्लोक का निर्देश वाक्य है।

२१ तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।।११.३३

शब्दार्थ—अतः खड़ा हो। यश लाभ कर। शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य को भोग। ये सब शूरवीर पहले से ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाची निमित्त मात्र बन।

भगवान् ने विराट् रूप दिखाकर तथा विभूति ज्ञान कराकर अर्जुन को विश्वास बँधा दिया कि कृष्ण साक्षात् परमात्म स्वरूप है तथा विपक्षी शत्रु सारे पहले से ही उसके द्वारा मारे हुए हैं। इतना ही नहीं अर्जुन के प्रश्न पर भगवान् ने स्पष्ट कहा कि मैं लोकों का नाश करने वाला काल हूँ और इस समय लोको को नष्ट करने के लिए ही प्रवृत्त हुआ हूँ। अतः तू केवल इन्हें मारने हेतु निमित्त मात्र बन। इस श्लोक का घोष वाक्य 'निमित्तमात्रं भव'। यहां न कर्म की बात है न योग की और न प्रभु भक्ति की। अपितु युद्ध के लिए सन्नद्ध होने का निर्देश है।

२२ द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।।११.३४

शब्दार्थ—द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, जयद्रथ, कर्ण तथा और भी बहुत से मेरे द्वारा मारे हुए वीर योद्धाओं को तू मार। भय मत कर। युद्ध में सभी शत्रुओं को जीतेगा अतः युद्ध कर।

ऊपर के ही क्रम में वही भाव, विजय का विश्वास बँधाता चल रहा है। चिन्ता मत कर सब वैरियो को जीतेगा। क्योंकि ये सब मेरे द्वारा पहले ही मार दिए गए हैं। अतः युद्ध कर। 'युध्यस्व' इस श्लोक का घोष वाक्य है।

२३ मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।१२.८

शब्दार्थ—मेरे में मन को लगा और मेरे मे ही बुद्धि को लगा, इसके उपरान्त मुझ में ही निवास करेगा इसमें संशय नहीं।

इस श्लोक का मूल भाव है 'मय्येव मन आधत्स्वमयि बुद्धिं निवेशय।' ईश्वरार्पण भाव से भौतिक कर्मो को स्वभावानुसार करते रहने पर असंदिग्ध रूप से निःश्रेयस ऊर्ध्वता प्राप्त होती है, यही भाव है।

२४ अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ।।१२.९

शब्दार्थ—यदि मन को मेरे में अचल स्थापन करने के लिए समर्थ नहीं है तो हे धनञ्जय! अभ्यास रूप योग के द्वारा मेरे को प्राप्त होने के लिए इच्छा कर।

श्लोक २३वे में वर्णित निर्देशो के आचरण में यदि कोई असमर्थ है तो यह निर्देश उसका विकल्प है। अभ्यास योग का आचरण करते हुए प्रभु को प्राप्त करने की इच्छा कर। घोष वाक्य है 'अभ्यासयोगेन मामिच्छाप्तुं।' ध्यान योग की क्रिया अध्याय में विस्तार से बताई है उसका आचरण करने का निर्देश है।

२५ अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।।१२.१०

शब्दार्थ—अभ्यास योग के आचरण में भी यदि असमर्थ है तो मेरे निमित्त कर्म परायण हो । मेरे लिए कर्मों को करता हुआ भी सिद्धि को प्राप्त होगा ।

भगवान् ने योग व अभ्यास योग के बाद तीसरा विकल्प दिया है 'मत्कर्म परमो भव'। यही इस श्लोक का मूल स्वर है। मेरे निमित्त कर्म कर।

२६ अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।। २.११

शब्दार्थ—यदि इसको भी करने में असमर्थ है तो जीते हुए मन से मेरी प्राप्ति रूप योग की शरण हुआ, सब कर्मों के फल का मेरे लिए त्याग कर ।

'सर्व कर्म फल त्यागं कुरु' इस श्लोक का ध्वनि-वाक्य है। भगवान् ने योगत्व न पाने की स्थिति में सामान्य मनुष्यों के लिए यह विकल्प प्रस्तुत किया है। तू कर्म फल का तो त्याग कर दे इतना ही बहुत है। यह बात पहले भी प्रकारान्तर से आ चुकी है।

२७ चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।१८.५७

शब्दार्थ—सब कर्मों को मन से मेरे में अर्पण करके, मेरे परायण हुआ, समत्व रूपी बुद्धि योग का अवलम्बन करके, निरन्तर मेरे में चित्त वाला हो ।

'मच्चित्तः सततं भव' इस श्लोक का घोष वाक्य हैं। इसमें चार योग और अनिवार्यताएँ बताई हैं (१) सर्व कर्माणि मयि संन्यस्य (२) मत्परः (भव) (३) बुद्धि योगमुपाश्रित्य और (४) मच्चित्तः सततं भव ।

२८ तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।१८.६२

शब्दार्थ—हे भारत ! सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो। उस परमात्मा की कृपा से ही परम शान्ति को तथा सनातन परमधाम को प्राप्त होगा ।

'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन' यह इस श्लोक का घोष वाक्य है। यहां एकमेव परमात्मा के अनुस्मरण का ही इंगित है। अन्य देवी देवताओं की ओर नहीं भटकने का निर्देश है।

२९ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।१८.६६

शब्दार्थ—सारे धर्मों को त्यागकर केवल एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो। मैं तुझे सारे पापों से मुक्त कर दूंगा। सोच मत कर ।

भगवान् ने युद्ध जनित पापों के भय का निवारण करने हेतु पहले तो योगस्थ कर्म करने का मार्ग बताया और अब भक्ति योग के आधार पर केवल परमात्मा की शरण प्राप्त हो जाना। सच में इन दोनों मार्गों में कोई अन्तर्विरोध

नहीं है। योग में प्रभुपरायणता तो पहले ही आ चुकी है। प्रभु की शरणागति से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं यह बात इससे निकलती है। सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं व्रज इसका घोष वाक्य है।

३० यदि श्लोक १८.६५ को यहां दुहरायें तो पूरे तीस निर्देश हो जाते हैं। ये तीस अभिवचन गीता के सन्देश को ही अभिव्यक्त करते हैं। यही तीस कृष्णादेश अर्जुन के निमित्त गीता में कहे गये हैं। इन तीसों के पीछे ही यह सिद्ध करना अभिप्रेत है कि इस तरह यदि युद्ध किया गया तो उस युद्ध के नरसंहार का पाप नहीं लगता। परमात्मा ही सब कुछ करने वाला है। मनुष्य तो निमित्तभर है अत: मनुष्य को अपने नियत कर्म को अपने गुण कर्म स्वभावानुसार पूर्ण मनोयोग के साथ बुद्धियोगपूर्वक करना चाहिए। सारे कर्मो को प्रभु समर्पित करते हुए करना चाहिए। निष्कर्ष रूप में एक शब्द गीता के घोष वाक्य के रूप में है—युध्यस्व ! □

चार

फल श्रुति

गीता में परमेश्वर की उपासना एवं प्राप्ति के जितने उपाय सुझाये हैं, गीताकार ने प्रत्येक उपाय की फलश्रुति पृथकश: उसके साथ दी है। गीता में फलश्रुतियों का इतना व्यापक विस्तार है कि उसके मोह जाल में एक बार पाठक फंसा कि फिर उबरना कठिन हो जाता है। गीता में साधना की दृष्टि से ही नहीं, साध्य की दृष्टि से भी परमेश्वर को तत्त्वत: पृथक् पृथक् रूप में जानने पर अलग अलग फल श्रुतियां दी हैं।

हम इन फल श्रुतियों का इस प्रकार विभाजन कर सकते हैं—

१ उपायत:—

अ कर्म योग की फल श्रुति। (बुद्धि योगान्तर्गत एव कर्मफलान्तर्गत)

आ यज्ञार्थ कर्म की फल श्रुति।

इ ज्ञान योग की फल श्रुति।

ई ध्यान योग की फल श्रुति।

तथा उ भक्ति योग की फल श्रुति।

२ तत्त्वत:—

अ अवतार रूप ज्ञान की फल श्रुति।

आ विभूति रूप ज्ञान की फल श्रुति।

इ क्षेत्र क्षेत्रज्ञ सम्बन्ध ज्ञान की फल श्रुति ।
ई प्रकृति पुरुष संयोग ज्ञान की फल श्रुति ।
उ गुणों के तत्त्व ज्ञान की फल श्रुति ।
तथा ऊ परमात्म भक्ति की फल श्रुति ।

एवं ३ अन्य
अ सकाम देव पूजा की फल श्रुति ।
आ शुक्ल व कृष्ण मार्ग की फल श्रुति ।
इ दैवी एवं आसुरी सम्पदा की फल श्रुति ।
तथा ई गीता के प्रचार पठन व श्रवण की फल श्रुति ।

अब हम एक एक कर सम्बन्धित फलश्रुतियों की विवेचना तथा विश्लेषण यहां सोद्धारण प्रस्तुत करते हैं। पहले उपायत:—

(अ) कर्म योग की फल श्रुति—(बुद्धि योगान्तर्गत)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।.२.४०
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योग: कर्मसु कौशलम् ।।२.५०
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिण: ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता: पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।२ ५१
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।२.५२
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।२.५३
विहाय कामान्य: सर्वान्पुमांश्चरति नि:स्पृह: ।
निर्ममोनिरहंकार: स शान्तिमधिगच्छति ।।२.७१
एषा ब्राह्मी स्थिति: पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।२ ७२

इस निष्काम कर्म योग में आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है। प्राप्त से वापस लौटना भी नहीं है। अर्थात् उसका उल्टा फल भी नहीं है। इस धर्म का थोड़ा भी साधन जन्म मृत्यु रूप महान भय से उद्धार करने वाला है। समत्व बुद्धि युक्त पुरुष पुण्य एवं पाप दोनों को इस संसार में ही त्याग देता है। बुद्धि युक्त मनीषी कर्मज फल को त्याग कर जन्म के बंधन से विनिर्मुक्त होकर अनामय पद को प्राप्त होता है। जिस काल में बुद्धि मोह रूपी कर्दम को भलीभांति तर जाती है तब वह श्रवणीय एवं श्रुत निर्वेद को प्राप्त होती है। जब अनेक प्रकार के सिद्धान्तों के सुनने से विचलित व विभ्रमित हुई बुद्धि अचल समाधि में निश्चल होकर स्थापित हो जायेगी तब बुद्धि समत्व रूप योग को प्राप्त होगी। जो मनुष्य

समस्त कामनाओं को छोड़कर निःस्पृह, निर्ममी तथा निरहंकारी होकर कर्म का समाचरण करता है वह शान्ति को प्राप्त होता है। यही ब्राह्मी स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त होकर फिर मनुष्य लोक और कर्म के संग से विमोहित नहीं होता। इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर अन्तकाल में भी वह पुरुष ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है।

ध्यान से देखने पर उपर्युक्त श्लोकों में निरन्तर सिद्धि की अभिवृद्धि और उसके लक्षण दिखाई देंगे। १ बुद्धि योग में अभिक्रम २ बुद्धि युक्तता ३ निर्वेद ४ समाधि योग तथा ५ ब्राह्मी स्थिति। यह पांचों कर्म योग के विकास की सीढ़ियां हैं। बुद्धियोग की पूर्णता ब्राह्मी स्थिति है। इस ब्राह्मी स्थिति में आकर कर्म भी कर्त्ता के लिए अकर्म रूप हो जाते हैं। वह कर्म करता हुआ भी कर्म के दोषों से नहीं बंधता। इसका आगे बहुत ही सुन्दर वर्णन मिलता है—

बुद्धि योग के परिप्रेक्ष्य में—

योगयुक्तोविशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।५ ७
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।।५.१२
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।।६.४०

भगवद्भक्ति के परिप्रेक्ष्य में—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।१२.६
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।१२.८
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।।१३.२३

प्रकृति एवं गुणों के संदर्भ में—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।।१३.२५

श्रुति परायणों के प्रसंग में—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।१३.२७

आत्मा के संबंध में—

समं पश्यन्ति सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परांगतिम् ।।१३.२८

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।।१३.२९
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।१३.३०

कर्मानुसार—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।१८.४५
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्यसिद्धिं विन्दति मानवः ।।१८.४६
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।१८.५६

योग युक्त, विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रिय तथा सम्पूर्ण भूतों में अपनी आत्मा को देखने वाला संसार के सभी कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता है। योग युक्त सांसारिक कर्मों को कर्मफल की कामना त्याग कर करता हुआ नैष्ठिकी शान्ति को प्राप्त होता है। जो योगयुक्त नहीं है वह कर्म फल आसक्त कामना के कारण बंधता है। जो योग युक्त है, उस पुरुष का न तो इस लोक में और न परलोक में नाश होता है, क्योंकि लोक कल्याण के निमित्त कर्म करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है।

जो भक्तजन प्रभु परायण हुए सम्पूर्ण कर्मों को प्रभु अर्पण करके उस प्रभु को ही अनन्य योग से ध्यान करते हुए उपासते हैं ऐसे प्रभु में आवेष्ठित चित्त वालों को वह प्रभु तत्काल मृत्यु रूप इस संसार सागर से उद्धार कर देता है। अतः प्रत्येक को उसी में मन को तथा उसी में बुद्धि को लगाना चाहिए। ऐसा करने से निस्सन्देह वह प्रभु में ही निवास करता है।

जो मनुष्य पुरुष (अक्षर) और गुणों के सहित प्रकृति को तत्त्व से जानता है वह सब प्रकार से सांसारिक जगत् में बहता हुआ भी फिर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता है।

जो ज्ञान, ध्यान एवं निष्काम कर्म योग को नही जानते हैं केवल दूसरों से इनके तत्त्व को सुनते भर हैं और सुनकर उस परम पुरुष की उपासना करते है ऐसे श्रुतिपरायण जन भी मृत्यु रूप संसार सागर को नि सन्देह तर जाते हैं।

जो अविनश्वर परमात्मा को इन समस्त नश्वर चराचर भूतों में समभाव से स्थित देखता है वही सही देखता है। क्योंकि वह जन सबमें सम भाव से स्थित हुए परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने आपको नष्ट नहीं करता है, शरीर के नाश होने पर भी अपने आत्मा का नाश नहीं मानता है इसी कारण वह परागति को प्राप्त होता है। जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किए हुए देखता है अर्थात् इस बात को तत्त्व से समझ लेता है कि प्रकृति से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणों में वर्तते हैं तथा आत्मा को अकर्त्ता देखता है वही सही देखता

है तथा जिस काल में भूतों के अलग-अलग भाव को एक परम आत्मा के संकल्प के आधार पर ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है उस काल में वह ब्रह्म को प्राप्त होता है।

जो मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ कर्म करता है वह भगवत् प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त होता है। वह जिस विधि से अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ परम सिद्धि को प्राप्त होता है वह विधि इस प्रकार है। जिस परमात्मा से सर्व भूतों की उत्पत्ति हुई हैं और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है उस परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है। इस तरह प्रभु परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी प्रभु कृपा से सनातन अविनाशी परम पद को प्राप्त हो जाता है।

(आ) यज्ञार्थ कर्म की फलश्रुति —

ऊपर सभी दृष्टियों से निष्काम कर्म करने की फलश्रुति का वर्णन हमने पढ़ा, अब इसी सन्दर्भ में यज्ञार्थ किए कर्मों की भगवत् प्राप्ति मूल फलश्रुति और देख लें जिससे कर्म प्रकरण पूरा हो सके। गीता में आया है—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते। ४.२३
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।४ २४
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।४.३१
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।४.३२

यज्ञ अर्थात् लोक कल्याणकारी यज्ञों के लिए आचरण करते हुए आसक्ति रहित, मुक्त तथा ज्ञानावस्थित चित्त वाले पुरुष के सम्पूर्ण कर्म-दोष समग्रता से नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्म कर्म में समाधिस्थों के लिए यज्ञार्थ अर्पण, हवि, अग्नि, आहुति सब ब्रह्म रूप है तथा वे भी ब्रह्म को ही प्राप्त होते है। यज्ञ कर्म के परिणामस्वरूप जो अमृत रूप प्राप्तव्य है उसे ही ग्रहण करने वाले कर्मयोगी सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। जो यज्ञ रहित है उनका यह लोक ही नहीं है तो फिर परलोक कैसे हो सकता है।

वेद की वाणी में जो और दूसरे बहुत प्रकार के यज्ञ कहे गए हैं उन्हें शरीर, मन और इन्द्रियों की क्रियाओं द्वारा ही सम्पन्न मानना चाहिए अतः इन्हें आचरित नहीं करना चाहिए। जो इस तत्व को जानते हैं ऐसे निष्काम कर्मयोगी संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

(इ) ज्ञानयोग की फलश्रुति—

इस तरह गीतोक्त निष्काम कर्मयोगान्तर्गत फलश्रुति वर्णित हुई। अब हम ज्ञानयोगान्तर्गत फलश्रुति को लेते हैं। गीता में आया है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा: ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।२.१४
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।२.१५
सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।२.३८
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।।४.३५
अपि चेदसि पापेभ्य: सर्वेभ्य: पापकृत्तम: ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।।४.३६
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्पर: संयतेन्द्रिय: ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।४.३९
इहैव तैर्जित: सर्गो येषां साम्ये स्थितं मन: ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिता: ।।५.१९
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थित: ।।५.२०
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।।५.२१
योऽन्त:सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव य: ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।५.२४
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषय: क्षीणकल्मषा: ।
छिन्नद्वैधा यतात्मान: सर्वभूतहिते रता: ।।५.२५
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।५.२६
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवो: ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।५.२७
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायण: ।
विगतेच्छाभयक्रोधो य: सदा मुक्त एव स: ।।५.२८
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।५.२९
असक्तबुद्धि: सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृह: ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।१८.४९
ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।१८.५४
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत: ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।१८.५५

शीतलता एवं उष्णता तथा सुख दुःख देने वाली स्पर्शादि तन्मात्राओं का संयोग तो क्षरण भंगुर और अनित्य है इसलिए इनको सहन करना चाहिए। सुख-दुःख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रिय विषय संयोग व्याकुल नहीं कर पाते वह मोक्षाधिकारी माना जाता है। जो सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझ कर युद्ध करता है वह युद्ध कर्म करके भी पाप को प्राप्त नहीं होता।

जो इस ज्ञान को जान लेता है वह फिर मोह को कभी प्राप्त नहीं होता। इसी ज्ञान के द्वारा वह आत्मा में सभी भूतों को अशेष रूप से देखता है। इसके उपरान्त परमात्मा को भी देखता है। सब पापियों से भी अधिक पापी ज्ञान रूपी नौका द्वारा निस्सन्देह सम्पूर्ण पापों को अच्छी तरह तर जाता है। जो संयतेन्द्रिय, श्रद्धावान् तथा प्रभु परायण है वह ज्ञान को प्राप्त करके, थोड़ी देर में ही पराशांति को प्राप्त हो जाता है।

जिसका मन समत्व भाव में स्थित है वे इस जीवित अवस्था में ही संसार को जीत लेते हैं। ब्रह्म सदा निर्दोष व सम है इस नाते वे समत्वभावी ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं। स्थिर बुद्धि, असंमूढ, ब्रह्मविद्, ब्रह्म में स्थित रहता हुआ न तो प्रिय वस्तु की प्राप्ति पर प्रहर्षित होता है और न अप्रिय की प्राप्ति पर उद्विग्न। बाहर के तान्मात्रिक स्पर्शादि विषयों से सर्वथा अनासक्त पुरुष, आत्मा में स्थिति कर जो सुख है उसे प्राप्त करता है। ऐसा ब्रह्म योग से युक्त पुरुष अक्षय सुख को भोगता है। जो निश्चित रूप से अन्तः सुखी, अन्तर्यामी, तथा अन्तर्ज्योति वाला है वह ब्रह्म रूप हुआ योगी, अन्तकाल में ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है। क्षीण कल्मष, छिन्न द्विधा, आत्मजयी, तथा सर्वभूत हित में रत ऋषि, ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

बाह्य स्पर्शों को बाहर ही त्यागकर, दृष्टि को भ्रुवों के मध्य स्थित कर, नासिका के अन्दर विचारने वाले प्राण व अप्राण वायु को समान करके, इन्द्रिय मन एवं बुद्धि को जीत, इच्छा भय क्रोध से अतीत होकर जो मोक्ष परायण मुनि रहता है. वह सदा मुक्तवत ही है। वह इस जीवन में ही उम यज्ञ तप भोक्ता, सर्व लोक महेश्वर, सर्वभूत सुहृद परमात्मा को जान शान्ति को प्राप्त होता है।

सर्वत्र असक्त बुद्धि वाला स्पृहारहित जितात्मा, संन्यास योग से परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त होता है। वह ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा, समस्त चराचर भूतों में समभाव से स्थित रहता हुआ, कुछ नहीं सोचता हुआ, न आकांक्षा करता हुआ प्रभु की पराभक्ति को प्राप्त होता है, और उस पराभक्ति के द्वारा वह परमात्मा के तत्त्वतः उसके जो जो विभूतिमय प्रभाव हैं उन्हें तत्त्वतः ही जान, अन्त में उसी में प्रवेश कर जाता है।

(ई) ध्यान योग की फल श्रुति—

> युञ्जन्नेव सदात्मानं योगी नियतमानसः।
> शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥६.१५
> प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
> उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥६.२७

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मष:
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।६.२८
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन: ।।६.२९
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित: ।
सर्वथा वतमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।६.३१
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमो मत: ।।६.३२

ध्यान योग के माध्यम से आत्मा को निरन्तर उस परम पुरुष में लगाये हुए, नियत मानस योगी परमात्मा में स्थिति रूप परम निर्वाण की शांति को यहीं इसी लोक में ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि प्रशान्त मन, शान्तरज तथा ब्रह्म रूप हुआ अकलमष योगी उत्तम सुख को प्राप्त होता है। विगत कलमष योगी सुख से सदा आत्मा को परमात्मा में लगाए हुए ब्रह्म संस्पर्श रूप अत्यन्त सुख को भोगता है। सर्वत्र समदर्शी योगयुक्तात्मा अपनी आत्मा को सम्पूर्ण भूतो में तथा सम्पूर्ण भूतों को अपनी आत्मा में स्थित देखता है। जो सम्पूर्ण भूतों में स्थित हुआ एकीभाव से उस परम पिता को भजता है; वह योगी इस संसार में सर्वथा वर्तता हुआ भी उस प्रभु में ही वर्तता है। जो योगी सबको आत्मवत् मानते हुए, सुख हो अथवा दु:ख हो सर्वत्र समभाव से देखता है वही श्रेष्ठ योगी है।

योगभ्रष्ट के सन्दर्भ में—

जो योग की संसिद्धि को प्राप्त नहीं कर पाते, योगाभ्यास को बीच में ही छोड़ देते हैं उन योगाभ्यासियों के योग प्राप्ति के इस सिद्धान्त से, कि योग में, स्वल्प भी प्रवेश, महत् भय से त्राण करने वाला है तथा उस अभिनिवेश का 'रंच' भी नही है, गीता में विस्तार से फलश्रुति कही गई है। देखिए—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वती: समा: ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।६.४१
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।६.४२
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूय: संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।६.४३
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि स: ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।६.४४
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विष: ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।६.४५

योगभ्रष्ट व्यक्ति पुण्यवानों के लोकों को प्राप्त होता है तथा बहुत काल तक उनमें निवास कर पुन: पवित्र आचरण वाले श्रीमन्तों के घर में अथवा ज्ञानवान् योगियो के कुलों में जन्म लेता है। इस तरह का जन्म भी निस्सन्देह इस

लोक में दुर्लभतर है। इन कुलों में पूर्वदेह के साधन किए योग के प्रभाव से, उसी बुद्धि संयोग को प्राप्त होकर, फिर योगाभ्यास करता हुआ संसिद्धि को प्राप्त होता है। वह उस पूर्व अभ्यास के कारण ही अवश हुआ, योगाभ्यास की ओर आकृष्ट हो जाता है और वह योग का जिज्ञासु धीरे-धीरे शब्द ब्रह्म का अतिवर्तन कर जाता है। इस तरह अनेक जन्मों में सिद्धता अर्जित करते करते, प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला पापमुक्त योगी उस पूर्व प्रभाव से, परागति को प्राप्त होता है।

(उ) भक्तियोग की फलश्रुति—

गीता में जिस भक्ति का उल्लेख है वह भक्त द्वारा अपनी आत्मा को ज्ञान, ध्यान व कर्म योगानुसार समत्व बुद्धियोग से परमात्मा में स्थापित कर उसी के परायण होकर, उसी के निमित्त, उसी को समर्पित कर, फलेच्छा तथा आसक्ति को त्याग कर, लोक संग्रहार्थ लोक हित में रत रहते हुए विदेह जनकादि की भांति उसकी ही उपासना, भजन-कीर्तन आदि में लगा रहता है। गीताकार ने बारहवें अध्याय के भक्ति योग विषय में इन्हीं माध्यमों से भगवत् प्राप्ति की फलश्रुति कही है। देखिए—

ध्यान से भगवत् प्राप्ति—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥१२.८

अभ्यास योग से भगवत् प्राप्ति—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥१२.९

प्रभु अर्पित कर्म से भगवत् प्राप्ति—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१२.१०

कर्म फल त्याग से भगवत् प्राप्ति—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥१२.११

परमात्मा में ही मन को लगाए रखने, परमात्मा में ही बुद्धि को निवेशित किए रहने से तथा परमात्मा में ही निवास किए रहने से, उस ऊर्ध्व पद को प्राप्त करने में कोई संशय नहीं रहता। यदि परमात्मा में चित्त को स्थिरता से समाधिस्थ करने में समर्थ न हो तो उस परमात्मा को अभ्यास योग के द्वारा प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिए। योग के अभ्यास में भी असमर्थ हो तो अपने सम्पूर्ण कर्मों को उसे ही समर्पित कर केवल उसी के निमित्त ही करना चाहिए। ऐसा साधक परमात्मा के निमित्त कर्मों को करता हुआ सिद्धि को प्राप्त कर लेता है और कर्मों के प्रभ्वार्पण में भी अशक्त हो तो उस साधक को प्रभु से योग की आत्यन्तिक कामना के आश्रित होकर सारे किए कर्मों की फलाकांक्षा को त्याग अपने लौकिक कर्मों को करना चाहिए।

इस तरह उपायतः परागति, ब्रह्मनिर्वाण, ऊर्ध्वपद, परमपद, परमधाम

आदि को प्राप्त होने वाली फलश्रुति कही गई।

अब उस परमपिता परमात्मा को तत्त्वत: जानने व पाने हेतु किए यत्नों की फलश्रुति कहते हैं।

(अ) प्रभु के अवतारी रूप के ज्ञान से उत्पन्न फलश्रुति—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत: ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।४.९
न मां कर्माणि लिम्पान्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स वध्यते ।।४.१४

परमात्मा का जन्म एवं उसके कर्म इस संसार में दिव्य रूप होते हैं। जो इस तथ्य को तत्त्वत: जानता है वह देह त्यागने के उपरान्त पुनर्जन्म को प्राप्त न होकर परमात्मा को प्राप्त होता है। इस संसार में परमात्मा की कर्मफल में कोई स्पृहा नहीं होने से, उसके द्वारा किए हुए कर्म उसे नहीं बांधते हैं। इस रूप में जो परमात्मा को जानता है वह भी कर्मो से नहीं बँधता है।

(आ) विभूति रूपों के ज्ञान की फलश्रुति—

एतां विभूति योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वत: ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशय: ।।१०.७
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।१०.१०
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तम: ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।१०.११
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्त: सङ्गवर्जित: ।
निर्वैर: सर्वभूतेषु य: स मामेति पाण्डव: ।।११.५५

जो पुरुष परमात्मा की परमैश्वर्य रूप विभूति को और योगशक्ति को तत्त्व से जानता है, वह पुरुष निश्चल ध्यान योग द्वारा उस परमात्मा में ही एकीभाव से स्थित होता है। ऐसे उन निरन्तर परमात्मा के ध्यान में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को परमात्मा बुद्धि योग रूपी सिद्धि देता है जिससे वे उसे ही प्राप्त होते हैं। उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही परमात्मा स्वयं उनके अन्त:करण में एकीभाव से स्थित हुआ, अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को, प्रकाश रूप ज्ञान दीपक के द्वारा नष्ट करता है। जो परमात्मा के लिए ही कर्म करने वाला, उसी के परायण, उसी का आसक्ति वर्जित भक्त है तथा जो समस्त भूतों में निर्वैर भाव से रहता है वह अनन्य भक्ति वाला पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

(इ) क्षेत्र क्षेत्रज्ञ सम्बन्ध-ज्ञान की फलश्रुति—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासत: ।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।।१३.१८

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।१३.३४

इस तरह क्षेत्र (श्लोक १३.५-६ में विकार सहित क्षेत्र का स्वरूप), ज्ञान (श्लोक १३.७-११ में साधन सहित ज्ञान का स्वरूप) तथा ज्ञेय परमात्मा का (श्लोक १३.१२-१६ में ज्ञेय का स्वरूप) स्वरूप संक्षेप में कहा गया है। परमात्मा का भक्त इस क्षेत्र, ज्ञान एवं ज्ञेय को तत्त्व से जानकर परमात्मा के स्वरूप को ही प्राप्त होता है। जो पुरुष क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा विकारयुक्त प्रकृति से छूटने के उपाय को ज्ञान नेत्र से तत्त्वतः जानता है वह उस परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है।

(ई) प्रकृति पुरुष संयोग की फलश्रुति—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।।१३.२३

जो मनुष्य अन्तःस्थित पुरुष को तथा गुणों के सहित प्रकृति को तत्त्व से जानता है वह सब प्रकार से लोक-कर्मो में वर्तता हुआ भी फिर नहीं जन्मता है। दृश्यमान् सम्पूर्ण जगत् माया जन्य होने से क्षण भंगुर, नश्वर, जड़ तथा अनित्य है। आत्मा जो क्षेत्र में निवास करता है वह नित्य, चेतन, निर्विकार, अकर्त्ता, अविनाशी एवं समभाव से स्थित शुद्ध बोधस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा का ही सनातन अंश है। अतः नश्वर को छोड़ अविनश्वर में नित्यमुक्त होकर रहने का नाम ही उसे तत्त्वतः जानना है।

(उ) गुणों के तत्त्वज्ञान की फलश्रुति—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।१४.१९
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।१४.२०
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।१४.२६

जब द्रष्टा गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को सृष्टि का कर्त्ता नहीं देखता है और गुणों से परे उस परम पुरुष को देखता है तब वह द्रष्टा परम पुरुष के भाव को प्राप्त होता है तथा आत्मा इस देह की, जो बुद्धि, अहङ्कार और मन तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, पंचभूतों, पंचेन्द्रियों के पंच विषयों इस प्रकार इन २३ तत्त्वों का पिण्ड रूप है, उत्पत्ति के कारणरूप तीनों गुणों का उल्लङ्घन कर जन्म-मृत्यु एवं जरा के दुःखों से मुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त होता है। जो परम पुरुष की अव्यभिचारी भक्ति योग से सेवा करता है वही इन तीनों गुणों को पार कर ब्रह्म रूप होने योग्य होता है।

(ऊ) परमात्म भक्ति की फलश्रुति—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।५.१७

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।५.२९
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।।८.५
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्तेकलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।८.६
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।८.७
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८.८
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।।८.१२
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।८.१३
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।८.१४
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।८.१५
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।८.१६
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।९.२९
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।९.३१
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।९.३२
मन्मना भव मद्भक्तोमद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।।९.३४
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।१०.९
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।१०.१०
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।१०.११
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।११.५४

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।११.५५
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।१२.३
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।१२.४
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।।१३.२५
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।१३.२८
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।१५.५
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।१८ ६२
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।१८.६५

जिनकी बुद्धि तथा आत्मा ब्रह्मरूप हुई उसी परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहती है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा निष्पाप हुए अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं। यज्ञ तथा तप के भोक्ता, सारे लोकों के महेश्वर तथा सर्वभूतों के सुहृद परमात्मा को जानकर शान्ति को प्राप्त होते हैं। जो पुरुष अन्तकाल में परमात्मा को ही स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़कर जाता है वह परमात्मा के भाव को ही प्राप्त होता है इसमें कुछ भी संशय नहीं है। मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है वह उस-उस को ही प्राप्त होता है। इसलिए समस्त समय उस परमात्मा का ही स्मरण करना चाहिए। जिसने मन-बुद्धि परमात्मा को अर्पित कर दी है वह निस्सन्देह परमात्मा को ही प्राप्त होगा। यह नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से मुक्त, अन्य किसी भी देवी-देवता अथवा धर्मादि की ओर न जाने वाला तथा चित्त से उसी का चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है। शरीर के सभी नव द्वारों को इन्द्रियों के विषयों से रोक कर, मन को हृदय में निरुद्ध कर, अपने प्राण को मस्तक में स्थापित कर, योग की धारणा में स्थित होकर, ओ३म् ऐसे एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण तथा परम पिता परमात्मा का स्मरण करता हुआ यदि देह छोड़कर जाता है तो वह पुरुष, परम गति को प्राप्त होता है। जो नित्यशः अनन्य चित्त से सतत परमेश्वर का ही स्मरण करता है ऐसे नित्ययुक्त योगी को परमात्मा सुलभ होता है। परम गति से संसिद्ध महात्मा, परमात्मा को प्राप्त होकर फिर दुःखालय व अशाश्वत पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता है। ब्रह्म भुवन से लेकर इस संसार तक सब पुनरावर्ती हैं; लेकिन जो परमात्मा को प्राप्त हो जाता है, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। परमात्मा समत्वभावी

है। उसका न तो किसी से द्वेष है न कोई उसे प्रिय है। जो उसे अनन्य अव्यभिचारी भक्ति से भजता है, वह उसमें और वह उसमें प्रत्यक्ष प्रकट होता है। यदि दुराचारी भी अनन्य भक्ति से उस परमात्मा को भजता है तो वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है। शाश्वत शान्ति को प्राप्त हो जाता है। परमात्मा का भक्त कभी नष्ट नहीं होता। ये जो पाप योनि वाली स्त्रियां, वैश्याएँ तथा शूद्र हैं वे भी परमात्मा की शरण होकर परागति को प्राप्त होते हैं। जो परमात्मा में मन वाला, भक्ति तथा नमने वाला हो उसी की शरण होकर अपनी आत्मा को उस परमात्मा में ही स्थापित कर देता है वह परमात्मा को ही प्राप्त होता है। जो परमात्मा में ही चित्त एवं प्राण वाला होकर सदा ही आपस में वार्ता करता हुआ उस परमात्मा के ज्ञान एवं विज्ञान का ही बोध करता है, दूसरों को कहता है तथा परमात्मा में ही रमण करता हुआ उसी में सन्तुष्ट रहता है ऐसे निरन्तर परमात्मा में ध्यान वाले और प्रीतिपूर्वक भजने वाले भक्त को वह परमात्मा समत्व बुद्धि-योग रूपी सिद्धि प्रदान करता है जिससे वह उसी को प्राप्त होता है। उसके ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही परमात्मा स्वयं उसके अन्तःकरण में एकीभाव से स्थित हुआ अज्ञान से उत्पन्न हुए तमस् को प्रकाशमय ज्ञान-दीप से नष्ट कर देता है। वह परमात्मा इस प्रकार अनन्य भक्ति करने वालों के द्वारा ही जाना जा सकता है, देखा जा सकता है तथा तत्त्व से उसमें प्रवेश किया जा सकता है। जो भक्त परमात्मा के लिए ही यज्ञ, दान, तप आदि अन्य नियत कर्त्तव्य कर्म करता है, उसकी प्राप्ति के लिए तत्पर रहता है, उसी का भक्त है, सारी आसक्तियों को छोड़ चुका है और समस्त भूतों में वैरभाव से रहित है, वह परमात्मा को ही प्राप्त होता है। जो संयत इन्द्रिय, सर्वत्र समबुद्धि एवं सर्वभूतहितरत मनुष्य, उस सर्वत्रगम्, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, अव्यक्त, अनिर्देश्य तथा अक्षर आत्मा की ही पर्युपासना करता है वह भी परमात्मा को ही प्राप्त होता है। ध्यान, ज्ञान एवं कर्मयोग की जो विधि नहीं जानते है, जो केवल दूसरों से इनकी विधियों को सुन-सुनकर ही स्वयं उपासना करते हैं वे श्रुति परायण भी मृत्यु सागर का अतितरण कर जाते हैं। जो नाशवान् सारे चराचर भूतों में केवल परमेश्वर को ही अविनश्वर तथा सबमें समभाव से स्थित देखता है, वही सही देखता है। जो निर्मानी, निर्मोही, जितसंगदोष, नित्य अध्यात्मपरायण, विनिवृत्तकाम, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से विमुक्त हुए ज्ञानी जन हैं वे ही उस अव्यय पद को प्राप्त होते हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की समस्त भावनाओं से जो उस एकमेव परमात्मा की ही शरण में चले जाते हैं वे उस परमात्मा की कृपा से परा शान्ति वाले शाश्वत स्थान को प्राप्त होते हैं। जो परमात्मा मे ही मन वाले, उसी के भक्त, उसी के लिए भजन करने वाले, उसी को नमस्कार करने वाले है वे परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं।

(ई) विभिन्न विषयान्तर्गत फलश्रुतियां--

(अ) सकाम देवपूजा की फलश्रुति--

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥४.१२

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥७.२२
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥७.२३
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ।९.२०
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥९.२१

जो परमात्मा तत्त्व से अनभिज्ञ हैं, वे इस मनुष्य लोक में कर्मों की फल-सिद्धि के आकांक्षी ही देवताओं की पूजा करते हैं। यह सही है उन्हें कर्मजा-सिद्धि शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है। यह भी सही है कि वह पुरुष जिस देवता की श्रद्धा से युक्त हो उसकी आराधना करता है उससे इच्छित भोगों को निस्सन्देह प्राप्त करता है; पर वे भोग परमात्मा के द्वारा ही विधान किए हुए होते हैं यह वह नहीं जानता। लेकिन जो कर्मज फल यह अल्पबुद्धि जन प्राप्त करता है वह फल नाशवान् होता है। जो देवताओं का पूजन करते हैं वे देवताओं को ही प्राप्त होते हैं; लेकिन परमात्मा को पूजने वाले परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं। तीनों वेदों की विद्याओं में निष्णात, सोमपायी, निष्पाप पुरुष, यज्ञों के द्वारा देवताओं का पूजन कर स्वर्ग की कामना करते हैं वे अपने यज्ञों के फलस्वरूप सुरेन्द्र लोक को प्राप्त होकर वहां स्वर्ग में दिव्य देव भोगों को अवश्य भोगते हैं; पर वे उस विशाल स्वर्ग लोक को भोग कर पुण्य क्षीण होते ही, पुनः मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं। इस तरह त्रयी धर्म के अनुयायी, कर्मज फल सिद्धि की कामना करने वाले पुरुष बार-बार आने-जाने के दुःख को प्राप्त होते हैं।

(आ) शुक्ल व कृष्ण मार्ग की फलश्रुति—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥८.२४
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥८.२५
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥८.२६

जो ब्रह्मविद ज्ञान, सूर्य के उत्तरायण के उन छह महीनों में भी शुक्ल पक्ष में तथा सूर्याग्नि से ज्योतिर्मय दिन वाले मार्ग से जाता है वह ब्रह्म को प्राप्त होता है और जो सूर्य के दक्षिणायन के छः मासों में कृष्ण पक्ष की धूम भरी रात्रि में अन्तिम प्रयाण करता है वह केवल चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर वापस मृत्यु लोक में आ जाताहै। शुक्ल एवं कृष्ण मार्ग इस जगत में शाश्वत है। इनमें से शुक्ल मार्ग से गया हुआ अनावृत्ति को प्राप्त होता है तथा कृष्ण मार्ग से गया हुआ, आवृत्ति को प्राप्त होकर पुनः मर्त्यलोक में जन्म लेता है। इस तरह मोक्ष कामी को मृत्यु काल के सम्बन्ध में तीन बातों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए (१) सूर्य

उत्तरायण हो(२) शुक्ल पक्ष हो तथा (३) सूर्य से प्रकाशित दिन का समय हो।

(इ) दैवी एवं आसुरी सम्पदा की फलश्रुति— 88513

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।१६.५
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।१६ १६
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।।१६.१९
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।१६.२०

दैवी सम्पदा तो मुक्ति के लिए और आसुरी सम्पदा मनुष्य को लोक में बांधने वाली मानी गई है। जिनका चित्त अनेक धर्मो में घूमता हुआ विभ्रान्त हो गया है, जो लोक के मोह जाल से समावृत्त हैं तथा काम भोगों में प्रसक्त हैं वे अपवित्र नरकों में गिरते हैं। परमात्मा ही उन नरकों से उन विद्वेषी, अपवित्र तथा क्रूर नराधमों को बार बार संसार में आसुरी योनियों में जन्म लेने के लिए गिराता है। वे मूढ पुरुष जन्म जन्म में आसुरी योनि को पाकर कभी परमात्मा को नहीं पाते। वे वार बार नीच से भी नीच गति को अर्थात् रौरव नरकों में गिरते हैं।

(ई) गीता के प्रचार, पठन एवं श्रवण की फलश्रुति—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।।१८ ६८
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।।१८.६९
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।।१८.७०
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।।१८.७१

जो पुरुष परमात्मा की पराभक्ति करता हुआ, गीता के इस परम गुह्य ज्ञान को प्रभु के भक्तों को सुनायेगा वह निस्सन्देह परमात्मा को ही प्राप्त होगा। ऐसे गीता अनु_गायक से बढ़कर मनुष्यों में अन्य दूसरा कोई भी परमात्मा का प्रिय करने वाला नहीं है और न पृथिवी पर-उससे बढकर दूसरा परमात्मा का कोई प्यारा होगा। जो भी इस धर्ममय कृष्णार्जुन संवाद रूप गीता शास्त्र को नित्य पढ़ता है सचमुच में वह ज्ञान यज्ञ से उस परमात्मा की ही पूजा कर रहा है और जो मनुष्य .बिना अनुसूया के पूर्ण श्रद्धा के साथ इस गीता शास्त्र का मात्र श्रवण भी करता है वह भी पापों से मुक्त हुआ, उत्तम कर्म करने वालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होता है।

फल श्रुतियों के उपर्युक्त वर्णन से हमें एक बात तो स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई दृष्टिगत होती है कि गीता जीवन्मुक्ति का दिव्य संगीत है। मुक्ति इसी लोक

में, लोक से तथा मृत्यु उपरान्त परलोक से। गीता के दोनों अभीष्ट गेय हैं। गीता मनुष्य को इसी लोक में ऐसे बुद्धि योग से युक्त ऐसा मुक्त मनुष्य बनाना चाहती है जिसमें ज्ञान ध्यान कर्म एवं भक्ति समाहित हों। गीता मनुष्य को संसार से या सांसारिक कर्म से संन्यास नहीं दिलाती; बल्कि मात्र कर्म फलाकांक्षा तथा लोकासक्ति से संन्यास दिलाते हुए सतत शास्त्रविहित नियत, नित्य, नैमित्तिक, परहितकारी तथा पुण्यकारी दान, यज्ञ, तपादि कर्मों को सात्विक श्रद्धा व धृति से करने का उपदेश देती है।

दूसरे, गीता में मानव स्वभाव की नैसर्गिक एवं तात्त्विक प्रवृत्तियों की उसके गुण, धर्म, कर्म, स्वभाव आदि के पूर्ण वैमानिक विश्लेषण के साथ व्याख्या हुई है। काम, क्रोध, लोभ जो मनुष्य के सबसे बड़े शत्रु हैं वे रजोगुण एवं तमोगुण के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य का आसुरी स्वभाव भी उसके पूर्व कर्म संस्कारों का ही प्रतिफल है। गीता में इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। इन सभी दोषों को गीता ने मनुष्य का वैरी बताते हुए विस्तार से अभिव्यक्ति दी है तथा मनुष्य को इनसे बचने की तथा मुक्त पुरुष बनने की प्रेरणा दी है। इस नाते गीता एक सनातन सार्वभौम ज्ञान की पुस्तक है। किसी भी देश, जाति, वर्ण, लिंग वाला व्यक्ति हो उसे गीता सदैव सदैव जीवन मुक्ति की प्रेरणा देती रहेगी। किसी भी स्वभाव वाला हो उसे गीता शांति देती ही है। इस तरह गीता देश काल से परे पूर्ण मानव शास्त्र है।

तीसरे, गीता विषाद, भ्रान्ति एव मोह भरे क्षणों से उबारने वाला निष्काम कर्म योग का दुर्लभ पद्यालेख है। वास्तविक शान्ति सुख क्या है, सृष्टि का स्वरूप कैसा है, इसके बंधन से मुक्ति के क्या क्या उपाय हैं, किस उपाय का क्या फल है, यह गीता ही बताती है। यही जगत, जीव, आत्मा परमात्मा की वास्तविकता तथा उनका तथ्यपूर्ण ज्ञान विज्ञान हमारे सम्मुख रख हमें सत्यान्वेषी व सत्यानुरागी बनने की प्रेरणा देती है तथा मुक्त पुरुप बनने की ओर अग्रसर करती है।

चौथे, गीता प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के बीच का सेतु है। निवृत्ति के बिना प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति दोनों की अपूर्णता घोषित करते हुए गीता ने प्रवृत्ति में निवृत्ति का उपदेश दिया है। यही गीता की सर्वांगपूर्णता है।

पांचवे, गीता में हर ज्ञान की, हर विधि की, हर प्रक्रिया की फलश्रुति उसी के साथ दे दी है। इससे सरलता हो गई है। मूल तत्त्व को पाठक आसानी से समझ लेता है। उस तरह गीता अन्य दर्शन ग्रन्थों की तुलना मे अधिक व्यवहारिक तथा समन्वयवादी हो गई है। खण्डन की नीति न अपनाकर समाहार व समन्वय की नीति सर्वत्र अपनाई है। इसी कारण कोई कहता है गीता में ज्ञान पर अधिक जोर दिया है, कोई कहता है कर्म पर, तो कोई भक्ति पर अधिक जोर दिया कहता है। कोई कहता है ध्यान के बिना ज्ञान, कर्म, भक्ति सब बेकार है। ध्यान ही भक्ति है। पर सच तो यह है गीता में ज्ञान, ध्यान, कर्म व भक्ति सबका समन्वय कर उस एकमेव परमपिता परमात्मा की इस लोक-जीवन में ही प्राप्ति का बुद्धि योग सम्मत मार्ग दिखाया गया है। वे जो यह कहते हैं गीता में कोई एक मुख्य उपदेश नहीं है, वे इन्हीं विविध विवरणों मे इतने उलझ जाते हैं कि किसी निर्णय पर

नहीं पहुँच पाते। गीता के गुह्यार्थ को वे नहीं समझ पाते। बुद्धि योग से प्राप्त निष्काम कर्म योग (नैष्कर्म्य) के साधन से जीवन मुक्ति तथा देहान्तर ब्रह्म निर्वाण की प्राप्ति ही गीता का मुख्य उपदेश है। एक ओर उपदेश है; परमात्मा से परतर किंचित कोई वस्तु नहीं है। यह सब दृष्यमान वही है। इसी की उपासना सब धर्मों के भ्रमण की भ्रांति को त्याग कर करनी चाहिए। देवताओं की उपासना लोक बंधनकारी है। परमेश्वर की अराधना से ही पूर्ण मुक्ति सम्भव है। इस तरह एकमात्र जीवन मुक्ति उभर आती है और सब उसकी प्राप्ति के साधन मात्र दीखने लगते हैं। अर्जुन को जब यह विश्वास हो गया कि यह युद्ध कर्म उसे पाप से नहीं बांधेगा, उसकी मुक्ति को नहीं छीनेगा, तभी तो वह युद्ध प्रवृत्त हुआ। यदि उसे यह विश्वास नहीं होता तो सर्वनाश का पाप अपने सिर पर क्यों झेलता।

छठे, गीता में बुद्धि योग की सर्वथा नवीन प्रस्थापना हमें मिलती है। यह बुद्धि योग भी परमात्मा की कृपा से ही प्राप्त होता है। यही बुद्धि योग मनुष्य को समदर्शी, कर्म कुशल तथा पूर्ण योगी बनाता है। गीता ने संन्यास से अधिक कर्मयोग को तथा तप ज्ञान व कर्म से अधिक योग को बताया है। यह योग ही मनुष्य के दुःख का हरणकर्ता है। योगी ही लोकहित रता है, लोक संग्रही है। सदा परमात्मा में निवास करने वाला है और निर्लिप्त भाव से सांसारिक कर्मो को करता हुआ अन्त में अनावर्ती स्थिति को प्राप्त होता है। योग का अर्थ ही परमात्मा से आत्मा का तादात्म्य है। इस तरह गीता हमें योगी के दिव्य दैवी जीवन को जीने की प्रेरणा देती है।

सातवें, गीता अवतारवाद की पुष्टि करती है। जो यह कहते हैं कि ईश्वर तो सर्वत्र व्याप्त, निराकार, निरावलम्ब एक अखण्ड चेतन सत्ता है, उसका अवतार कैसा, गीता में उन्हें उसके अवतार का पूर्ण ज्ञान व फलश्रुति मिलती है।

आठवें, गीता में न केवल जीवन को जीने की कला का सुन्दर निदर्शन है, अपितु मरने की कला का भी बहुत व्यापक तरीके से आख्यान हुआ है। कैसे मरें, कब मरें, गीता ने हर एक योग साधक को इस सम्बंध में सचेत किया है।

नवें, नकारात्मक बात कि देवों भूतों प्रेतों की पूजा न करो। ये लोक में भौतिक सुख व आनन्द देकर मनुष्य को लोक से बांधते हैं और मुक्ति का द्वार अवरुद्ध करते हैं। गीता का अभीष्ट आवागमन से सर्वथा मुक्ति दिलाना है और जब तक जगत में रहो तब तक कमल पत्रवत रहने की शिक्षा गीता देती है।

हमारी दो प्रकार की कामनाएं होती हैं। एक तो आध्यात्मिक कामनाएं और दूसरी भौतिक कामनाएं। आध्यात्मिक कामनाएं आन्तरिक एवं भौतिक कामनाएं बाह्य जगत से सम्बन्धित होती हैं। आन्तरिक कामनाएं मनुष्य को निःश्रेयस की तथा भौतिक कामनाएं अभ्युदय की प्राप्ति करवाती है। एक श्रेयस् है तो दूसरी प्रेयस्। गीताकार एवं अध्यात्मवेत्ता अभ्युदयी कामनाओं को कर्म बन्धन में बांधनेवाली तथा निःश्रेयसी कामनाओं को कर्म बन्धन से तथा भव आवागमन से मुक्ति दिलाने वाली बताते हैं। गीता में कर्म एवं वैराग्य का निष्काम कर्म योग मे पर्यवसान हुआ हम देखते हैं। गीताकार ने दोनों के सहकार का सन्तुलित पक्ष गीता में प्रस्तुत किया है। उसे उसने कर्म संन्यास कहा है। देवों

की उपासना करने से भौतिक सुख समृद्धि का लाभ होता है तथा निष्काम कर्म योगमयी समत्व बुद्धि के साथ साधना मनुष्य को आत्म साक्षात्कार, आत्म कल्याण, प्रदान करती है। यह आत्म कल्याण ही जीवन का अभीष्ट है। परम पुरुष का दर्शन ही जीवन की साधना का एकमात्र अन्तिम सोपान है। इसी परम पुरुष के दर्शन को, आत्मा के परमात्मा में स्थापन को गीताकार ने परम पद आदि अनेक नाम दिये हैं। नीचे हम इस की एक तालिका दे रहे हैं।—इसी परम पद को वास्तविक शांति एवं सुख का हेतु बताया है।

तालिका

अंतिम पद	जीवन में स्वभावगत पद	दोनों का परिणामगत पद
अनामय पद (२.५१)	निर्वेद (२.५२)	योग (२.५३)(१०.७)(१०.१०)
ब्रह्म निर्वाण (२.७२)(५.२४)(५.२५)(५.२६)	शांति (२.७०)(२.७१)(५.२९)	अमृत (२.१५)(१४ २०)(१३.१२)
उर्ध्व (१२ ८)	पराशांति (४.३९)(१८.६२)	मुक्त (५.२८)(१८.७१)
परागति (१३.२८)(६.४५)(९.३२)(१३.२८)	शांति निर्वाण परमात्मा (६ १५)	नैष्कर्म्य सिद्धि (१८ ४९)
ब्रह्म(ब्रह्मणि) (१३ ३०)(१४.२६)(६.२८)(८.२४)(४.३१)(५.१९)(५.२०)	सुख (६.२७)(६.२८)	पराभक्ति (१८.५४)
शाश्वत अव्यय पद (१८.५६)(१५.५)	शाश्वत शांति (९.३१)	सिद्धि (१२ १०)
मयि (६ ३१)	नैष्ठिकी शांति (५.१२)	अपुनरावृत्ति (५.१७)
शब्द ब्रह्म (६.४४)		परमा संसिद्धि (८.१५)
माम (४.९)(१० १०)(११.५५)(८.७)(१८.६८,(९.३४)(११.५५)(१८ ६५)(७ २३)		न पुनर्जन्म (८.१६)
मद्भाव (१३.१८)(१४.१९)(८.५)		मृत्यु अतितरण (१३.२५)
परम् (१३.३४)		विमोक्ष (१६.४)
दिव्य परम पुरुष (८.८)(८.१०)		कर्म मोचन (३.३)
परमागति (८ १३)		मुक्त (६.८)
अहम् (८.१४)(११.५४)		ब्राह्मी स्थिति (२.७२)
शाश्वत स्थान (१८.६२)		
परम स्थान (८.२८)		
परमधाम (१५.६)(८.२१)		
अव्यय अनुनाम परमभाव (७.२४)		
परम पुरुष (८ २२)		

गीताकार ने एक ही श्लोक २.७२ में ब्राह्मी स्थिति तथा ब्रह्म निर्वाण का भेद स्पष्ट कर दिया है। ब्राह्मी स्थिति इसी जीवन में प्राप्त होती है और ब्रह्म

निर्वाण अन्तकाल में। ब्राह्मी स्थिति में रहता हुआ स्थितधी फिर लोक कर्म में विमोहित नहीं होता।

गीताकार ने श्लोक २.७० में 'आपूर्यमाण अचल प्रतिष्ठ समुद्र' की उपमा देकर जहां एक ओर ब्राह्मी स्थिति को ही स्पष्ट किया है वहां यह भी सिद्ध कर दिया है कि शान्ति प्राप्त स्थिति ही ब्राह्मी स्थिति है। इसी शान्ति को गीताकार ने कहीं पराशान्ति, कहीं नैष्टिकी शान्ति, तो कहीं शाश्वत शान्ति कहा है। गीताकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करने के लिए ये विभिन्न नामी शान्ति परमावश्यक है। ब्रह्म निर्वाण को जानना या ब्रह्म सनातन की प्राप्ति, ब्रह्मणि स्थिति में स्थित होना वा ब्रह्मभूत होना आदि नामों से कहा गया है। अध्याय ४, ५ व ६ में ये नाम बहुत आए हैं। गीताकार ने एक बात और स्पष्ट की है कि जिसे शान्ति प्राप्त नहीं है उसे सुख कहां। अर्थात् यथार्थ लौकिक एवं पारलौकिक सुख तो शान्ति या पराशान्ति में ही स्थित है। जहां शान्ति ब्रह्मविद की प्राथमिक आवश्यकता है वहां सुख ब्रह्मविद का अन्तिम परिणाम है।

उपर्युक्त फलश्रुतियों से यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि मोक्ष वास्तव में क्या है? मोक्ष जीव की आवागमन से मुक्ति ही है। जिसे मोक्ष प्राप्त हो गया वह अपुनरावृत्ति गति को प्राप्त हो गया। वह परमात्मलीन हो गया। उसका कोई लोक नहीं। यही उसकी ऊर्ध्व परागति, परमगति, ब्रह्म निर्वाण कुछ भी कहें, है। यही परमात्ममयता ही अनामय पद, शाश्वत अव्यय पद, शाश्वत स्थान, परम स्थान, परमधाम है और इसी को गीता में, परपुरुष, परम पुरुष, अहम् माम, मयि, मद्भाव की प्राप्ति बताया है।

ब्रह्म भुवन से लेकर अन्य सभी लोक आवृत्ति वाले हैं; लेकिन यही परमात्मलीनता ऐसा धाम है जहां से फिर पुनरागमन नहीं है। इसी की प्राप्ति का उपदेश गीता है। गीता में इसे इस तरह स्पष्ट किया गया है –

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।१५.६

जहां न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा, न अग्नि, जहां पहुँचने पर फिर निर्वहन नहीं है, वही परमात्मा का परम धाम है।

इसे थोड़ा गहराई से समझने की आवश्यकता है। परमात्मा सब भूतों मे है; पर उसमें ये नहीं है, यह उनसे परे है। परमात्मा से आत्मा की संयुति अंश का अंशी में ही मिलन है। शेष क्या रहा? अद्वैत की स्थिति के बाद तो शून्य ही शून्य है। अतः जिस परमात्मा में चराचर भूतग्राम नहीं है, फिर उसके धाम में इनकी स्थिति कैसे हो सकती है? इसलिए ही, न वहां सूर्य है न चन्द्रमा न पावक। केवल एकमेव परमात्मा शेष रह जाता है, परमात्मा से भिन्न कुछ नहीं। यही अद्वैतता गीता की अपनी विशिष्टता है।

जो अबुद्धिजन उस परमात्मा के इस अव्ययी अनुत्तम परम भाव को नहीं जानते हैं वही इसके अन्तःकरण को व्यक्ति आपन्न समझते हैं। वह ज्ञेय अनादि

मत परब्रह्म, जिसे जानकर मुक्त पुरुष अमृतत्व को भोगता है; न तो सत् है, न असत्। देखिए गीता में इस तथ्य को कितनी स्पष्टता से कहा गया है—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥७.२४
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। १३.१२

है और नहीं है दोनों सन्देहों से परे न है और न नहीं है ऐसा निर्गुण परब्रह्म परमात्मा है। जब इसी रूप में जीव मिल जाता है तो फिर वह भी न सत्, न असत् हो जाता है। फिर कहां सत्-असत्, सूर्य-चन्द्रमा और अग्नि उसमें रहेंगे। ▢

पांच

पञ्च योग

गीता में हमें योग के पांच विभिन्न नाम तथा स्वरूप के दर्शन होते है। वे है—बुद्धियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग तथा भक्तियोग। सच मे ये पांचों योग एक बुद्धियोग की सिद्धि के निमित्त है। बुद्धियोग का पर्याय समत्व योग है। समत्व ही गीता का मुख्य कथ्य कहा जाता है। ईश्वर सम है अतः समत्व की सिद्धि कही जा सकती है। यह ईश्वर सिद्धि ही जीव की मुक्तावस्था है जिसे जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति कुछ भी कह सकते हैं। इस तरह बुद्धियोग गीता का गेय योग है जो समत्व एवं ईश्वरत्व प्रदान करता है। ज्ञान, कर्म, ध्यान व भक्ति इसी की सिद्धि के विविध सोपान है। इन पाचों ही योगों के विश्लेषण से गीता के निष्काम योग के अन्तर्हित भाव को आसानी से समझा जा सकता है। इन गीतोक्त पञ्च योगों को हम एक-एक बार क्रमशः समीक्षा व अनुशीलन के दर्पण में देखने की चेष्टा कर रहे हैं। पहले बुद्धियोग, फिर ज्ञानयोग, फिर कर्मयोग, फिर ध्यान योग तदन्तर भक्तियोग। विश्वास है गीता का मूल मन्त्र समत्व इन योगों के अध्ययन के पश्चात् स्पष्ट हो जाएगा। हम इसीलिए समत्व दर्शन शीर्षक से तुरन्त इसी के पश्चात् एक विशिष्ट लेख दे रहे है ताकि योगों का अध्ययन रूप हो सके तथा पाठक के समक्ष विषय स्पष्ट हो सके। भक्ति से जुड़ी हुई प्रार्थना हुआ करती है। गीता में पृथक् से तो कोई प्रार्थना नही है पर उस पुरुषोत्तम के संबंध में उसकी प्रशंसा करते हुए जहां-जहां कुछ कहा गया है उसे हमने गीतोक्त प्रार्थना का स्वरूप इस शीर्षक से एक पृथक् लेख तुरन्त इसके पश्चात् ही दे दिया है ताकि भक्ति का स्वरूप पूरा हो सके।

बुद्धि योग

सांख्य-दर्शन में जिन २५ तत्त्वों की परिगणना की गई है उनमें बुद्धि नहीं है।[1] गीता ने मन से परे बुद्धि तथा बुद्धि से परे आत्मा मानी है।[2] गीताकार व्यवसायात्मिका शक्ति बुद्धि में ही मानते है।[3] बुद्धि को स्वीकार नहीं करने वाले सांख्यों को गीताकार ने 'अबुद्धय' कहकर कोसा है। गीता में खण्डन-मण्डन न होकर अपनी बात को विविध तर्को, दृष्टान्तों तथा दर्शनों के आधार पर कहा गया है।

गीता में जिस दर्शन को श्लोक २.२९ से लेकर १८.६६ तक निरन्तर प्रतिपादित किया गया है वह बुद्धियोग-दर्शन है। बाह्य विषयों की आसक्ति से बुद्धि को हटाकर अनन्य एव अव्यभिचारी भाव से उसे परमात्मा में स्थापित करना ही बुद्धियोग है। बुद्धियोग से परमात्मा की सच्चिदानन्द रूपी शक्तियां जीव पर अपना चिदाभास विकीर्ण करती हैं। उस चिदाभास से आभासित जीव भौतिक शरीर में रहता हुआ भी विदेह हो जाता है। जीव की यह स्थिति ही निःश्रेयस सिद्धि है। यही आत्म-कल्याण है। यह आत्म-कल्याण देह की स्वस्थता तथा जीवन में अभ्युदय पर निर्भर करता है। अभ्युदय का अर्थ है भौतिक दृष्टि से सर्वतः ऊपर गमन। अभ्युदय का सन्धि-विग्रह इस प्रकार है—अभि+उत+अय अभि का अर्थ है सामने या आगे, उत का अर्थ है ऊपर और अय का अर्थ है गमन। सामने की ओर ऊपर गमन। इसका उल्टा है प्रत्यवाय। प्रति+अव+अय। विपरीत पीछे नीचे गमन। पीछे की ओर नीचे जाना। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ बुद्धि का निवास। बलहीन आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।[4] कठोपनिषद् में भी आया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥३.२.२२

बुद्धि की प्रतिष्ठा मन है। अत बुद्धि को स्व स्वरूप मे रखने से पहले चंचल मन को स्वस्वरूप मे रखना आवश्यक है। शान्त सरोवर मे ही सूर्य और चांद का प्रतिविम्ब दिखाई देता है। बुद्धि रूपी सूर्य का प्रकाश मन की शान्तावस्था में ही भासित हो सकता है। मन की स्थिरता ही बुद्धि की स्थिरता का कारण बनती है। 'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरतिः' बुद्धि की स्थिरता पर ही आत्मा का आभास झलकता है।

---

१ सत्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृते महान। महतोऽहंकारः। अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि उभयमिन्द्रियम्। तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः। (१.६१)

२ इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः। (३.४२)

३ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।

४ नहि आत्मा बलहीनेन लभ्यते।

मन की स्थिरता अन्न की पवित्र सात्त्विकता पर निर्भर होती है। 'जैसा खायेगा अन्न, वैसा होगा मन।' इसी सिद्धान्त से गीता ने आहार शुद्धि पर, सात्त्विक भोजन पर जोर दिया है। 'अन्नमयं हि सौम्य मनः।'

यह बुद्धि योग सर्वान्तरतम साधनरूप गुप्ततमरहस्य है, जिसे गीता ने पहली बार प्रस्तुत किया है। इसी बुद्धि योग की सिद्धि के लिए गीताकार ने आत्मा, ब्रह्मकर्म कर्म योग, ज्ञान योग, ध्यान योग तथा भक्ति योग इन ६ अङ्गों को निरुपित किया है।

गीता में बुद्धि योगान्तर्गत भक्ति, शास्त्रों की साम्प्रदायिक देव भक्ति नहीं है। गीता की स्पष्ट मान्यता है कि देव उपासना से भौतिक अभ्युदय तो हो सकता है पर निःश्रेयस विदेह मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य रूपा अपरा मुक्ति तो हो सकती है, पर परा मुक्ति केवल एक परात्पर सविज्ञान ज्ञान से ही हो सकती है।

भौतिक विषयों में मन, इन्द्रियों के अवग्रह से रमता है। मन से, अवग्रहित विषय का सम्पर्क बुद्धि से होता है। बुद्धि के साथ आत्मा का सम्बन्ध है। 'आत्मा बुद्धया समेत्य' इस सिद्धान्त से बुद्धिगत विषय आत्मा पर पहुँच जाता है। इसे 'ईहा' प्रक्रिया कहते हैं। शुद्ध आत्मा इसी ईहा व्यापार से बद्ध जीवात्मा हो जाता है। अवगमा बुद्धि निश्चयात्मक होने से आत्मा पर भी उसका विषय 'इदमित्थम्' रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। यही वासना रूप धारणाएँ संस्कार बनकर चित्त में समाहित रहती है। जब तक ये चित्तांकित संस्कार निर्मूल नहीं हो जाते तब तक विदेह मुक्ति सम्भव नही है। इन्ही संस्कारो के क्षय के लिए, भगवान ने बुद्धि योग नामक नवीन तंत्र दिया है। इसी तंत्र में ज्ञान, कर्म, भक्ति, अनासक्ति, निष्काम कर्म कुशलता, तथा सम्पूर्ण कर्मो का ईश्वरर्पण भाव समाहित है। अनन्य निष्काम अव्ययभक्ति पर ही बुद्धि योग का भवन खड़ा है। गीता में आया भी है—

पुरुषः स परः पार्थभक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदंततम् ॥८.२२

इसी बुद्धि योग की प्रतिष्ठा को हम गीता में प्रारम्भ से ही देखते है—

भगवान् कृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक ३१ से लेकर ३७ तक क्षात्र धर्म की प्रतिष्ठा प्रतिपादित करते हुए सबसे पहले विषाद एवं मोह ग्रसित एवं युद्ध विरत अर्जुन को युद्धार्थ प्रोत्साहित किया है। 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृत निश्चयः' आदि। इस उपदेश के अनन्तर भगवान् कृष्ण प्रवृत्तिमूलक कर्मो की तथा कर्म फल, रूप, स्वर्गादि की प्राप्ति की निंदा करते हुए समत्वरूप बुद्धि योग का उपदेश देकर उस अनुसार युद्ध करने की प्रेरणा देते हैं।

निन्दा— यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥२.४२
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥२.४३

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।२.४४
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।२.४५
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेपु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।२.४६

अविवेकी सकामी पुरुप, जो वेदवादी हैं, स्वर्गपरायण हैं, जन्मकर्मफल प्रदान करने वाली, भोग एव ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाली, बहुत सारी क्रियाओ वाली इस प्रकार की पुष्पिता वाणी कहते है कि इनके अतिरिक्त जीवन के लिए सार रूप और कुछ नही है। भोग एवं ऐश्वर्य के प्रति आसक्ति वालों तथा ऐसी पुष्पिता वाणी से अपहृत चित्त वालों के अन्त करण मे व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती है। वेद तीनों गुणों के प्रवृत्तिमूलक विपयो को प्रकाशित करने वाले है। अतः हे अर्जुन ! वेदो की इस वाणी से प्रमत्त न होकर निस्त्रैगुण्य, निर्द्वन्द्व, नित्य-सत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम व आत्मवान् हो। परिपूर्ण जलाशय के समक्ष पोखर का पानी पीने के प्रति मन में जो हीन उपेक्षा का भाव जागता है वैसा ही भाव कर्मकाण्डी ब्राह्मण का भी ब्रह्म को जानने के बाद वेदों के कर्मकाण्ड के प्रति हो जाता है। इस तरह गीता प्रवृत्ति की निन्दा तथा कर्ममूलक निवृत्ति का आख्यान करती है। समत्व बुद्धि योग ही कर्ममूलक निवृत्ति का पर्यायवाची नाम है।

समत्व बुद्धि योग का उपदेश—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।२.३८
एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।२.३९

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझ, फिर युद्ध में प्रवृत्त हो; इस प्रकार युद्ध करने से पाप नही लगेगा। यह बुद्धि तुझे सांख्य-दर्शन के अनुसार कही गई है। अब योग के सम्बन्ध मे सुन। इस बुद्धि योग से युक्त होने पर सारे कर्म के बन्धनों को नाश कर देगा। इस तरह गीताकार ने दो निष्ठाएँ बुद्धि योग की सिद्धि के लिए प्रस्तुत की (१) सांख्य निष्ठा (२) योग निष्ठा।

गीता में आगे यह भी स्पष्ट निर्देश दिखाई देता है कि अपने गुण स्वभाव के अनुसार कार्य करो, न करोगे तो भी तुम्हारे गुण तुम्हें खीच कर उस ओर लगा देंगे; लेकिन गुण कर्मो से बांधने वाले हैं। कर्मो के बन्धन में बँधा आदमी सुख-दुःख रूप आवागमन चक्र से बच नही सकता। कर्म बन्धनकारी, पाप परिणामी न हों; इस हेतु बुद्धि योग का अनुसरण करो। शक्ति और ज्ञान का तथा भोग और योग का यह समन्वित रूप बुद्धि योग के माध्यम से गीता हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। बुद्धि योग की प्रशंसा करते हुए भगवान् कृष्ण कहते है कि इस बुद्धि योग में साधक के अभिक्रम का नाश नहीं होता। अर्थात् बुद्धि योग की प्रगति का प्रत्यवाय या परा-वर्तन नही है। इस धर्म की थोड़ी भी साधना, पुनर्जन्मादि के महान् भय से बचाती है।

इससे बुद्धि में एक निश्चयात्मक भाव आ जाता है। अन्यथा जो बुद्धि योग से युक्त नहीं हैं उनकी बुद्धि अव्यवसायी, अनन्त रूप तथा बहु शाखाओं वाली होती है। निश्चयात्मकता का सर्वथा अभाव उसमें देखा जाता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।२ ४०
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।२.४१

योग के निष्काम कर्म भाव को समझाते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन ! तेरा कर्म में ही अधिकार है, फल में नहीं है। अत: तू कर्म फल की वासना वाला न हो। साथ ही तेरी अकर्म में संगति भी न हो। अर्थात् तू फल की कामना न करते हुए कर्म अवश्य करता चल। आसक्ति को त्याग, योग परायण हो, सिद्धि-असिद्धि में समभावी बना कर्मो को कर। समत्व भाव ही योग कहा जाता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।२.४७
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।२.४८

उपर्युक्त विवेचन में बुद्धि योग के निम्नलिखित मूल तत्त्व उल्लिखित हुए मिलते हैं—

१ कर्मण्येवाधिकारस्ते। (तेरा कर्म में ही अधिकार है।)
२ मा कर्मफल हेतुर्भूः।
मा फलेपु कदाचन। (कर्मफल की वासना वाला न हो।)
३ मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि। (तेरी अकर्म [अक्रियता] में संगति न हो।)
४ सगं त्यक्त्वा योगस्थ कुरु कर्माणि। (आसक्ति त्यागकर योग में स्थित हुआ कर्म कर।)
५ सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा। (सिद्धि और असिद्धि में समान भाव रखते हुए।)

इस तरह बुद्धि योग की स्थिति के लिए सांख्य एवं योग को मिलाते हुए पांच मुख्य तत्त्व हैं—(१) कर्माधिकार, (२) कर्मफल की इच्छा का अभाव, (३) अकर्म से विरोध, (४) बाह्य पदार्थो के प्रति अनासक्ति तथा (५) समत्व भाव। इस फलेच्छा रहित कर्ममूलक बुद्धि योग की प्रशंसा करते हुए वेदव्यास कहते हैं कि बुद्धि योग से किए कर्मो की अपेक्षा अन्य सकाम वेद कर्म अत्यन्त तुच्छ हैं। अतः हे धनञ्जय ! बुद्धि योग की शरण ग्रहण कर क्योंकि फल की वासना वाले कृपण होते हैं। कृपण इसलिए कि उनकी बुद्धि निज परक होती है और त्याग का भाव लेश भी नहीं होता। यज्ञ भाव शून्यता कृपणता ही है। जो बुद्धि योग से युक्त हैं, वे सुकृत तथा दुष्कृत जन्य जो कर्म सस्कार हैं उनको इसी लोक में त्याग देते हैं। हे अर्जुन ! युद्ध कर्म में तुझे पाप न लगे, वह हिंसा कर्म तुझे पाप का भागी न बनाए अतः' तू इस बुद्धि योग से युक्त हो। क्षात्र धर्म के सन्दर्भ में गीताकार ने कहा 'युद्धाय युज्यस्व'। युद्ध के लिए तैयार हो। निष्पापता के सन्दर्भ में कहा

'योगाय युज्यस्व' । योग के लिए तैयार हो । बुद्धि योग कर्म में कुशलता है । कैसे ? कहते हैं बुद्धियुक्त मनीषीगण कर्मज फल को त्याग जो कर्म करते हैं उससे वे जन्म बन्धन से विनिर्मुक्त हो, अनामय पद को प्राप्त होते हैं । यहां अनामय का अर्थ परमात्मा का धाम या परमगति ऐसा कुछ नहीं है । बहुत साफ तरीके का शाब्दिक अर्थ है अभयरहित, पापरहित निर्दोष, अमृतमय । अर्थात् जो कर्मफल का दोष लगता है वह दोष उन्हें नहीं लगता । वे पापरहितता की निर्दोषता की अमृतमयी स्थिति पा लेते हैं । इसी बात को और स्पष्ट करते हुए भगवान् अर्जुन से कहते हैं' जब तेरी बुद्धि मोह रूपी दलदल के पार उतर जाएगी तब वह बुद्धि सुनने योग्य तथा सुने हुए निर्वेद अर्थात् वैराग्य को प्राप्त होगी और जब बहुत प्रकार के धर्मों को सुनने के कारण विचलित तेरी बुद्धि समाधि में अचल और दृढ़ रूप में प्रतिष्ठित हो जाएगी तब तू बुद्धि योग को प्राप्त होगा ।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।२ ४९
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।२.५०
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।२.५१
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।२.५२
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।२.५३

यहां उपर्युक्त श्लोक विवेचन में बुद्धि योग की प्राप्ति के विविध सोपान अप्रकट रूप से प्रस्तुत हुए हैं । जैसे प्रथम मोह कलिल से बुद्धि का व्यतितरण, द्वितीय निर्वेद प्राप्ति, तृतीय श्रुति विप्रतिपन्न बुद्धि का निश्चलता के साथ अचल समाधिस्थ होना । ये तीन सोपान हैं बुद्धि योग के; निर्मोहता, निर्वेदता तथा निश्चल समाधिस्थता । यहां शब्द सौन्दर्य तथा उनकी कलात्मकता का दिग्दर्शन कराना अनुचित नहीं होगा । दो शब्द आए हैं श्रुति विप्रतिपन्ना तथा दूसरा निर्वेद । सामान्य अर्थ हमने ऊपर दे दिया है । गूढ़ अर्थ की ओर हम आपका ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं । श्रुति नाम वेद । निर्वेद नाम वेद रहितता । श्रुतियों में बताए विविध कर्मकाण्डों से जिसकी मति विप्रतिपन्न है, जब वह श्रोतव्य एवं श्रुत निर्वेद को प्राप्त होगी तभी योग को प्राप्त होगी । योगबुद्धि एक है । कर्म बुद्धि अनन्त है । वेद का कर्मकाण्ड जहां शून्य हो जाए वहां से बुद्धि योग का प्रारम्भ मानना चाहिए । कर्मकाण्ड बहुदेववादी है, जबकि बुद्धियोग उनका विरोध करते हुए एकमात्र अव्यय पर पुरुष की अव्यभिचारिणी अनन्य भक्ति का मार्ग हमें बताता है । भक्ति प्रसंग हम आगे लेंगे । यह भक्ति ज्ञान भी वेद का ही है । वेद से बाहर का नहीं है । वेद कृत्स्न है । सम्पूर्ण विचार पूर्ण हैं । गीता ने उसके दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्ष को गहराई एवं नवीन किन्तु अन्तिम खोज के साथ हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है

तथा उसके कर्मकाण्डी पक्ष का घोर विरोध किया है। कर्मकाण्ड सकाम है अतः वह कर्म बन्धन में बांधता है। आवागमन से मोक्ष दिलाने वाला नहीं है। इस तरह गूढार्थ से श्रुति एवं निर्वेद दोनों शब्द एक लम्बी ज्ञान यात्रा के द्योतक हो गए हैं।

मोक्ष, निर्वेद तथा अचल समाधि की प्राप्ति के बाद विस्तार से भगवान् अर्जुन के चारों प्रश्न (१) समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ की क्या भाषा होती है? (२) स्थित धी क्या बोलता है? (३) कैसे बैठता है? (४) कैसे चलता है? का उत्तर देते हैं। यह लेख अत्यधिक दीर्घ होकर वितृष्णा या जुगुप्सा का भाव न जगा दे अतः हम एक पृथक् लेख 'समत्व योग' के नाम से देकर भगवान् के उत्तरों के सन्दर्भ में उसे पूर्ण करेंगे।

अर्जुन ने पहले क्षात्रधर्म का कर्म पुरस्सर मन्त्र सुना अब निर्वेद समाधि का बुद्धि योगी मन्त्र। उसका भ्रमित होना स्वाभाविक है। वह भगवान् से निवेदन करता है—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्कि कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥३.१
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धि मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥३.२

हे जनार्दन! आपके मत से यदि कर्मों से बुद्धि श्रेष्ठ है तो फिर केशव, मुझे घोर कर्म में क्यों नियोजित कर रहे हैं? आपके व्यामिश्र वाक्यों से मेरी बुद्धि विमोहित हो रही है। आप दोनों में से एक निश्चित करके बताइए जिससे मैं श्रेय को प्राप्त हो सकूँ।

बुद्धि योग में कर्म की अनिवार्यता—

कई विद्वानों ने कर्म का अर्थ निष्काम कर्म योग तथा बुद्धि का अर्थ ज्ञान योग लगाया है, वह सर्वथा गलत है। कर्म से यहां केवल दो अभिप्राय हो सकते हैं तीसरा नहीं। पहला क्षात्र कर्म या बृहत् अर्थ में गुण स्वभाव धर्म तथा दूसरा वेद कर्म जिनका विरोध अभी किया ही है। वैसे कर्म के सन्दर्भ में दोनों एक ही हैं। दोनों प्रवृत्ति के सूचक हैं। कर्म प्रवृत्ति का सूचक है। बुद्धि से ज्ञान योग का अर्थ कैसे हो गया? हम देखते आ रहे है बुद्धि सर्वत्र समत्व योग के रूप में प्रयुक्त होती आ रही है। फिर ज्ञान योग कहां से आ गया? यह भ्रान्ति 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम' (३.३) से अज्ञानवश हुई है। वास्तव मे यह उत्तर किसी योग को बताने के लिए नहीं; अपितु इन दोनों योगों में भी कर्म के स्वरूप को त्यागने की आवश्यकता नहीं है, इस बात को बताने के लिए दिया गया है। यह बात अगले ही श्लोक से स्पष्ट हो जाती है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यंपुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति ॥३.४

न तो कर्मों के अनारम्भ से बुद्धि योग की नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होगी न संन्यास अर्थात् कर्मों के त्याग से ही। इस श्लोक मे भी सिद्धि का अर्थ भगवत् साक्षात्कार कइयों ने लगाया है; वह यहां अभिप्रेत नहीं है। यहां तो बुद्धि योग की

सिद्धि ही है। भगवत् साक्षात्कार तो इसका परिणाम है। भगवान् कर्म की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए बुद्धि योग सम्मत कर्म का स्वरूप अर्जुन को समझाते हैं। जिनसे कर्म वन्धन नहीं होता। पहले कर्म का स्वरूप वताते हुए भगवान् कहते हैं—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।३.५
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।३.६
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।३.७
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।।३.८

कोई भी पुरुष किसी भी काल में क्षणमात्र भी विना कर्म किए नहीं रहता। निस्संदेह सब ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं। जो मूढ बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ से रोक कर इन्द्रियों के भोगों का मन से चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।

और हे अर्जुन ! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से संसार कर्म का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है; इसलिए तू शास्त्र विधि से नियत किए हुए स्वधर्म रूप कर्म को कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी नहीं होगा।

इस चिन्तन में तीन वातें स्पष्ट हुई (१) मन से इन्द्रियों का संयमन, (२) अनासक्ति भाव तथा (३) कर्म का आचरण।

इस तरह कर्म की अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए भगवान् कर्म के वंधनकारी स्वरूप के प्रभाव से मुक्ति का मार्ग वताते हुए कौन से कर्म वन्धनकारी नहीं हैं और किन कर्मो को करते हुए भी कर्मो के करने का कोई फल नहीं होता यह वताते हैं। जिन कर्मो का वन्धनकारी प्रभाव नहीं होता उन्हें भी मुक्तसंग होकर करना चाहिए—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।३.९

यज्ञार्थ कर्म के अतिरिक्त सभी कर्म वन्धनकारी हैं। यज्ञार्थ कर्म भी मुक्तसंग समाचरित होने चाहिए। यह यज्ञ प्रकरण गीता में अतीव विस्तार से दिया है अतः हम पृथक् लेख के माध्यम से इसे प्रस्तुत करेंगे। यहां संकेतात्मक दृष्टि से उल्लेख भर किया है।

जिन्हें कोई कर्म प्रयोजन नहीं होता वे भी लोक संग्रहार्थ यज्ञार्थ कर्म करते हैं।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य न विद्यते ।।३.१७

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।३.१८

जो मनुष्य आत्मा ही में प्रीति वाला और आत्मा ही में तृप्ति तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट होकर रहता है उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं होता है । इस संसार में उस पुरुष का किए जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है और न किए जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है । उसका सम्पूर्ण भूतों में कुछ भी स्वार्थजनित सम्बन्ध नहीं होता, केवल उसके द्वारा लोक हितार्थ यज्ञ रूप कर्म किए जाते हैं ।

इसी तरह अवतारी पुरुष को भी तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं होता ऐसी कोई प्राप्त होने योग्य वस्तु नहीं है जो अवतारी पुरुष को अप्राप्य हो, तो भी वे कर्म करते हैं ।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।३.२२

ज्ञानी पुरुषों को भी लोक संग्रह के लिए कर्म करना होता है ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।३.२५

इस तरह हमने देखा कि भगवान् ने गीता में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि लोक संग्रहार्थ किए यज्ञ रूप कर्म बन्धनकारी नहीं होते । साथ ही ज्ञानी एव अवतारी पुरुषों के लिए कर्म का कोई प्रयोजन नहीं, अर्थात् कर्म उन्हें प्रभावित नहीं करते । इस तरह कर्म सबके लिए अनिवार्य है । यह कर्म विवेचन एक ऐसा विषय है; जिसके प्रभाव से प्रभावित विद्वान् गीता को निष्काम कर्म योग का प्रतिपादक ग्रन्थ कहते हैं । जबकि हम देख रहे हैं कि ज्ञान योग की ही भांति कर्म योग भी बुद्धि योगान्तर्गत एक कर्म विधि है । इस कर्म योग विधि का हमने ज्ञान योग की ही भांति पृथक् लेख मे अन्यत्र विस्तार से विचार किया है ।

समर्पण बुद्धि से किए कर्मो का कर्त्ता पर कोई प्रभाव नहीं होता ।

गीता में उपर्युक्त कर्म विवेचन से एक कदम आगे बढ़कर नैष्कर्म्य सिद्धि का एक और मार्ग बताया है वह है, परमात्मा को अपने समस्त कर्मो का समर्पण करते हुए समत्व बुद्धि से कार्य करना ।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।३.३०
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनुसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।।३.३१

ध्यान निष्ठ चित्त से सम्पूर्ण कर्मो को परमात्मा में समर्पण करके आशा रहित, ममता रहित, मोह एवं विषाद ज्वर रहित होकर जो कोई भी मनुष्य अनुसूया भाव को छोड़, पूर्ण श्रद्धा के साथ परमात्मा के बताए बुद्धि योगानुसार आचरण करता है, वह पुरुष सम्पूर्ण कर्म-दोषों से छूट जाता है । इस तरह समर्पण भाव भी बुद्धि योग की सिद्धि के लिए एक आवश्यक अङ्ग है ।

काम मनुष्य का सबसे बड़ा वैरी है। प्रकृति के गुणों से मोहित हुए पुरुष गुण एवं कर्मों में आसक्त होते हैं। 'प्रकृतेर्गुण संमूढा: सज्जन्ते गुण कर्मसु। (३.२९) मनुष्य को चाहिए कि वह इन्द्रियों को इन्द्रियों के अर्थों में जो-जो राग द्वेष स्थित रहते हैं, उन दोनों के ही वशी न होने दे। क्योंकि राग एवं द्वेष दोनों ही कल्याण मार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाले महान् शत्रु हैं।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।३.३४

रजोगुण से उत्पन्न यह काम ही क्रोध है। यह काम महाशन तथा महापाप्मा है। इसको इस कारण महावैरी जानो। जैसे धुएँ से अग्नि और मल से दर्पण ढँक जाता है और जैसे उल्वा से गर्भ ढँका रहता है वैसे ही उस काम से यह ज्ञान ढँका हुआ है। अतः बुद्धि योग के द्वारा मन को वश में करके जो बुद्धि से परे आत्मा है उसे जानते हुए इस दुरासत काम रूपी शत्रु को मारो।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव:।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ।।३.३७
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।३.३८

× × × ×

एवं बुद्धे: परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।३.४३

बुद्धि योग की सिद्धि के लिए काम रूपी शत्रु पर विजय पाना अनिवार्य है। काम का वास स्थान इन्द्रियां, मन एवं बुद्धि कहे गए हैं। यह काम इन मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आवृत्त कर आत्मा को विमोहित किए रहता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।३.४०

यह काम का वास स्थान मन बड़ा ही चञ्चल, प्रमथकारी बलवान तथा दृढ़ है। वायु के समान इसका निग्रह बहुत ही दुष्कर है। ध्यान योग के सतत अभ्यास से ही यह मन वैराग्य को प्राप्त हो सकता है।

चञ्चलं हि मन: कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।६.३४
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।६.३५

यहां अभ्यास शब्द योगाभ्यास से अभिप्रेत है। योग शब्द ज्ञान, कर्म, बुद्धि, सबके साथ जुड़ा मिलता है; पर गीता के छठे अध्याय में योग शब्द ध्यान योग के लिए प्रयुक्त हुआ है।

ध्यान योगाभ्यास बुद्धि योग की सिद्धि की आधार शिला है। इसके बिना न

मन की चंचलता पर काबू पाया जा सकता है, न संन्यास की ही सिद्धि अर्जित की जा सकती है। ध्यान योग गीता में विस्तार से चर्चित है अतः हमने ध्यान योग के सम्बन्ध में पृथक् से एक लेख दिया है, जिसमे ध्यान योग सम्बन्धी सारी चर्चा होगी। ध्यान योग से ही समत्व बुद्धि, संन्यास, अनासक्ति, निष्काम कर्म योग तथा आत्म दर्शन की सिद्धि उपलब्ध होती है। बिना ध्यान योग के कुछ भी सम्भव नही है। भगवान् ने गीता मे ध्यान योग की छठे अध्याय मे बडी प्रशसा की है। कुछ विद्वान् योग शब्द को निष्काम कर्म योग के साथ संयुक्त कर वैसी ही व्याख्या करते हैं, वे गलत हैं। योग यदि कर्म योग से सम्बद्ध होता तो गीताकार योगी की प्रशंसा करते हुए कर्म से भी योग को अधिक नही बताते। देखिए—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥६.४६

तपस्वियों से योगी अधिक है। ज्ञानियो से भी मेरे मत से अधिक है तथा कर्मियों मे भी योगी अधिक है। अतः हे अर्जुन योगी बन। कर्मी कौन ? कर्म योगी ही इसका उत्तर होगा।

भगवान् कृष्ण ने गीता मे ध्यान योग की प्रशसा करते हुए योगारूढ पुरुष के लक्षण विस्तार से बताए हैं। इसका उल्लेख हम 'ध्यानयोग' नामक लेख मे करेंगे। जो सर्वाधिक महत्त्व की सूचना भगवान् ने योग की उपलब्धि के सम्बन्ध मे दी है वह है योगी, योगारूढ होने पर परमात्मा आत्मा, जीव और जगत् को तत्त्वतः जानेगा। यह तत्त्वज्ञान ही सही अर्थो मे बुद्धि योग है; अन्य योग नाम साधना तो इसी बुद्धि योग के आनुषगिक विषय हैं। गीता मे हमे दो ही प्रकरण विस्तार से कहे मिलते हैं, कर्म से नैष्कर्म्य तक का ज्ञान तथा दूसरा जगत् परमात्मा तक का ज्ञान। परमात्मा सब कुछ है उसके अतिरिक्त कुछ नही है। योग सिद्धि के रूप मे तत्त्वतः इन सबका ज्ञान योगी को प्राप्त होता है; यही बताने के बहाने इस महान ज्ञान को जिसे वेदान्त भी स्पष्ट नही कर सका था; गीता ने स्पष्ट किया है। प्रस्थानत्रयी कहकर गीता को शेष दोनो के साथ जोडना गीता के साथ न्याय नही है। सचमुच मे गीता ज्ञान की दृष्टि से एक नवीन स्वतत्र ग्रंथ है जिसका आधार अवश्य वेदो, उपनिषदों एव ब्रह्मपुत्र का दार्शनिक विवेचन है। पर गीताकार ने इन्ही के आधार पर षड्दर्शनो ने जो कुछ प्रतिपादित किया था; उसको तात्विक एव यथार्थ रूप मे सव्यवहार एव सविज्ञान हमारे सामने प्रस्तुत किया है तथा परा अपरा से पृथक परात्पर सत्ता 'सर्वमिद ततम्' की पहली बार हमारे सामने सर्वथा नवीन ज्ञान दृष्टि प्रस्तुत की है। वह परमात्मा ही एक मात्र आराध्य है। देवता तो उसकी विभूति हैं। आत्मा जो कष्ट से दर्शनीय है; उसका अंशभर है। देवताओं की भक्ति मे अभ्युदय तथा आत्मा के दर्शन से अपरा मुक्ति हो सकती है। पर परा मुक्ति तो केवल परात्पर की अनन्य भक्ति से ही हो सकती है। गीताकार ने ज्ञान, कर्म, ध्यान, समत्व के साथ साथ ही अनन्य अव्यभिचारिणी सर्व समर्पणयुक्ता परात्पर भक्ति का जो ज्ञान दिया है वास्तव में यही परात्पर प्राप्ति का ज्ञान बुद्धि योग का विषय है। मोक्ष इसकी उपलब्धि है। अन्य अन्य योग ज्ञान इसके साधन हैं। वह परात्पर, उसकी भक्ति एव उसकी प्राप्ति विषय को हम यहां यदि देंगे तो उस विषय

के साथ न्याय नहीं कर सकेंगे। गीता के सातवें अध्याय से लेकर १५ वें अध्याय तक कुल ९ अध्यायों में यही परात्पर प्रकरण व्याख्यायित है। छठे अध्याय के बाद ही जोड़ देते तो शायद विषय को समझने में अधिक सुविधा रहती। शेष अध्याय १ से ६ तक तथा १६ से १८ अर्थात् ९ अध्यायों में क्रमबद्ध परात्पर विचार विस्तार भय से पृथक लेख के माध्यम से ही हम प्रस्तुत करेंगे। यहां हम सूत्र रूप में उस विषय से सम्बन्धित गीता के अध्याय एवं श्लोकों की सूचना कुछ विवरणों के साथ दे रहे हैं जिससे विषय को समझने में सुविधा रहेगी।

ध्यान योग की सिद्धि पर वह योगी परमात्मा की शक्तियों को तत्त्वत: जानेगा। इसी विषय के संदर्भ में गीताकार ने परमात्मा की मूर्तियों एवं स्वरूपों का दिग्दर्शन एवं व्याख्या गीता में प्रस्तुत की है। भगवान् कहते हैं—

मय्यासक्तमना: पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रय: ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।।७.१
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत: ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।७.२
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत: ।।७.३

हे पार्थ ! मेरे प्रति आसक्त मन हो मुझ परायण, हुआ ध्यान योगी जिस प्रकार मुझको समग्र एवं असंदिग्ध रूप से जानेगा उसे सुन। मैं तेरे लिए इस तत्व ज्ञान को जिस प्रकार सविज्ञान तथा सम्पूर्णता के साथ कहूंगा, जिसे जानने के बाद फिर संसार में जानने योग्य और कुछ शेष नहीं रहेगा। सहस्रों मनुष्यों में कोई ही ध्यान योग की इस सिद्धि के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वालों में भी कोई ही मुझ परमात्मा को तत्त्वत: जानता है। गीता परमात्मा को तत्त्वत: जनाने वाला ग्रंथ है। परमात्मा का तत्त्व ज्ञान अध्याय ७ के श्लोक ४ से अध्याय ८ के १० तक विस्तार से वर्णित है। श्लोक ८.११ से ८.२२ तक परम पद का ज्ञान कराया गया है। श्लोक ८.२३ से ८.२८ तक यह बताया है कि कौन पुनर्जन्म लेते हैं और कौन नहीं लेते। अध्याय ९ के श्लोक ४ से श्लोक १९ तक भूतों का व परमात्मा का सम्बन्ध, श्लोक ९.२० से ९.३४ तक तथा श्लोक १०.१ से १०.३ तक देवपूजा व परमात्मा की पूजा का क्या फल है यह बताया है। श्लोक १०.४ व १०.५ में प्राणियों के २० विविध भावों का वर्णन परमात्मा के संदर्भ में हुआ है; तथा श्लोक १०.६ में बताया है कि परमात्मा के भाव वाले उनके ही मानस पुत्र सातों ऋषि तथा इनसे पूर्व हुए चारों सनकादिक ऋषि तथा चौदह मनुओं की ही संसार में यह सारी प्रजा है। इस तरह भगवान् ने गीता में अध्याय ७ के श्लोक ४ से अध्याय १० के श्लोक ६ तक तत्त्वत: अपने विभूति योग का वर्णन किया है। भगवान् कहते हैं कि जो उनकी इस परम ऐश्वर्यमयी विभूति को और उसके योग को तत्व से जानता है वह पुरुष अविकम्प योग के माध्यम से उस परमात्मा में ही एकीभाव से स्थापित होता है। परमात्मा भी ऐसे सतत योग युक्त तथा प्रीतिपूर्वक भक्ति करने वाले को ही ऐसे बुद्धि योग का ज्ञान देते हैं जिससे वे उसको ही प्राप्त होते हैं। बुद्धि योग के साथ यहां दो बातें आई हैं (१) सतत अविगम्य योग युक्तता

तथा (२) चित्त और प्राण से प्रभुपरायण भाव से प्रीतिपूर्वक भक्ति। इन दोनों से ही साधक को बुद्धियोग की प्राप्ति होती है। भगवान् ने यहां स्पष्ट शब्दों में गीता के इस योग को बुद्धियोग कहा है। न ज्ञानयोग कहा है न कर्मयोग। न ध्यानयोग कहा, न अन्य कुछ, केवल बुद्धियोग कहा। जिससे वे परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०.१०

यहां आकर बुद्धि का विषय समाप्त होता है। श्लोक २.३९ से प्रारम्भ होकर श्लोक १०.११ पर आकर बुद्धियोग का विषय समाप्त होता है। श्लोक २.३९ से पूर्व सांख्य दर्शन का आत्म प्रसंग विवेचित हुआ है। श्लोक २.३८ का अर्थ भी कई विद्वान सही नहीं लगा रहे हैं। श्लोक है—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥२.३९

यह ज्ञान तुझे सांख्य दर्शन के अनुसार दिया अब योग के अनुसार सुन। योग से युक्त होने पर हे पार्थ, तू अपने युद्ध कर्म से उत्पन्न कर्मबंधन को अच्छी तरह नष्ट कर देगा। कई विद्वानों द्वारा योग शब्द को निष्काम कर्म योग कह कर भाष्य किया गया है। जो सर्वथा विषयानुसार नहीं है। आगे के श्लोक २.४२ में इसी बुद्धियोग की प्रशंसा है। कर्मयोग की प्रशंसा नहीं है न वह हो सकती है। क्योंकि कर्मयोग में कहां अभिक्रम और कहां प्रत्यवाय।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥२.४०

इस बुद्धि योग में अभिक्रम का नाश नहीं होता और बीच में साधना छोड़ देने पर कोई विपरीत प्रभाव या दोष भी नहीं होता। इस बुद्धि योग रूपी धर्म की स्वरूप साधना भी बड़े से बड़े भय से रक्षा करने वाली है। इसीलिए गीताकार ने कहा—

बुद्धौ शरणमन्विच्छ ।२.४९

श्लोक २.३९ से लेकर १०.११ तक बीच बीच में जितने भी योग आए हैं वे सब बुद्धियोग की सिद्धि के ही सहायक योग हैं। बुद्धियोग को ही भगवान् ने महत् भय से त्राण देने वाला धर्म कहा।

यद्यपि बुद्धियोग का विषय यहां आकर समासतः समाप्त हो जाता है पर अर्जुन भगवान् से विस्तार से ध्यानयोग की विभूतियों को जानना चाहता है और भगवान् उसके अनुरोध को स्वीकार कर लेते हैं—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१०.१८
हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१०.१९

हे जनार्दन, अपनी योग-विभूति को विस्तार से बताइए क्योंकि इस अमृत

तत्त्व को सुनते सुनते मुझे तृप्ति नहीं हो रही है। हे कुरु श्रेष्ठ अर्जुन, अब मैं तुझे अपनी प्रधान प्रधान दिव्य आत्म विभूतियों को कहूँगा। क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का कोई अन्त नहीं है। इस तरह बुद्धियोग का समाप्त हुआ विषय फिर विस्तार पाता है। श्लोक १०.२० से १०.४२ तक भगवान् ने अपनी प्रधान प्रधान विभूतियों का वर्णन किया है।

अध्याय ११ में भक्ति योग का विषय प्रतिपादित हुआ है। भक्ति बुद्धियोग का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। अर्जुन भगवान् से विराट रूप दर्शन की इच्छा व्यक्त करता है। भगवान् अर्जुन को अपने विराट् ईश्वर रूप का दर्शन कराते हैं। (श्लोक ११.५-१३) इस विश्व रूप को देखकर अर्जुन भयभीत हुआ प्रार्थना व स्तुति करने लगता है (१८.१४ से ११.४६ तक)। अर्जुन चतुर्भुज रूप दिखाने की प्रार्थना करता है तो भगवान् चतुर्भुज रूप दिखाते हैं (११.४७ से ११.५० तक फिर ११.५२ से ५५ तक)। फिर सौम्य मनुष्य रूप की प्रार्थना करता है तो भगवान् सौम्य मानुप रूप में आ जाते हैं। (११ ५०.५१)

आपको स्मरण होगा यह ध्यानयोग के चमत्कार का विषय था। ध्यानयोग से प्राणी अपनी देह में स्थित आत्मा का दर्शन करता है। गीताकार ने आत्मदर्शन की प्रक्रिया को अर्थात् ध्यान योग को एक कठिन साधना कहा है। देखिए—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१२ १
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥१२.३
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥१२.४
क्लेशोऽधिकतरस्तेपामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥१२.५

और जो भक्त सतत आपसे युक्त होकर आपकी उपासना करते हैं उनमें और जो आत्मा की उपासना करते हैं उनमें कौन उच्च योग देता है? अर्जुन ऐसे प्रश्न करता है। भगवान् इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—ये जो अनिर्देश्य अव्यक्त अक्षर आत्मा की उपासना करते हैं वे सर्व भूतों के हित में रत साधक मुझ परमात्मा को ही प्राप्त करते हैं; पर आत्मा के प्रति आसक्त चित्त वालों को क्लेश अधिक उठाना पड़ता है क्योंकि आत्मदर्शन की सिद्धि देहाभिमानी दुःखपूर्वक ही प्राप्त करता है।

इन श्लोकों का भाष्य करते हुए अनेक विद्वानों ने साकार व निराकार की उपासना का भाव लगाया है वह सर्वथा गलत है। न तो त्वां का अर्थ सगुण परमेश्वर है, न अक्षर अव्यक्त का अर्थ निराकार अविनाशी सच्चिनानंद घन। दोनो ही अर्थ त्रुटिपूर्ण हैं। सगुण का अर्थ क्या है? क्या सगुण से अभिप्राय विश्व रूप है या चतुर्भुज रूप है या अवतारी मानुपो सौम्य रूप है? जो ऐसा सोचते हैं वे सर्वथा गलत हैं। सारी गीता में 'अहम्' शब्द परात्पर परमात्मा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। आत्मा के लिए भी नहीं। हां, अवतारी पुरुष के सन्दर्भ में भी 'अहम्' ही आया

है। इसी के कारण और गीता के 'वासुदेवमितिसर्व' आदि वाक्यों से यह भाव कि अवतारी पुरुष परात्पर परमात्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, सुदृढ हुआ है; लेकिन भगवान् ने उनके सगुण रूप की आराधना की कहीं कोई बात नहीं कही है। मैं व्यक्तिगत रूप से सगुण रूप भी दो प्रकार के मानता हूं, एक तो अवतारी पुरुष तथा दूसरे जो अपनी बुद्धियोग साधना से तद्रूप हो गए हैं। लेकिन गीता में इन दोनों रूपों की आराधना अथवा उपासना की कहीं कोई बात नहीं आई है। गीताकार ने तो स्पष्ट रूप से देवपूजा, पितृपूजा अथवा भूतपूजा सब का विरोध किया है।

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रता:।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥९.२५

देवव्रती देवों को, पितृव्रती पितरों को, भूतेज्य भूतों को तथा परात्पर परमात्मा के भक्त उस परमात्मा को ही प्राप्त होते है। वे जन्म मरण के भय से युक्त हो जाते हैं।

गीताकार ने यज्ञों का भी विरोध किया है। वे भी परमात्मा को प्राप्त नहीं होते, केवल स्वर्गदायी होते हैं। पुण्य क्षीण होने पर पुनः आवागमन के बंधन में बंधना होता है।

त्रैविद्या मां सोमपा: पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥९.२०
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥९.२१

तीनों वेदों में वर्णित विद्याओं के ज्ञाता, सोमपायी, पूतपाप जन परमात्मा को अग्निष्टोमादि यज्ञों द्वारा पूजन कर स्वर्ग की कामना करते हैं। वे अपने पुण्यों के फलस्वरूप सुरेन्द्र लोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं। वे उस विशाल स्वर्ग लोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर पुन: मर्त्य लोक को प्राप्त होते हैं और वे त्रयीधर्म से अनुपपन्न कामकामी गतागत स्थिति को प्राप्त होते रहते हैं। यज्ञ वाले विषय को हम पृथक् लेख में विस्तार से ले रहे हैं अत: यहीं इसे विराम दे रहे हैं।

भगवान् ने अपनी भक्ति का विषय भी विस्तार से गीता में कहा है। भक्ति के विविध उपाय अध्याय १२.६ से १२.२० तक भगवान् ने बताए हैं। भक्तियोग नामक लेख में इसका हम सविस्तार विवेचन करेंगे। भक्तियोग के इस विषय के साथ ही भगवान् ने गीता में सविज्ञान ज्ञान का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। भगवत् तत्त्व के यथार्थ ज्ञान का नाम बुद्धि है। उससे युक्त होने वाले ही ही बुद्धियोगी हैं। बुद्धियोग में परमात्मा विषयक समस्त तत्त्व ज्ञान का ज्ञान अर्पित करना परम आवश्यक है। भगवान् ने अध्याय ७ से लेकर अध्याय १२ तक परमात्मा को सर्वकामी सिद्ध करते हुए विभिन्न विषयों से उनके सम्बन्धों को प्रकट करने की चेष्टा की है। हम इस विषय को इस प्रकार बांट सकते हैं—

१ परमात्मा का क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ से सम्बन्ध। (१३.२ से १३.१८ तक)
२ परमात्मा का प्रकृति पुरुष से सम्बन्ध। (१३.१९ से ३४ तक)

३ परमात्मा का त्रिगुणात्मक महद् ब्रह्म से सम्बन्ध। (१४.३ से २७ तक)
४ परमात्मा का क्षर अक्षर से सम्बन्ध। (१५.१ से १५.२० तक)
५ परमात्मा का दैवी व आसुरी सम्पदाओं से सम्बध। (१६.१ से २४ तक)
परमात्मा विषयक लेख भी पृथक् से लिखा जाता है। अत: यहां विस्तार में न जाते हुए हम यही कहेंगे कि परमात्मा के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान गीता ने हमारे सामने रखा है। यह ज्ञान बुद्धि ही बुद्धियोग के नाम से जानी जाती है। इस तरह हम देखते हैं गीता बुद्धियोग का एक महान् प्रस्तोता बन गया है।
६ शास्त्र विरुद्ध उपासकों की श्रद्धा का परमात्मा से सम्बन्ध।
७ त्याग का परमात्मा से सम्बन्ध। (१८.१-१२)
८ गुण कर्म स्वभाव का परमात्मा से सम्बन्ध। (१८.१३ से १८.४९ तक)

भगवान् कृष्ण के व्याज से, वेदव्यास ने उपर्युक्त सविज्ञान विवरण प्रस्तुत कर आगे ज्ञान की परा निष्ठा अर्थात् बुद्धियोग को संक्षेप में प्रस्तुत किया है। भगवान् अपने श्रीमुख से फरमाते हैं कि हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जिस ज्ञान निष्ठा से अर्थात् बुद्धियोग से ब्रह्म को प्राप्त होता है उस ज्ञान की परा निष्ठा को मुझ से सुन।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥१८.५०

गीताकार ने अपने प्रतिपादित ज्ञान बुद्धियोग का समाहार इस प्रकार किया है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विपयांस्त्यक्त्वा रागद्वेपौ व्युदस्य च ॥१८.५१
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस:।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रित: ॥१८.५२
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्मम: शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१८.५३

१ ब्रह्म रूप होने के लिए साधक को कैसा होना चाहिए? इसका विवेचन करते हुए वेदव्यास कहते हैं विशुद्ध बुद्धि से युक्त होकर, सात्त्विक धारणा से अन्त:करण को वश में करके शब्दस्पर्शरसरूपगन्ध आदि विषयों को त्याग, राग द्वेष को छोड़, एकान्त सेवी मिताहारी हुआ, मन वाणी एव शरीर से दृढ़ वैराग्य को प्राप्त होकर नित्य ध्यान योग में परायण रहे तथा अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध में सञ्चय को त्याग, निर्मम व शान्त होकर रहे वही ब्रह्म से तद्रूप होने योग्य होता है।
२ तद्रूप हुए पुरुष के लक्षण बताते हुए कहते हैं—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥१८.५४

ब्रह्म रूप हुआ पुरुष सदा प्रसन्नात्मा होता है। वह न शोक करता है और न

किसी वस्तु की आकांक्षा करता है। वह सभी भूतों में समभावी होता है तथा परमात्मा की पराभक्ति को प्राप्त होता है।

३ पराभक्ति का प्रभाव—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।१८.५५
सर्वकर्मण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।१८.५६

पराभक्ति से परमात्मा जिस जिस प्रभाव वाला है उसे साधक जानता है तथा उस ज्ञान से परमात्मा को तत्त्वतः जानता हुआ तदनन्तर उसी में प्रवेश कर जाता है फिर उसी परमात्मा के पराभव हुआ सम्पूर्ण कर्मों को करता हुआ परमात्मा के प्रसाद से उसके सनातन अव्यय पद को अर्थात् कभी व्यय न होने वाले पद को प्राप्त होता है।

४ अतः आदेश—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।१८.५७

सब कर्मों को मन से परमात्मा में संन्यस्त कर, उसी के परायण हुए, बुद्धियोग का अवलम्ब करते हुए सतत प्रभु ध्यानी हो जाओ।

उसके ध्यान को प्राप्त हुए तो उसकी कृपा से समस्त संकटों को पार कर जाओगे। यदि अहंकारवश इस आदेश को नहीं सुना तो नष्ट हो जाओगे।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।।१८ ५८

अतः सर्वभावेन उस परमात्मा की ही शरण को प्राप्त होओ। उसके प्रसाद से परा शान्ति तथा शाश्वत स्थान को प्राप्त करोगे।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।१८ ६२

आगे फिर कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।१८.६५
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।१८.६६

परमात्मा में सतत मन वाला, परमात्मा का भक्त, परमात्मा की पूजा उपासना करने वाला, सदा उसको नमस्कार करने वाला हो। ऐसा करने वाला उस परमात्मा को ही प्राप्त होता है। सारे धर्मों को त्याग कर केवल उस परात्पर परमात्मा की ही शरण ग्रहण करो। वह सारे पापों से मुक्त कर देगा, इसमें शोचनीय कुछ भी नहीं है।

५ बुद्धि योग की प्रशंसा—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।१८.६३

× × ×

सर्वगुह्यतमं भूय: शृणु मे परमं वच: ।१८.६४

× × ×

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।१८.६८

× × ×

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयत: स्वयम् ।।१८.७५

इस बुद्धि योग को जो वेदव्यास जी की कृपा से आज गीतारूप में हमारे सम्मुख है, स्वयं व्यास जी ने 'गुह्याद गुह्यतरं' 'सर्व गुह्यतमं' 'परमं गुह्यं' 'गुह्यं परम् योगं' आदि शब्दों से अलंकृत किया है। इतना ही नहीं धर्मभूमि एवं कर्मभूमि कुरुक्षेत्र में साक्षात् योगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन से कहा है। अत: सर्वत्र: अनुकरणीय है। □

ज्ञानयोग

ज्ञान निष्ठा अति प्राचीनकाल से चली आ रही है। श्री वेदव्यास ने स्वयं इसकी प्राचीनता को स्वीकारा है तथा इसे पृथ्वी पर अवतारी पुरुषों द्वारा बताया मोक्ष प्राप्ति का एक मार्ग कहा है। गीता की विलक्षण लेखन-विद्या के अनुसार स्वयं भगवान् कृष्ण जो साक्षात् परमात्मा के अवतार हैं, अर्जुन को इस प्रकार कहते हैं—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।३.३

हे अनघ ! इस लोक में मेरे द्वारा पहले भी दो प्रकार की निष्ठाएँ कही गई हैं। ज्ञानियों की ज्ञान योग के नाम से तथा योगियों की कर्मयोग के नाम से।

सांख्य योग के प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं। भगवान् कृष्ण ने अपने विभूति योग वर्णन में अपने को ही सिद्धों में कपिल मुनि बताया है। 'सिद्धानां कपिलो मुनि:' (१०.२६)। इस तरह कपिल के रूप में परमात्मा ने ही अवतार लेकर पृथिवी पर कर्म बन्धन से बँधे दु:खी मनुष्यों के मोक्ष के लिए सांख्य ज्ञान का उपदेश दिया है। अर्जुन ने भगवान् के पूर्व जन्म शंका भी की है इसका उत्तर भगवान् कृष्ण ने स्वयं इस प्रकार दिया है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।४.५

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके हैं। मैं उन सबको जानता हूँ। हे परंतप ! तुम नहीं जानते। इस उत्तर से हमें सन्देह नहीं रहता कि

सांख्य के प्रवर्तक कपिल के रूप में स्वयं परमात्मा ही अवतरित थे। अवतारवाद विषयक यह लेख नहीं है अत: हम इस प्रसंग को यहां विस्तार न देते हुए अपने विषय ज्ञानयोग पर ही आ जाते हैं।

ज्ञान की गीता में महर्षि व्यास ने बड़ी प्रशंसा की है। उनके अनुसार इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।४.३८

जैसे प्रज्वलित अग्नि इंधन को भस्मसात् कर देती है वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि मनुष्य के सम्पूर्ण भौतिक कर्म-संस्कारों को भस्मसात् कर देती है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।४.३७

इस ज्ञानरूपी नौका में बैठकर पापियों से भी अधिक पाप करने वाला अर्थात् अधमाधम तक भी संसार सागर को अच्छी प्रकार तर जाता है।

अपि चेदसि पापेभ्य: सर्वेभ्य: पापकृत्तम: ।
सर्व ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।।४.३६

द्रव्यमय यज्ञ से भी ज्ञान यज्ञ अधिक श्रेयस्कर है; क्योंकि सारे ही कर्म ज्ञान में आकर परिसमाप्त हो जाते है। ज्ञानाग्नि उन कर्म संस्कारों को जला देती है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ: परंतप ।
सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।४ ३३

ज्ञान सारे सशयों को संछिन्न कर देता है। ज्ञान प्राप्ति के बाद सत्-असत्, जड़-चेतन आदि के निर्णय में किसी प्रकार का संशय नहीं रहता।

ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।४.४१

क्योंकि ज्ञानियों की बुद्धि एक निश्चयात्मक, अभेदात्मक, व्यवसायात्मिक हो जाती है। अज्ञानियों की तरह उनकी बुद्धि बहुशाखा वाली तथा अनन्त भेदों वाली अव्यवसायी नहीं होती।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।२.४१

जो ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि से युक्त होते हैं वे कर्म बन्धन को सम्पूर्णता के साथ नाश कर देते है तथा परम नैष्कर्म्य सिद्धि को इस ज्ञान योग के द्वारा जिसे सांख्य योग तथा संन्यास भी कहा गया है, प्राप्त होते हैं।

नेष्कर्म्यसिद्धि परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।१८.४९

ज्ञान योग से जो नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं वे सच्चिदानन्द घन ब्रह्म को प्राप्त कर वे फिर मोह को प्राप्त नहीं होते तथा अपने अन्तर्गत ही सम्पूर्ण भूतों को देखते है।

सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।१८.५०

× × ×

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।।४.३५

ज्ञान प्राप्ति का उपाय—

यह ज्ञान बिना गुरु के प्राप्त नहीं होता । कहा भी है 'गुरु बिन होई न ज्ञाना' गीता में भी भगवान् कृष्ण ने इस तथ्य को स्वीकारते हुए गुरु की कैसे सेवा करनी चाहिए; गुरु से ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाता है ? इस पर भी प्रकाश डाला है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ।।४.३४

उस ज्ञान को प्रणिपात परिप्रश्न तथा सेवा से जान । वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे । इस श्लोक में तीन शब्द आए हैं; प्रणिपात, परिप्रश्न तथा सेवा । प्रणिपात का अर्थ है सम्पूर्णता के साथ समर्पित हो पूर्ण श्रद्धा के साथ प्रतिदिन उठते ही दण्डवत प्रणाम करना । परिप्रश्न का अर्थ है विषय से सम्बन्धित सभी प्रकार के प्रश्न पर प्रश्न करना, सकोच न करना । सेवा का अर्थ है सभी प्रकार से सन्तुष्ट करते रहना । गुरु से इस विधि से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । विनम्रता, जिज्ञासा तथा सेवाभाव, शिष्य में ये तीन गुण आवश्यक रूप से होने चाहिए । तभी वह ज्ञान प्राप्त कर सकता है । गीताकार ने इसी श्लोक में ज्ञानी के साथ तत्त्वदर्शी भी जोडा है, उसका अर्थ है, केवल पुस्तकीय ज्ञान वाला ज्ञानी नहीं, जो प्रत्यक्षत: परमात्म तत्त्व को जाना हुआ हो. ऐसे ज्ञानी को गुरु बनाना चाहिए । गुरु बनने की पात्रता हर एक मे नहीं होती । तत्त्वदर्शी ही गुरु हो सकता है, केवल तत्त्वज्ञ नहीं । तत्त्वदर्शी तत्त्वज्ञ ही गुरु की पात्रता रखता है । ऐसे ही ज्ञानी को गुरु बनाकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । ज्ञान प्राप्ति के लिए शिष्य मे गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा होनी चाहिए । तत्परता होनी चाहिए तथा इन्द्रियों पर सयम होना चाहिए । यदि इन्द्रियां सयत नही होंगी तो वे चञ्चल रहेगी । चञ्चलता विषय के प्रति तत्परता और गुरु-परायणता दोनो को नष्ट कर देती है यदि गुरु के प्रति सेवा, प्रणिपात तथा परिप्रश्न का भाव नही रहा तो फिर श्रद्धा कहां रही । फिर ज्ञान कैसे प्राप्त होगा । प्रणिपात परिप्रश्न सेवा इन बाह्य गुणों के साथ-साथ श्रद्धा, तत्परता तथा संयम ये आन्तरिक गुण भी ज्ञान की प्राप्ति के लिए शिष्य में आवश्यक हैं । गीता में कहा भी है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्पर: संयतेन्द्रिय: ।।४.३९

जिसने प्रणिपात, परिप्रश्न, सेवा, श्रद्धा, तत्परता तथा संयम इन छहों बाह्य एवं आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए ज्ञान प्राप्त कर लिया उसे परा शान्ति प्राप्त होते देर नही लगती ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।४.३९

जो अज्ञानी हैं, अश्रद्धालु हैं तथा असंयतात्मा हैं वे ज्ञान प्राप्त नही कर सकते । उनका नाश ही अवश्यम्भावी है । ऐसे संशयात्मा के लिए यह ससार तो बन्धन एव दु:ख का कारण है ही, उनका परलोक भी सुख का कारण नही होता । ऐसे व्यक्ति को इस लोक में तथा परलोक दोनों में सुख नही मिलता ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।४.४०

अतः पूर्ण श्रद्धा के साथ ज्ञान प्राप्त कर समस्त लौकिक संशयों को नष्ट कर अपना यह लोक तथा परलोक सुधारते हुए परम शांति को प्राप्त करना चाहिए। गीता का यही ज्ञानोपदेश है ।

ज्ञान का विश्लेषण—

वह ज्ञान क्या है जिसका तत्त्वदर्शी ज्ञानी उपदेश करेंगे; गीता में इसका भी विस्तार से प्रभाव सहित सविज्ञान विवेचन हुआ है । ज्ञान, विज्ञान तथा प्रभाव सहित इस कर्मसंन्यासमूलक सांख्ययोग प्रवर्तित ज्ञान को गीता में वेदव्यास ने जिस विस्तार से प्रस्तुत किया है उसे जानने का हम यत्न करेंगे ।

ज्ञान के भेद—

सांख्य शास्त्र के अनुसार गुण भेद से ज्ञान के तीन भेद माने है—'ज्ञान···· त्रिधैव गुणभेदतः' । (१८.१९) पहला है सात्त्विक ज्ञान, दूसरा है राजस ज्ञान तथा तीसरा है तामस ज्ञान । जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य समस्त विभक्त भूतग्रामों में एक अव्यय भाव को अविभक्त रूप से स्थित देखता है, वह ज्ञान सात्त्विक ज्ञान है । जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में पृथक् विधान वाले नाना भावों को पृथक् करके देखता है; अर्थात् हर प्राणी का अपना पृथक् भाव; इस तरह प्राणी प्राणी का अपना अपना पृथक् पृथक् भाव मानते हुए; जितने प्राणी उतना भाव मानते हैं वह ज्ञान राजस कहा जाता है और जो ज्ञान एक कार्य रूप शरीर में ही तथा जो अहैतुक, अतत्त्वार्थवत तथा अल्प फल विषयक है अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानकर उस पर सर्वस्व की भांति आसक्त यथार्थ अर्थ से रहित वह ज्ञान तामस कहा जाता है ।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।१८.२०
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञान नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।।१८.२१
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।।१८.२२

साख्य शास्त्र निरीश्वरवादी माना जाता है । वह अक्षर अव्यक्त को ही अव्यय पुरुष मानकर चलता है । इस कारण आत्मा पर ही उसका पूर्ण ध्यान रहता है । गीता का ज्ञान आत्मा को अंशरूप व नित्य मानता है । कहता है—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।।२.१७
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।२.१३
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।१५.७

आत्मा का शरीरान्तरण—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।२.१९

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।२.२०

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।।२.२१

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।२.२२

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः । २.२३

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सवगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।२.२४

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२.२५

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२ ३०

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।२.१२

जो इस सम्पूर्ण जगत् में आत्मरूप में व्याप्त है वह तो अविनाशी है । इस अव्यय का विनाश करने में कोई समर्थ नहीं है । इस जीव लोक में शरीर मे स्थित आत्मा मेरा ही अंश है । जैसे जीवात्मा इस देह मे कौमार्य, यौवन एवं जरा को प्राप्त होता है वैसे ही यह देही (आत्मा), दूसरा शरीर प्राप्त करता है । अर्थात् जैसे स्थूल देह के तीनों विकार कुमार, युवा और जरा अज्ञान से आत्मा में भासता है वैसे ही सूक्ष्म शरीर का एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होना रूप विकार भी अज्ञान से भासता है । इसलिए तत्त्व को जानने वाला धीर पुरुष इस विषय में मोहित नहीं होता । जो इस आत्मा को हन्ता या हत हुआ मानते हैं वे इसे नहीं जानते । यह आत्मा न मारता है न मारा जाता है । न यह कभी उत्पन्न होता है न कभी मरता है । न यह हुआ है न फिर होने वाला है । यह तो अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है । यह शरीर के नाश होने पर भी नाश नहीं होता । जैसे

आदमी अपने जीर्ण वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्र धारण कर लेता है, वैसे ही यह आत्मा जीर्ण शरीर को त्याग; अन्य नये शरीर में चला जाता है। इसको न तो शस्त्र छेद सकता है न इसको अग्नि जला सकती है, न इसे पानी गला सकता है और न मारुत सुखा सकता है। यह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल तथा सनातन है। यह अव्यक्त, अचिन्त्य एवं अविकार्य है। सभी की देहों में स्थित यह देही नित्य तथा अवध्य है।

सदसद् विवेचन—

ज्ञान के बाद हम सत् असत् ज्ञान का निरूपण कर रहे हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा:।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥२.१४

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥२.१५

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि: ॥२,१६

अन्तवन्त इमे देहानित्यस्योक्ता: शरीरिण:।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥२.१८

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२.२७
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२.२८

शब्दस्पर्शरूपरसगंधादि तन्मात्राओं का संयोग द्वन्द्वात्मक है अत: इनके स्पर्श शीतलता उष्णता, सुख दु:ख देने वाले हैं। ये सुख-दुख अथवा स्पर्श सब क्षणभंगुर तथा अनित्य हैं। अत: इन्हें धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। क्योंकि असत् का कोई अस्तित्व नहीं होता और सत् का कहीं अभाव नहीं होता है। यह देह जो असत् है उसी का अन्त होता है। शरीरी जो सत् है वह नित्य, अविनाशी तथा अप्रमेय है। जो शरीर जन्मा है, असत् होने से उसकी मृत्यु ध्रुव सत्य है, अटल है। साथ ही जो शरीर मरा है उसमें जो अविनाशी, अप्रमेय, नित्य आत्मा था, उसका नया शरीर ग्रहण करना भी उतना ही अटल है। प्राणी मात्र जन्म से पहले अव्यक्त और निधन के बाद भी अव्यक्त हैं, केवल बीच में ही शरीर वाले व्यक्त हैं। अर्थात् आत्मा पहले भी आत्मा थी, शरीर के नाश होने पर भी आत्मा ही होगी। केवल बीच में ही शरीर रूप में व्यक्त दिखती है। वह अमर है, यह कार्य रूप शरीर ही नाशवान है। इस तरह ज्ञान का दूसरा पृष्ठ सत् और असत् के अन्तर को बताना है। पहले आत्म तत्त्व विवेचन हुआ और अब सत् असत् का भेद दिग्दर्शन।

सुख दु:ख विषयक ज्ञान :

आत्मा सत् है। शरीर असत् है। नाश शरीर का होता है, आत्मा का नहीं।

इस तत्त्व को जानते हुए और यह भी जानते हुए कि आद्यन्तवन्त आगमापायी अनित्य संस्पर्शजभोग दुःखयोनि है अतः बुद्धिमान ज्ञानी उनमें नहीं रमता।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।५.२२

जो व्यक्ति मृत्यु पर्यन्त काम क्रोध से जो वेग उत्पन्न होता है उसे सहन कर लेता है वही मुक्त और सुखी है।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।।५.२३

आत्मा का अकर्त्ता रूप

अब ज्ञान योग के अन्तर्गत ही आत्मा और कर्म के असम्बन्धत्व का हम विवेचन प्रस्तुत करेंगे —

आत्मा और कर्म

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।।५.१३
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।५.१४
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।५.१५

इस नव द्वार वाले शरीर रूपी पुर में देही आत्मा न तो कुछ करता है न करवाता ही है आत्मा न तो कर्तव्य का, न लोक कर्म का और न ही कर्म फल संयोग का सृजन करता है। यह तो प्रकृति का स्वभाव है, वह स्वभाव ही प्रवर्तित हो रहा है। आत्मा न तो किसी के पाप कर्म को, न किसी के पुण्य कर्म को ग्रहण करता है। अज्ञान से ज्ञान ढका है। पशु तुल्य मानव कर्मों के प्रति इसी अज्ञान के कारण विमोहित हो रहा हैं।

आत्मा, पराप्रकृति

अब विज्ञान सहित ज्ञान के विषय को हम लेते हैं—

विज्ञान सहित ज्ञान का विषय

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।७.४
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।७.५
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।।७.६
मत्तः परतरं नान्यात्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।७.७

भूमि, जल, अनल, वायु और आकाश, मन बुद्धि और अहंकार ये भिन्न भिन्न आठ प्रकार की प्रकृति है। ये आठों अपरा प्रकृति हैं। दूसरी अन्य जीवरूप परा अर्थात् चेतन प्रकृति है जिससे यह जगत धारण किया जाता है। सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न हैं। ये दोनों उस परमात्मा की ही प्रकृतियाँ हैं अतः इन दोनों के माध्यम से वह पर पुरुष ही इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का कारण है। उस पर पुरुष के परे किंचित अन्य कुछ नहीं है। सूत्र में मणियो की भांति यह व्यक्त जगत उस पर पुरुष में ही पिरोया हुआ है।

विज्ञान सहित ज्ञान की प्रशंसा – गीता में प्रयुक्त विज्ञान सहित ज्ञान को भगवान् ने गुह्यतम राज विद्या, राजगुह्य, धर्म्य, सुसुख तथा अव्यय ज्ञान कहा है। इस ज्ञान को जानने वाला इस दुःख रूपी संसार से मुक्त हो जाता है। यह पवित्र एवं उत्तम है तथा सुगमता से साध्य है। इस ज्ञान धर्म के प्रति जो पुरुष अश्रद्धा प्रकट करता है वह परमात्मा को या मोक्ष को प्राप्त न कर मृत्यु-ससार के आवागमन चक्र में घूमता रहता है।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।९.१
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ।।९.२
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।।९.३

प्रभाव सहित ज्ञान का विषय :

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।९ ४
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।९ ५
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।।९.६

अव्यक्त मूर्ति परमात्मा से ही यह समस्त जगत व्याप्त है। सब भूत उस अव्यक्त के अन्तर्गत सकल्प के आधार पर स्थित है पर वह अव्यक्त उनमे अवस्थित नही है। मेरे योग के ऐश्वर्य को देख कि भूतस्थ मेरी आत्मा भूतभृत व भूतभावन होकर भी मुझमे स्थित नही है। ये समस्त भूत मुझ परमात्मा में इस तरह से स्थित है जैसे नित्य सर्वत्रगामी महान वायु आकाश मे स्थित रहता है।

प्रथम दो श्लोको मे आये 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' तथा 'न च मत्स्थानिभूतानि', अर्थ के अभेद मे व्याघात उत्पन्न कर देते हैं। 'न चाहं तेष्वस्थितः' तथा भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः मे अहम् और आत्मा संदेह उत्पन्न कर देती है। क्या अहम् और आत्मा कोई दो वस्तु है।

सचमुच में 'अव्यक्त' के गीता में प्रयुक्त अर्थ को न समझने वाले ही इस दुविधा में पड़ते हैं। अव्यक्त अक्षर आत्मा ही है। अक्षर में गीता के अहम् नहीं है पर अहम् में अक्षर नहीं है। गीता में प्रयुक्त अहम् तो क्षराक्षरातीत है। उससे सब व्याप्त है पर सब भूत होकर भी इसमें स्थित उसमें नहीं है। किस तरह भूत स्थित है? जैसे आकाश में वायु। निर्लिप्त भाव से। आकाश में वायु होकर भी आकाश वायु नहीं है।

ज्ञान सहित क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विषय :

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।१३.१

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।१३.२

यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है। इस क्षेत्र को जो जानता है वह क्षेत्रज्ञ। क्षेत्रज्ञ जो सभी शरीरों में पृथक पृथक स्थित है वह एक अव्यय परमात्मा ही है। जिससे तत्त्वतः क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ को जाना जा सके वही वास्तविक ज्ञान है।

क्षेत्र की परिभाषा :

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।१३.५

इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।।१३.६

पंच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, दशो इन्द्रियां, अर्थात् आँख, नाक, कान, जिह्वा व त्वचा (ज्ञानेन्द्रियाँ) वाणी, पाँव, उपस्थ और गुदा (कर्मेन्द्रियां) एक मन तथा पंच इन्द्रियगोचर विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, तेज, रस व गंध; द्वन्द्वात्मक विकार इच्छा द्वेष, सुख दुःख, देहपिण्ड, चेतना, धृति ये सब मिलकर क्षेत्र कहे गये हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से ज्ञान का स्वरूप :

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
चार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।१३.७

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।१३.८

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।१३.९

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।१३.१०

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।१३.११

१ अमानित्व, २ अदम्भित्व, ३ अहिंसा, ४ शान्ति, ५ आर्जव, ६ आचार्योपासन, ७ शौच, ८ स्थैर्य, ९ आत्मविनिग्रह, १० इन्द्रियार्थों में वैराग्य, ११ अनहंकार, १२ जन्म मृत्यु जरा व्याधि दु:ख दोष अनुदर्शन, १३ इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में समचित्तत्व, १४ पुत्र द्वारा ग्रहादि में अनासक्ति तथा अममत्व (अनभिष्वंग), १५ अव्यय के प्रति अनन्य योग से अव्यभिचारिणी भक्ति, १६ एकान्त प्रदेश में रहने का स्वभाव, १७ जन संसद में अरति, १८ अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति और १९ तत्वज्ञानार्थ दर्शन। ये १९ भाव तो ज्ञान हैं और जो इससे विपरीत १९ भाव होंगे वे निश्चय ही अज्ञान कहे जायेंगे।

क्षेत्रज्ञ विचार :

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।१३.१२

सर्वत: पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वत: श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।१३.१३

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।१३.१४

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।१३.१५

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।१३.१६

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमस: परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।१३.१७

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।।१३.१८

जो ज्ञेय है, उसे जो जान लेता है वह परमानन्द को प्राप्त होता है। वह ज्ञेय अनादिमत परम् ब्रह्म न सत है न असत है। वह लोक में सबको आवृत्त कर स्थित है। वह सर्वत: हाथ पैर वाला सर्वत आंख सिर मुंह वाला तथा सर्वत: कान वाला है। वह सर्वेन्द्रियों से रहित होकर भी सब इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है। वह असक्त होकर भी सबका भरण करने वाला है, निर्गुण होकर भी गुण भोक्ता है; चराचर सब भूतों के बाहर भीतर परिपूर्ण है; सूक्ष्मता के कारण अविज्ञेय है, वह दूर स्थित होकर आत्म रूप मे पास है। वह सर्वथा अविभक्त है लेकिन विभक्त की तरह भूतों में स्थित है। वह ज्ञेय, क्षेत्रज्ञ, भूतभृत (विष्णु), ग्रसिष्णु: (रुद्र) प्रभविष्णु ब्रह्मा) तीनों है। वह तम से परे ज्योतियों की भी ज्योति है। (अर्थात् सूर्य चन्द्र आदि की ज्योति है) वही ज्ञान रूप है, वही ज्ञेय है और ज्ञान से उसे जाना भी जा सकता है। वह क्षेत्रज्ञ सबके हृदयों का निवासी है। जो उस अव्यय परमात्मा का भक्त इस क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ के विचार ज्ञान को जान जाता है; वह परमात्मा के स्वरूप को भी प्राप्त हो जाता है।

ज्ञान सहित पुरुष प्रकृति विचार :

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ।।१३.१६
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।।१३.२६
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।१३.२०
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबघ्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।१४.५
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।१३.२१
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।।१३.२२
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।।१३.२३

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं । चौबीस विकार और तीनों गुण प्रकृति मे ही उत्पन्न हैं । प्रकृति से ही सम्पूर्ण कर्म सर्वशः क्रियमाण हैं । पुरुष अकर्त्ता है । कार्य (पंच भूत एवं पंच तन्मात्राएँ) तथा करण (मन बुद्धि अहँकार तथा दसेन्द्रिय) के उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति ही है । पुरुष प्रकृतिस्थ (अर्थात् मकरण शरीरस्थ) होकर ही प्रकृति जात तीनों गुणों का भोक्ता है । प्रकृति से उत्पन्न सत रज तम ये तीनों गुण ही जीवात्मा को शरीर से बांधे रखते हैं । गुणों के संग के कारण ही पुरुष (जीवात्मा) सदसत् योनियों में जन्म लेता रहता है । यह शरीरस्थ पुरुष देह (त्रिगुणमयी) से परे होने पर परमात्मा कहा जाता है । वैसे देह में यहां उपद्रष्टा, अनियन्ता, कर्त्ता, भोक्ता व महेश्वर है ही । जो गुण सहित पुरुष और प्रकृति को तत्त्व से जान लेता है वह इस संसार में सब प्रकार से वर्तता हुआ भी फिर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता ।

पुरुष को जानने के साधन—

उस आत्मा को कोई ध्यान योग से कोई सांख्य योग से और कोई कर्म योग से अपने आप में ही देखता है । जो इन योग विधियों को नहीं जानते हैं वे अन्य तत्त्व ज्ञानियों से ज्ञान सुनकर उसकी उपासना करते हैं, वे श्रुति परायण भी मृत्यु को तर जाते हैं ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।१३.२४
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।।१३.२५

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयोग का स्वरूप —

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।।१३.२६

जो कुछ भी स्थावर जंङ्गम वस्तुएँ हैं वे क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयोग से ही उत्पन्न हैं। पर चराचर भूतों में क्षेत्रज्ञ परमेश्वर समभाव से स्थिर रहता है। क्षेत्र के नाश होने पर भी क्षेत्रज्ञ का नाश नहीं होता। नाशवानों में स्थित होकर भी यह अविनाशी है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति ।।१३.२७

और जो ईश्वर को प्राणिमात्र में सभभाव से देखता हुआ, सभी को समभाव से देखता है वह अपने द्वारा अपना नाश नहीं करता हुआ परागति को प्राप्त हो जाता है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।१३.२८

यह क्षेत्रज्ञ अव्यय परमात्मा अनादि एवं निर्गुण होने से श ीर में स्थित होकर भी न कुछ करता है, न उससे लिपायमान होता है। जैसे आकाश अपनी सूक्ष्मता के कारण सर्वव्यापी होकर भी कहीं लिपायमान नहीं होता, वेसे ही आत्मा सर्वत्र अवस्थित होता हुआ भी देह में लिप्त नहीं होता। जैसे, एक सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है वैसे ही देह में रहता हुआ यह क्षेत्री क्षेत्रज्ञ आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र अर्थात् शरीर को प्रकाशित करता रहता है। जो इस क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा मायाविनी भूत प्रकृति से विमुक्ति का उपाय ज्ञान नेत्रों से तत्त्वतः जान लेता है वह परम को प्राप्त होता है। अर्थात् आत्मा या क्षेत्रज्ञ को प्राप्त होता है।

भूत सृष्टि विचार प्रकृति पुरुष के संदर्भ में—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।१४.३

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।१४.४

महत् ब्रह्म योनि है और पुरुष गर्भ स्थापक है। पुरुष और प्रकृति के इस संयोग से ही सारे भूतों की उत्पत्ति होती है। जिन जिन योनियों में जो जो आकार उत्पन्न होते हैं उनका कारण महत् ब्रह्म योनि तथा बीजप्रद पिता पुरुष ही कारण भूत है।

सांख्यानुसार कर्म के होने का कारण —

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।१८.१३
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।१८.१४

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ।।१८.१५
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ।।१८.१६
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।१८.१७
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।।१८.१८

सांख्य के अनुसार संपूर्ण कार्यों की सिद्धि में पांच हेतु माने गए हैं—अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा तथा दैव । मनुष्य शरीर, वाणी तथा मन से जो भी न्याय सम्मत या विपरीत कार्य प्रारम्भ करता है उसके ये पांच ही हेतु होते है । जो अशुद्ध बुद्धि मनुष्य केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्त्ता देखता है वह दुमति यथार्थ नहीं देखता है । जिस व्यक्ति में 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा अहंकृत भाव नहीं है जिसकी बुद्धि सांसारिक कर्मो मे लिपायमान नही है वह इस लोक में हत्या करके भी न तो कुछ मारता है न उस हत्या के कर्म से निवद्ध होता है । परिज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ये तीनों कर्म प्रेरक हैं । इनके सयोग से कर्म प्रेरणा उत्पन्न होती है । कर्त्ता, करण और क्रिया ये तीनो कर्म के संग्रह हैं अर्थात् कर्म होने के ये तीनों कारण है ।

ज्ञानी के लक्षण—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।५.३
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।।५.८
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।५.९

उसे नित्य संन्यासी जानो जो न द्वेष करता है, न आकांक्षा करता है और निर्द्वन्द्व है । जिसने द्वन्द्वात्मक भावों को जीत लिया है वह भौतिक वन्धनों से मुक्त हो जाता है । ज्ञान को यथार्थ रूप में जानने वाला सांख्य योगी देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूंघता, खाता, सोता, श्वास लेता, वोलता, मल मूत्र त्यागता, अन्नादि ग्रहण करता, आंख खोलता, मींचता भी यही मानता है कि इन्द्रियाँ ही अपने अपने विषयों में बर्त रही हैं, वह आत्म रूप कुछ नही कर रहा ।

ज्ञान की महिमा—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।।५.१६

जिनका वह अन्तःकरण का अज्ञान आत्म ज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है, ज्ञान सूर्य की भाँति उनकी आत्मा को प्रकाशित कर देता है ।

आत्म-ज्ञान से लाभ :

अपुनरावृत्ति—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।५.१७

उस आदित्यवत प्रकाशित आत्मा के तत्त्वतः प्राप्त ज्ञान से, जिनके कल्मष धुल गए हैं वे अपनी बुद्धि एव मन को तद्रूप किए, उसी आत्मा में एकीभाव से स्थित हुए आत्म परायण पुरुष अपुनरावृत्ति को अर्थात् आवागमन बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

समदर्शी-(साम्यभाव स्थिति)

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।५.१८

विद्या से प्राप्त विनय से सम्पन्न (विद्या ददाति विनयम्)ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल के प्रति ज्ञानी पण्डित समदर्शी होते हैं। अर्थात् ब्राह्मण, पशु तथा चाण्डाल तीनों को वे समभाव से देखते है।

सर्ग जित (संसार जयी)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।५.१९

जिनका मन साम्य में स्थित हो जाता है, समदर्शी हो जाता है वे इस संसार को जीत, ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं अर्थात् ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि ब्रह्म सदा निर्दोष व सम है।

असंमूढ स्थिर बुद्धि—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।।५.२०

ब्रह्मविद न प्रिय प्राप्ति पर प्रहर्ष को, न अप्रिय प्राप्ति पर उद्वेग को प्राप्त होता है। असंमूढ (सशयरहित) स्थिर बुद्धि से वह ब्रह्म मे स्थिर रहता है।

अक्षय सुख—

वाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।।५.२१

जो वाह्य स्पर्शो (वाह्यसुखो) से सर्वथा असक्त रहते हुए उन्हें आगमापायी अनित्य मानते हुए केवल अपनी आत्मा में स्थिति को ही सुख मानता है वह ब्रह्मयोग युक्त पुरुष अक्षय सुख का अनुभव करता है। क्योंकि ये वाह्य संस्पर्श से प्राप्त जो भोग हैं वही दुःख योनि हैं; दुःख की विभिन्न योनियों में उत्पत्ति के कारण है। बुद्धिमान मनुष्य इन आदि व अन्त वाले वाह्य संसर्ग जन्य भोगों में नहीं रमते।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।५.२२

जो शरीर त्याग से पूर्व ही काम-क्रोध रूपी वैरियों के वेग को सह सकने की सिद्धता अर्जित कर लेते हैं, सचमुच में वे ही नर ज्ञानयुक्त हैं और वे ही सुखी हैं।

ब्रह्म निर्वाण-(जीवन्मुक्ति)

योऽन्त:सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।५.२४
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।५.२५
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।५.२६
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।५.२७
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।५.२८

जो अन्तः (आत्मा में रमता हुआ) सुखी, अन्तःआरामी, अन्तः ज्योति वाला है, वह ब्रह्म रूप हुआ योगी ब्रह्म निर्वाण (जीवन् मुक्ति) को प्राप्त होता है। जिनके कल्मष क्षीण हो गए हैं, जिन्होंने वैकारित भावों की द्वन्द्वात्मकता के अनुभव को छिन्न कर दिया है, जो आत्मरूप होकर भी सर्वभूतों के हित के लिए रत हैं ऐसे ऋषि निर्वाण को प्राप्त होते हैं। काम-क्रोध से वियुक्त (रहित) ज्ञान-चेतस विदितात्म ही सब ओर से ब्रह्म निर्वाण (जीवन मुक्ति) को प्राप्त होते हैं। बाह्य स्पर्शो ससर्गो को बाहर ही कर (निर्लिप्त भाव से, अनासक्त भाव से) आंखों को भ्रुवों के मध्य स्थित किए, नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम किए, इन्द्रिय मन बुद्धि से मोक्ष परायणता का भाव लिए, इच्छा, भय, क्रोध को त्यागे हुए हैं, जो पुरुष हैं, वे सदा मुक्त ही हैं।

ब्रह्म निर्वाण देह की जीवितावस्था में ही प्राप्त होता है। जो इसे कोई मृत्य उपरान्त स्थिति मानते हैं वे भ्रम में हैं। गीता का सही अर्थ नही करते। ब्रह्म निर्वाणी सर्वभूतों की सेवा में सदा रत रहता है। अतः यज्ञार्थ कर्म करता हुआ लोक संग्रही प्राणिमात्र की सेवा के लिए जीवित रहता है।

शान्ति की प्राप्ति

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।५.२९

जो परमात्मा को जान लेता है वह सारे यज्ञ एव तप का फल भोगता हुआ, सारे लोकों का महेश्वर हुआ, सारे प्राणियों का सुहृद हुआ, शान्ति को प्राप्त होता है। (अर्थात् देहावसान को प्राप्त होता है।)

ज्ञान तथा कर्मयोग में कर्म का स्वरूप सम्बन्ध —

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।३.४

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवश: कर्म सर्व: प्रकृतिजैर्गुणै: ।।३.५
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार: स उच्यते ।।३.६
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियै: कर्मयोगमसक्त: स विशिष्यते ।।३.७
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण: ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मण: ।।३.८
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन: ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्ग: समाचर ।।३.९

मनुष्य न तो कर्मो के अनारम्भ से नैष्कर्म्य स्थिति को; जिसमें कृत कर्म भी अकर्मवत् हो जाते है; प्राप्त करता है और न कर्मो के संन्यसन से ही सिद्धि को प्राप्त होता है क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी काल में क्षण भर भी अकर्मकृत (विना कर्म किए) नहीं रहता है। सारे ही प्रकृति जात गुणो द्वारा परवश हुए कर्म करते है। जो विमूढात्मा केवल कर्मेन्द्रियो पर संयम लगाकर मन से इन्द्रियो के वाह्य विषयो का स्मरण करते हैं वे मिथ्याचारी कहे जाते हैं। जो इन्द्रियो का संयमन संकलिपत मन से करते हैं तथा अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियो से कर्मयोग का आचरण करते है वे ही श्रेष्ठ हैं। नियत कर्म, जो शरीरयात्रा के लिए आवश्यक हैं तथा शास्त्र विधि से यज्ञ, दान, तप आदि कर्म निर्धारित किए हुए हैं, उन्हे करना चाहिए। कोई काम नहीं करने से, कर्मो के त्याग से, नियत कर्म करना श्रेष्ठ है क्योंकि विना कर्म किए यह शरीर यात्रा सिद्ध नहीं होती है। यज्ञ अर्थात् विष्णु जो स्थिति तथा पालनकर्त्ता देव हैं, के निमित्त किए हुए कर्मो के अतिरिक्त अन्य कर्म इस लोक में बन्धन के कारण है। मनुष्य अन्य कर्मो को कर कर्म वन्धन म बँधता है। अतः यज्ञार्थ कर्मो को अनासक्त भाव से अवश्य करना चाहिए। गीता में आत्मारामों के अतिरिक्त सभी को अनासक्त भाव से कर्म करने का आग्रह है। गीताकार ने कर्म करते हुए सिद्धि को प्राप्त जनकादि राजाओ का उदाहरण देकर बताया है कि लोक सग्रह के लिए वे भी कार्य करते थे। कर्म करने के पीछे लोकानुवर्तन का भाव भी रहता है, इस नाते भी कर्म करना चाहिए। गीता में बताया है कि अवतारी पुरुषों द्वारा किए लोक चरितो के पीछे भी लोकानुवर्तन का भाव ही है।

लोक-संग्रहार्थ कर्म—

तस्मादसक्त: सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुष: ।।३.१९
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय: ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।।३.२०
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन: ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।३.२१

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।३.२२
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।३.२३
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।३.२४

अतः निरन्तर अनासक्त भाव से कर्त्तव्य कर्म भली प्रकार करें। असक्त पुरुष कर्म करता हुआ परम ब्रह्म को प्राप्त होता है। जनक आदि राजर्षि कर्म के द्वारा ही संसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। लोक-संग्रह के भाव को देखते हुए भी सबको कर्म करना चाहिए। श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है दूसरे लोग भी उसका अनुसरण करते है। फिर वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है लोक भी उसी के अनुसार बर्तता है। यद्यपि अवतारी पुरुषों को तीनों लोको में न तो कुछ कर्त्तव्य है न उन्हें कोई वस्तु अप्राप्य है पर वे भी इसी भाव से कि यदि उन्होंने कर्म नहीं किया तो कदाचित उनके व्यवहार का अन्य मनुष्य अनुसरण करते हुए काम करना बन्द न कर दे, काम करते हैं। यदि अवतारी पुरुष कर्म न करे तो यह लोक अकर्मण्य हो जाए; वह वर्ण-संकरता का कारण तथा सारी जनता का उपहन्ता बन जाए। इसे थोड़ा समझ लीजिए। यदि अवतारी पुरुष वैराग्यशील हो जाए तो सारे पुरुष वैरागी हो जाएंगे। उसी को प्रमाण मानकर लोक भी वैरागी हो जाएगा। इससे स्त्रियों में प्रदूषण के कारण वर्णसंकरता बढेगी तथा प्रजा की रक्षा न हो पाने से उसका अन्य शत्रुओं द्वारा नाश कर दिया जाएगा।

बौद्ध-दर्शन के अत्यधिक प्रसार से समाज भिक्षु बन गया। उसी का परिणाम था कि देश पराधीन हो गया। इसलिए अनासक्त भाव से कर्म हर एक को करना चाहिए। ज्ञानी-अज्ञानियों को भी अनासक्त भाव से कर्म करना सिखाएं। उनके साथ-साथ स्वयं भी कर्म करें।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।३.२५
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोपयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।।३.२६

लोक-संग्रह को चाहता हुआ अनासक्त विद्वान् जैसे आसक्तिपूर्ण अविद्वान् कर्म करता है; वैसे ही कर्म करना चाहिए। विद्वान् स्वयं युक्तियुक्त ढग से स्वयं समाचरण करता हुआ उन अज्ञानी कर्म संगियों से भी कोई बुद्धिभेद पैदा न करते हुए; अपने अनुसार कर्म कराए।

गीताकार ने यहां लोक-संग्रह कैसे किया जा सकता है; लोक-संग्रही अज्ञानी समाज को अपने ज्ञान के पथ पर कैसे ले जाए ? उस आचरण का ज्ञान दिया है।

प्रकृति गुण और कर्म—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।३.२७
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।३.२८
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदोमन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।३.२९
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।।३ ३२
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।३.३३
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ । ३.३४
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।३.३५

सर्वशः कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा ही किए जाते है। अहंकार से जो विमूढ हो रहे हैं वही अपने को कर्त्ता मानते हैं। गुण और कर्म विभाग के तत्त्वज्ञ, गुण-गुण में वर्त रहे हैं, ऐसा मानकर उन कर्मों में आसक्त नही होते। जो प्रकृति के गुणों मे संमोहित हुए है वे ही गुण और उनके द्वारा किए जा रहे कर्मों में आसक्त होते हैं। गुण एव कर्म विभाग को सम्पूर्णता के साथ नही समझने वाले मूर्खों को ज्ञानी जन विचलित न करें क्योंकि जो सर्व ज्ञान विमूढ हैं गुण-कर्म सम्बन्ध को नहीं जानते, उन दोष दृष्टि वाले मूर्ख लोगो को, श्रेय से नष्ट हुआ ज्ञानी जानें।

ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति, गुण-स्वभाव के सदृश ही चेष्टा करता है। सभी प्राणी अपनी प्रकृति को ही प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने गुण स्वभावानुसार परवश हुए कर्म करते है।

इन्द्रियों के जितने भी विषय हैं उनके भाव में रागद्वेष का द्वन्द्व स्थित है। मनुष्य जो इन्द्रियों के विषयो के संसर्ग में आते है वे इन दोनों राग और द्वेष के वश में नहीं आएँ क्योंकि वे दोनो राग एवं द्वेष श्रेय पथ के महाशत्रु हैं।

अपना गुण-स्वभाव जन्य जो प्रकृत धर्म है, वह चाहे विगुण भी हो; लेकिन दूसरे के सगुण धर्म की अपेक्षा उसी का आचरण करना श्रेयस्कर है। अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारी है। दूसरे के धर्म की कल्पना भी भयावह है। यहां धर्म का अर्थ सम्प्रदाय या नैतिक सिद्धान्त नही है। धर्म का यहां अर्थ है अपनी प्रकृति एवं उसके गुणानुसार जो अपना स्वभाव है वही अपना धर्म है।

संन्यास और कर्मयोग : तुलनात्मक अध्ययन—

एकत्व—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।।५.२

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।५.४
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।५.५

विभेदत्व—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।।५.६
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।५.२

कर्म संन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी हैं। सांख्य और योग दोनों एक ही हैं। इन्हें पण्डित नहीं कुछ मूर्ख लोग ही अलग-अलग बताते हैं। सम्यक् रूप से दोनों में से किसी एक में भली प्रकार आस्थित होने से दोनों का फल साधक पा लेता है। जो स्थान सांख्य प्राप्त करता है, वहीं योग पहुँचता है। जो सांख्य एवं योग को एक देखता है, वास्तव में वही सही देखता है।

हां, संन्यासगत सिद्धि विना योग सिद्धि के दुःख से ही प्राप्त होती है। जो योगयुक्त मुनि है वह ब्रह्म निर्वाण को विना किसी विलम्ब के प्राप्त कर लेता है। इसी कारण संन्यास से कर्मयोग विशिष्ट है।

संन्यास का सही अर्थ - संन्यास का यह अर्थ नहीं है कि कोई काम प्रारम्भ ही नहीं किया जाए। सारे धर्मो को त्याग दिया जाए। केवल कर्मो से सकामता का न्यास ही संन्यास है। किसी इष्ट सिद्धि के निमित्त किए जाने वाले कर्मो का त्याग करना उचित है। इसी तरह किसी कर्म को करते समय उससे किसी फल की इच्छा करना गलत है। कर्म फल का त्याग ही वास्तविक त्याग है। संन्यास के अर्थ में कर्म के पूर्व कोई इष्ट होता है उसका त्याग माना जाता है। त्याग में कर्मोपरान्त जो फल प्राप्ति होती है उसका त्याग होता है। संन्यास व त्याग में पूर्व व पश्चात् कामना का होना ही अन्तर का कारण है। गीता में कहा है—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।१८.२

पहली पंक्ति संन्यास से सम्बन्धित है तो दूसरी पंक्ति निष्काम कर्मयोग से। दोनों में कर्मफल का अनाश्रय स्पष्ट है, वह चाहे पूर्व निश्चित कर्मफल हो या पश्चात् प्राप्त। इस तरह सन्यासी व योगी दोनों का अभिप्राय एक ही है। न वह योगी है, न वह संन्यासी, जिसे अग्नि का स्पर्श करना या जिसने कोई भी कर्म करना पाप समझ लिया हो।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।६.१

जिसे संन्यास कहा जाता है वही योग है क्योंकि कोई भी असंन्यस्त संकल्प व्यक्ति योगी हो नहीं सकता। सर्व संकल्प संन्यासी ही योगारूढ कहा जाता है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।।६.२
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।६.४

इस तरह योग के लिए सर्व संकल्प संन्यास आवश्यक है और संन्यास के लिए योगयुक्त होना । दोनों अन्योन्याश्रित हैं, एक फल वाले हैं ।

इस तरह गीता ने संन्यास के प्रति चली आ रही बद्धमूल गलत धारणाओं का परिष्कार करते हुए कर्म का सही स्वरूप सामने रखा है । गीता का ज्ञान योग इस तरह अपनी अलग विशिष्टता रखता है । गीता अवतारी से लेकर ज्ञानी तक जिन्हें अपने लिए कुछ करना नहीं होता है, जिनके लिए कोई वस्तु दुर्लभ नहीं होती उनको भी लोक-संग्रह के लिए, यज्ञ रूप श्रेष्ठ कर्म करने का निर्देश करती है । गीता का स्पष्ट कथन है कि कोई भी व्यक्ति क्षण भर को भी अकर्मकृत नहीं रहता । कर्म गुण का धर्म है, स्वभाव है । वह अपना काम करता है । ज्ञानियों का काम है कि वे अज्ञानियों को अपने आचरण से सत्पथ पर लगाएँ । समाज में अपने सर्वभूत हित रत आचरण का आदर्श प्रस्तुत करें । ताकि वे अज्ञानी लोग उसका अनुसरण कर ज्ञान की ओर अग्रसर हो सकें ।

गीता का यह निर्देश लोकमङ्गल की कामना से अनुप्राणित है । इसीलिए गीता लोकजीवन का अनुकरणीय धर्मग्रन्थ हो गया है । गीता के इस प्रकाश ने वैराग्य सम्बन्धी गलत धारणाओं को निर्मूल किया है तथा कर्म का यथार्थवाची पाठ हमारे सामने रखा है । गीता इस तरह श्रेयोन्मुख यथार्थवाची विशिष्ट ग्रन्थ है । □

कर्मयोग

नैष्कर्म्य के सन्दर्भ में कर्म की आवश्यकता का प्रतिपादन—

गीता वह आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जो मानवमात्र को कर्म करने की सदा प्रेरणा देता रहेगा । यह कर्म जगत् से वैराग्य नहीं, योग सिखाता है । जगत्, जीव व परमात्मा का विस्तार से विवेचन तथा उसके सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए, मनुष्य किस भांति कर्म करे जिससे उसका जीवन आवागमन के भव-बन्धन से मुक्त हो मोक्ष को प्राप्त हो जाए । इस नाते से गीताकार ने कर्म की वास्तविक स्थिति, उसकी जगत् के सन्दर्भ में भूमिका तथा कर्त्ता के निर्वहन की प्रक्रिया का विस्तार से विश्लेषण किया है । इस कारण गीता कर्मयोग का एक महान् ग्रन्थ बन गया है ।

यह कर्मयोग कोई नया योग धर्म नहीं है । इस अव्यय योग को स्वयं भगवान् ने सर्वप्रथम विवस्वान सूर्य से कहा था । विवस्वान से मनु को कहा और मनु ने इक्ष्वाकु को कहा । फिर परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना । यह योग

कालान्तर में पृथिवी से नष्ट हो गया था। वही पुरातन योग वेदव्यास ने गीता के प्रसंग में समाज के सम्मुख उपस्थित किया है।

इसी पुराने योग को वेदव्यास ने भगवान् कृष्ण के सम्मोह ग्रस्त मुखसे युद्ध-विरत अर्जुन को कहलवाया है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।४.१

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ।।४.२

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।।४.३

कर्म के स्वरूप के विश्लेषण के साथ-साथ गीताकार ने मानव की व्यावहारिक प्रकृति को भी प्रकृति के त्रिगुणात्मक स्वरूप के प्रभाव के साथ समझाया है। वे कहते हैं कि पृथ्वी पर ऐसा कोई भी नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों के प्रभाव से मुक्त हो। यह समस्त जगत् प्रभु की इस त्रिगुणात्मिका माया शक्ति से ही संपृक्त है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।।१८.४०
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।।७.१३

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन चारों वर्णों में मानव-जाति उनके गुणों से उत्पन्न स्वभाव सम्मत कर्मों के अनुसार विभक्त हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।१८.४१

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।१८.४२

शौर्यंतेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।१८.४३

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।१८.४४

शम, दम, तप, शौच, शान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता ब्राह्मण के स्वभावज कर्म हैं। शौर्य, तेजस्विता, धृति, दक्षता, युधिष्ठरता, दान व ईश्वर-भाव क्षत्रियोचित स्वभावज कर्म है। कृषि, गोपालन, वाणिज्य वैश्य के तथा परिचर्या शूद्र के स्वभावज कर्म हैं।

मनुष्य अपने-अपने स्वभावगत कर्मों को करके ही संसिद्धि को प्राप्त करते हैं। स्वभावज कर्म करने से पाप नहीं लगता। सहज कर्म सदोष होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।।१८.४५
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।१८.४७
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।।१८.४८

मनुष्य का स्वभाव उसके पूर्व कर्मों से तथा वर्तमान शरीर रचना से बनता है। कर्मों से बांधने वाले मनुष्य में स्थित तीनों गुण ही हैं। सत, रज, तम ही, जो प्रकृति प्रसूत गुण हैं जीव को शरीर से बांधते हैं—सत्त्व निर्मल होने से अनामय रज रागात्मक है। प्रकाश स्वरूप है। यह जीव को सुख व ज्ञान से बांधता है। यह रजोगुण ही कर्म का कारक है। तम, अज्ञान, मोह, प्रमाद तथा आलस्य का जनक है। यह शरीर को निद्रा से बांधता है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।१४.५
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।।१४.६
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।।१४.७
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।१४.८

सत्त्वगुण जब बढ़ता है तब रज, तम दब जाते हैं। जब रज बढ़ता है तब सत-तम दब जाते हैं और जब तम बढ़ता है तब सत-रज दब जाते हैं। जब प्रकाश व ज्ञान हो तब जानो कि सत्त्व बढ़ रहा है। जब लोभयुक्त कर्मों में मन रम रहा हो, अशान्ति व स्पृहा मन को मथ रही हो तब समझो रज बढ़ा है और जब अंधकार, अप्रवृत्ति, प्रमाद व मोह हो तब समझो तम प्रवृद्ध है। (१४.१०-११-१२-१३ १४-१५-१६-१७-१८ आदि।)

इस तरह कर्म का वास्तविक कारण केवल रजोगुण की प्रवृद्धि है। गुणों के अलावा और कोई कर्त्ता नहीं है। गुण ही गुणों में वरत रहे हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।।१४ १९
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।।१४ २०

इन गुणों का संग ही सद् असत् योनि में जन्म का कारण है।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।१३ २१

गीता में कर्म के कारण वैसे पांच बताए गए है—शरीर, वाणी एवं मन से जितने भी कर्म किए जाते हैं उनमें ये पांचों ही हेतुरूप हैं। ये हैं—अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा तथा दैव। अधिष्ठान शरीर है। कर्त्ता आत्मा है। करण जीव है। चेष्टा की करण १२ इन्द्रियां हैं तथा दैव नाना प्रकार की प्राण अपान आदि चेष्टाएं तथा चक्षु आदि इन्द्रियों का प्रकाशक दैव अर्थात् सूर्यादि देवता। ये पांच ही कर्मों

के कारण हैं। शरीर, वाणी एवं मन से जितने भी कार्य किए जाते हैं उनके ये पांचों ही हेतु हैं।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।१८.१४
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ।।१८.१५

जहां कर्म के पांच हेतु हैं वहीं गीता में कर्म के तीन प्रवर्तक भी वताए गए। ये हैं—ज्ञान, ज्ञेय तथा परिज्ञाता जीव। ये तीनों ही सब कर्मों के प्रवर्तक हैं। कर्त्ता, करण और क्रिया ये तीनों कर्म के संग्रह हैं अर्थात् इन तीनों के संयोग से कर्म बनता है। कर्म करने वाला कर्त्ता, जिस साधन से कर्म किया जाए उनका नाम करण तथा जैसे कर्म किया गया वह क्रिया। इसी तरह जो जानने वाला है वह ज्ञाता है। जिसके आधार से जाना जाए वह ज्ञान और जिसे जाना गया वह ज्ञेय है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।।१८.१८

कर्म की व्याख्या करते हुए गीताकार ने कहा है कि कोई भी किसी भी अवस्था में क्षण भर को भी बिना कर्म किए नहीं बैठता। मनुष्य कर्म के वशीभूत है। क्योंकि कर्म प्रकृति के तीनों गुणों से ही उत्पन्न होते हैं। कार्यभाव से सभी कर्म प्रकृति के गुणों के ही वशवर्ती हैं। प्रकृति के गुणों से ही समस्त कर्म क्रियमाण होते हैं। कर्म का गीता में कहीं भी निषेध नहीं है। शरीर-यात्रा के लिए कर्म आवश्यक है। बिना कर्म के शरीर-यात्रा सम्भव नहीं है। कर्म नहीं करने से कर्म का करना श्रेष्ठ कहा गया है। अकर्म हेय तथा कर्म करना श्रेष्ठ है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।३.४
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।३.५
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।।३.८

स्वभावज कर्म करने से पाप नहीं लगता अतः सहज कर्म सदोष होने पर भी नहीं छोड़े जाते। देखिए—

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।१८.४७
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।।१८ ४८

सारे श्रेष्ठ कार्य, सारे यज्ञ, तप, दान आदि जितने पुण्य दैविक कार्य हैं वे भी कर्म द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। यज्ञः कर्मसमुद्भवः। लोक-संग्रह, जन-सेवा की भावना से भी कार्य करने हेतु कर्म आवश्यक है। बिना कर्म के लोकहितरत जीवन भी नहीं जिया जा सकता। लोक को कुमार्ग से हटाकर सत्पथ पर लगाने हेतु श्रेष्ठ

पुरुषों के लिए भी कर्म आवश्यक हैं। क्योंकि लोग सामान्यतया श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का ही अनुसरण करते हैं। अतः नेतृ वर्ग सम्यक् कर्म करने वाले होने चाहिए। यदि श्रेष्ठ जन काम नहीं करेंगे तो आम जन भी काम नहीं करेंगे। कामचोर हो जाएंगे। श्रेष्ठ जन कर्म कर्त्ता नहीं हुए तो प्रमाण व दृष्टान्त के अभाव में जन वर्ण संकर कर्मों में प्रवृत्त होंगे ही। लोक-संग्रह की भावना से ही जनकादि राजर्षि कर्म प्रवृत्त हुए हैं।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥३.२०

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥३.२१

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥३.२३

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥३.२४

कर्म की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए गीताकार ने इतना ही कहा है कि कर्म मनुष्य को बन्धनों में बांधने वाला है। क्योंकि इन्द्रियां विषयों में वर्तती काम, क्रोध और मोह मत्सर के वशीभूत हो आसक्ति-युक्त हो जाती है। यह आसक्ति तथा फलेच्छा ही कर्म बन्धन का कारण है। विमूढात्मा यह मानने लग जाता है कि कर्म का कारण मैं स्वयं हूँ। यही अहंकार भावना ही बन्धन का कारण है। जब कि वास्तविकता यह है कि गुण ही गुणों में वर्तते हैं गुणा गुणेषु वर्तन्ते (३.२८)। लोकोऽयं कर्म बन्धनः (३.९)। जहां कर्म बन्धन है वहां संसार के आवागमन का निरन्तर चक्र प्रवर्तित है। यह जीवात्मा जब शरीर में आता है और जब शरीर से जाता है तब मन एवं इन्द्रियों के संस्कारों को लेकर ही आता-जाता है। जब शरीर में आता है तो वह कान, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण एवं मन के संस्कारों के साथ शरीर में प्रवेश करता है। भोगों को भोगता है। विषयों का सेवन करता है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥१५.७

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥१५.८

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥१५.९

गीताकार ने विभिन्न पक्षों से कर्म की आवश्यकता पर इस तरह विचार कर, लोक के सामने वही पुराना ज्ञान जिसे पहले ऋषि-मुनियों ने अंगीकार किया तथा समाज के सम्मुख रखा, गीता के माध्यम से समाज के सामने रखा। गीताकार

ने, कर्म कैसे करें, इसका उत्तर विविध प्रकार से दिया है। गीताकार ने जो निदान कर्म के सम्बन्ध में किया है वह मोक्ष परायण मनुष्य की कल्पना करके किया है। उसे विषयोन्मुख इन्द्रियधारी के भाव से नहीं किया है। गीताकार कर्म बन्धन का कारण विषयों में इन्द्रियों का सकाम संचरण मानते हैं। विषयों के ध्यान मात्र से मनुष्य में उनके साथ संग करने की लालसा जगती है। संग से काम भाव उत्पन्न होता है। काम में आसक्ति का भाव निहित होने से उसकी अप्राप्ति पर उन अप्राप्ति के कारणों के प्रति क्रोध जगता है। अप्राप्ति क्रोध का कारण बनती है। क्रोध से मोह और भी दृढीभूत होता है। अत्यधिक मोह स्मृतिभ्रम कर देता है। स्मृतिभ्रंश होने का अर्थ है बुद्धि का नाश और जिसकी बुद्धि का नाश होगा वह तो मृत तुल्य हो गया, इसमें सन्देह नहीं है। इस तथ्य को वेदव्यास जी ने इस प्रकार चित्रित किया है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।२.६२
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।२.६६

इन्द्रियों में विषयों का संग करने वाला मन है। यह मन अत्यन्त चञ्चल, बलवान्, वृहद होता है। यह इन्द्रियों को अपने आवेश से मथता रहता है। इसका निग्रह बड़ा ही कठिन है। जल में चलती हुई नाव को जैसे वायु हर लेता है, वैसे ही यह मन विषय रूपी जल में चलती हुई बुद्धि का हरण करता रहता है। इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषय में घुमाता रहता है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।६.३४
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।।६.३५
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।२.६७

इस मन को संयमित कर लेने, जीत लेने का नाम ही योग सिद्धि है। यही योग कर्म करने में कुशलता का पर्याय है। योगः कर्मसु कौशलम् (२.५०)। कर्म कैसे करें? इसके सम्बन्ध में गीता में विस्तार से विवेचन किया गया है। सचमुच में इसी कारण गीता अध्यात्म के साथ-साथ आचार का भी एक बड़ा मीमांसक ग्रन्थ है।

गीता में कर्म-योग का प्रारम्भ दूसरे अध्याय के ४०वें श्लोक से होता है। वैसे इसकी सूचना हमें श्लोक २.१५ व २.३८ में मिल जाती है। स्पर्शादि तन्मात्राएँ शीतोष्णदा तथा सुख-दुःखदा होती हैं। जिन्हें तन्मात्राओं के स्पर्श व्यथित नहीं करते, जो धैर्य के साथ सुख-दुःख में भी समभाव से व्यवहार करता है वह समत्व बुद्धि-योग वाला व्यक्ति अमृतत्त्व को प्राप्त करता है। साथ ही जो सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय को समान समझते हुए कर्म करता है या युद्ध करता है उसे

पाप नहीं लगता। यद्यपि ये बातें ज्ञान-योग से सम्बन्धित हैं; परन्तु इस समत्व चित्रण में निष्कामता का भाव ही छिपा है। सांख्य के ज्ञान-योग एवं समत्व बुद्धि वाले निष्काम कर्म-योग को पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। केवल दोनों में अन्तर इतना ही है कि निष्काम कर्म-योग की साधना में जो जितना बढ़ गया उतना बढ़ा ही रहेगा। प्रत्यावर्तन नहीं है। इसकी अल्प साधना भी महान् फलदायी तथा जीवन-मरण के भय से मुक्ति देने वाली है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा:।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।२.१४

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।२.१५

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।२.३८

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।२ ३९

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।२.४०

समत्व योग में जब बुद्धि परिपक्व हो जाती है, तब वह एक हो जाती है। उसका निश्चय एक सा ही रहता है। गीताकार ने ऐसी बुद्धि को व्यवसायात्मिका बुद्धि कहा है। अनिश्चयी बुद्धि भेदवाली अनन्तरूपा रहती है। वह अव्यवसायी भी कही गई है। ऐसी बुद्धि भोगेश्वर्यो में डूबी रहती है। चित्त प्रकृति के आकर्षणों में खोया रहता है। ऐसे प्रसक्त चित्त वाले कभी भी निश्चयात्मक समाधि बुद्धि को प्राप्त नहीं होते।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।२.४१
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धि: समाधौ न विधीयते ।।२.४४

चल एवं दुर्निग्रह मन को केवल सात्त्विक बुद्धि ही ऐषणाओं से विमुख कर निष्काम कर्म की ओर अग्रसर करती है। गीता में सात्त्विक बुद्धि की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

प्रवृत्ति च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धि: सा पार्थ सात्त्विकी ।।१८ ३०

हे पार्थ, जो बुद्धि प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, भय-अभय, बंधन एवं मोक्ष को तत्त्वत: जानती है, वही सात्त्विक बुद्धि है। इसी सात्त्विक बुद्धि से बुद्धियोग सिद्ध होता है। निष्काम कर्म योग का विश्लेषण व्याख्या तथा विवेक हमें श्लोक २.४७ से मिलता है। प्रथम श्लोक है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।२.४७
योगस्थ: कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।२.४८

इन दोनों श्लोकों में समत्व योग का उल्लेख किया गया है। समत्वयोग के मुख्य उपादान—

१ फल की इच्छा न रखते हुए कर्म अवश्य करना।
२ कर्म में आसक्ति रहित होकर प्रवृत्त होना। तथा
३ सिद्धि असिद्धि में समान रहते हुए समत्वयोग में स्थित होकर कर्म करना अर्थात् फल की अनिच्छा कर्म में अनासक्ति तथा सुख दु:ख में भाव समत्व ये तीनों समत्व योग बुद्धि के लक्षण हैं। अत: हर एक को बुद्धि योग की शरण लेना चाहिये। 'बुद्धौशरणमन्विच्छ' २.४९। कर्म को ऐसी कुशलता ही योग है। ऐसे कर्मकुशल अपने सुकृत दुष्कृत दोनों इसी संसार में छोड़ आवगमन के चक्र से मुक्त हो जाता है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योग: कर्मसु कौशलम् ।।२.५०

जब बुद्धि समत्व योग को प्राप्त हो जाती है, तब वह कभी संसार के मोह कलित में नहीं फसती। निर्वेदत्व को प्राप्त हो जाती है। निश्चल बुद्धि अचल समाधि में स्थित हो जाती है, तब बुद्धि योग बनता है। ऐसे ही जन स्थितधी स्थित-प्रज्ञ व समाधिस्थ कहे जाते हैं। (२।५१-५२-५३ ५४)। गीताकार ने ऐसे सिद्ध व्यक्तियों के लक्षण इस प्रकार बताये हैं –

१ मनोगत कामनायें छोड़, अपने को आत्मा में ही स्थित कर तुष्ट रहना।
२ दु:ख में अनुद्विग्न, सुख में विगत स्पृह, रागभय क्रोध अतीत होकर रहना।
३ उदासीन अस्नेह भाव से रहते हुए न तो शुभ का अभिनंदन न अशुभ से द्वेष करना।
४ कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को विषयों से सब प्रकार से समेट कर रखना।
५ इन्द्रियों को वश में करके परमात्मा में स्थित हो रहना।
६ समस्त कामनाओं को त्याग, निस्पृह, निर्ममी, निरहंकारी होकर रहना।

इसी स्थिति को ब्राह्मी स्थिति भी कहा गया है। इस स्थिति में रहकर जो कार्य करते हैं, वे कभी विमोहित नहीं होते तथा सदा शान्ति को प्राप्त होते हैं। अन्त: काल में ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करते हैं। बुद्धियोगविषयक विवेचन हम पूर्व में ही दे चुके हैं अत: यह यहां पुनरावृत्ति ही होगी। अत: इसे यहीं समाप्त करते हैं।

नैष्कर्म्य शब्द गीता में पहली बार तीसरे अध्याय के चौथे श्लोक में आता है। यह नैष्कर्म्य मन से प्रारम्भ होने वाले कर्मों से प्राप्त नहीं होता। न यह कर्मेन्द्रियों को कुण्ठित- करने से ही उपलब्ध है। क्योंकि कर्मेन्द्रियों की कुंठित

अवस्था में भी मन मननयुक्त रहता है। विषयों का मानसिक चिन्तन इन्द्रियों के कुंठित करने के समान ही घातक है। गीताकार ने ऐसे मानस सम्भोगी को मिथ्याचारी कहा है। उसे विमूढात्मा शब्द से सम्बोधित किया है। देखिये—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।३.६

इसीलिये गीताकार कर्म कैसे करे इस तथ्य को स्थान-स्थान पर वर्णित करते हैं। देखिये—

(१) यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।३.७

मन सहित इन्द्रियों को नियमित कर अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों द्वारा जो कर्मयोग में प्रवृत्त होते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इसमें दो बात, एक तो मन सहित इन्द्रियों का संयमन, तथा दूसरा अनासक्ति भाव से कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म योग का आचरण आवश्यक बताया गया है। इसी तरह आगे कहा है—

(२) यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।३.९

इस संसार में परार्थसेवा के भाव से किये हुए यज्ञ रूप कर्मो के अतिरिक्त, अन्य सभी कर्म भव बंधन के कारण हैं। अतः मुक्त संग होकर आसक्ति रहित भाव से यज्ञार्थ कर्म कर।

इसमें भी दो बातें ही मुख्य आई हैं। पहली बात कर्म यज्ञार्थ हो, परार्थ हो, स्वार्थ के लिये न हो तथा दूसरी बात उन कर्मो में आसक्ति न हो। गीताकार ने बड़े कठोर शब्दों में निजी स्वार्थ के लिये किये जा रहे कर्मो की भर्त्सना की है। वे कहते हैं जो आत्मकरण है कर्म करते है वे पापी हैं तथा पाप ही खाते हैं।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।३.१३

गीताकार ने यज्ञ की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए बताया है कि यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से है, यज्ञः कर्म समुद्भवः ३.१४। और कर्म कैसा हो, यज्ञ स्वरूप। अर्थात यज्ञार्थ कर्म करो अपने लिये नहीं। क्योंकि यज्ञ रहित पुरुषो को न तो यह लोक सिद्ध होता है न परलोक सिद्ध होता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।।४.३१

कर्म की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए वेद व्यास कहते हैं कि इस प्रवर्तित यज्ञ रूप जगत चक्र में जो अनुवर्तित नहीं होता वह अघायु इन्द्रियभोगी केवल व्यर्थ जीता है।

एवं प्रवर्तितं चक्र नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।३.१६

कर्म के अनासक्तिवाले पक्ष को ही गीताकार ने कर्म करने की विधि के रूप में बताया है। वे कहते हैं कि केवल आत्म ज्ञानी, आत्म रती, आत्म तृप्त, आत्म सन्तुष्ट द्वारा किया कर्म कर्म नहीं होता। उसका किया कर्म विद्यमान नहीं रहने से बन्धनकारी नहीं होता। क्योंकि ऐसे आत्मरती के किए कार्य का व कर्तृत्व का कोई निजी प्रयोजन नहीं होता।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।३.१७

अन्यत्र भी कहा है कि कर्म तो गुणों का स्वभाव करता है। स्वभावस्तु प्रवर्त्तते (५.१४)। ज्ञानी के लिए कर्म न पाप है न सुकृत।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।५.१५

केवल इन्द्रियां ही इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त होती हैं मन नहीं। वह ऐसे भी नहीं मानता कि मैं कर्त्ता हूँ।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।।५ ८
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।५ ९

कर्म की इस प्रकार अकर्मता प्रतिपादित करते हुए व्यास ने कर्म कैसे करें, वह फिर इस प्रकार दुहराया है —

(३) तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।३.१९

अतः अनासक्तभाव से सतत् कार्य कर्म को करता चल। क्योंकि अनासक्त भाव से कर्म करने वाला परमात्मा को ही प्राप्त होता है। यहाँ असक्त को केवल एक ही बात कही, सतत् कर्म कर। कर्म सातत्य का मंत्र सर्वत्र गीताकार ने उच्चरित किया। इस तरह कर्मयोगी को इन्द्रिय संयम, अनासक्ति भाव, यज्ञार्थ कर्म सातत्य का उपदेश गीताकार ने दिया है। आगे कर्मयोग की आवश्यकता पर वेद-व्यास ने लोक-संग्रह की लौकिक दृष्टि तथा मनुष्य की अनुमरण प्रवृत्ति को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखते हुए अपनी बात कही है।

जैसा हम पहले भी कह आये हैं कि लोकसंग्रह की भावना से कर्म करते हुए जनकादि ज्ञानी जन संसिद्धि को प्राप्त हुए हैं अतः लोकसंग्रह के भाव से अनासक्त होकर कर्म करना अभीष्ट है। जैसा जैसा श्रेष्ठ जन आचरण करते हैं अन्य जन भी वैसा ही करते हैं। फिर उसी को प्रमाण मानकर लोक भी वैसा ही व्यवहार करता है। अतः कर्म में अतन्द्रित होकर वर्तना चाहिए। सर्वशः मनुष्य श्रेष्ठ जन का ही अनुवर्तन वरतें, यदि श्रेष्ठ जन कर्म नहीं करेंगे तो लोक भी कर्म करना बंद कर देगा तो वर्ण संकरता बढ़ेगी तथा प्रजा नष्ट होगी। अतः लोक हित में श्रेष्ठ लोगों का सात्विक एवं अनासक्त भाव से उत्तम कर्म करना अनिवार्य है। अतः विद्वान्

व्यक्ति को मुक्त आचरण करते हुए अपने को सभी कामों में लगाना चाहिए ताकि अज्ञानी एवं कर्मासक्त लोगों में बुद्धि भेद न हो।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तःसमाचरन् ।।३.२६

कर्म में प्रवृत्ति प्रतिपादनार्थ गीताकार एक नया ही तर्क सम्प्रस्तुत करते हैं। प्रश्न उत्पन्न होता है कि कर्म का कर्त्ता कौन ? व्यक्ति, जीवात्मा या उसके प्रकृतिस्थ गुण ? गीताकार इसका उत्तर देते हुए कहते है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।३.२७

केवल अहंकार से विमूढ हुए जीव ही ऐसा मानते है कि कर्मों का कर्त्ता मैं हूँ। अन्यथा सभी कर्मों के कर्त्ता तो प्रकृति सम्भूत गुण ही हैं। यहां इसका अप्रत्यक्ष भाव यह भी है कि यदि मनुष्य प्रकृति से ऊपर हटकर अपने आत्म भाव में लीन होकर कर्म करे तो प्रकृतिगत कर्म उसे प्रभावित नहीं करते हैं। क्योंकि जो गुण और कर्म के तत्त्व को जानते हैं वे जानते है कि गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।३.२८

अतः प्रकृति के गुण कर्म, इन्द्रियों के राग द्वेष से, जो बंधन के कारक है दूर रहकर उनके वशी नही होकर केवल एकमेव परम चेतनसत्ता के प्रति आध्यात्मचित्त से समस्त कर्मों को सन्यस्त कर, निराशी निर्ममी होकर मनुष्य को कर्म करना चाहिए।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।३.३०

गीता में जहाँ जहाँ भी माम, मयि, मम, मे आदि शब्द आए हैं वे किसी व्यक्ति के लिए नही, किसी महापुरुष के लिए नही, यहां तक कि किसी अवतार के लिए भी नही, केवल एकमेव परम अव्यय चेतनसत्ता के प्रति अभिप्रेत है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। राग द्वेष वही है। मनुष्य को अपने गुण धर्म के अनुसार ही कर्म करना चाहिए। दूसरे के गुण धर्म को करना भयावह अपने गुण कर्म को करना ही श्रेयस्कर है।

गीताकार ने बहुत स्पष्ट तरीके से उस भेद को निरूपित किया है। यदि मनुष्य अपने को परम चेतनसत्ता को समर्पित कर, अनासक्त भाव से; यज्ञार्थ निराशी निर्ममी होकर कर्म करेगा तो उसे वह कर्म नहीं लगेगा। यदि मनुष्य श्रद्धावत एवं समर्पित बुद्धि से चेतन में ही अपने को न्यस्त करता है तो वे कर्म के दोषों से छूट जाते हैं। यहाँ जड़ चेतन के भेद को समझ कर एकमात्र चेतनसत्ता मे सम्पृक्त होने की बात कही है।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।।३.३१

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।३.३५

इस कर्म उपदेश में एक और नवीन बात प्रकट हुई है, वह है 'मयि सर्वाणिकर्माणि संन्यस्त' 'ये ते मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति' सारे कर्म मुझे समर्पित करते हुए जो मेरे इस मत के अनुसार आचरण करते हैं वे कर्म दोष के भागी नहीं होते। यह समर्पण का भक्ति भाव है। भक्तियोग है। सर्वथा नवीन बात। पहला सांख्य ज्ञान, दूसरा निष्काम कर्मयोग तथा तीसरा भक्ति से समर्पण का भाव। जो कर्म में अकर्म तथा अकर्म से कर्म देखता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, वही मुक्त है, वही समस्त कर्मकृत है। कर्म की गति बड़ी गहन है। यहां कर्म में अकर्म देखना तथा अकर्म में कर्म देखना ही सारगर्भित वाक्य है। कर्म में अकर्म से अभिप्राय है, अनासक्त भाव से अपने को चेतनसत्ता में संन्यस्त कर लोकहित की आकांक्षा से तथा यज्ञ भाव मे जो कर्म करता है वह सचमुच अकर्म ही करता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से जो अकर्मता है उसे ही कर्म मानता है, सच में वही बुद्धिमान है। एक ही बात को दोनों दृष्टियों से समझने का भाव अकर्म में कर्म, कर्म में अकर्म देखना ही ज्ञान है। बुद्धियोग है। चेतनसत्ता में अपने सभी कर्मों को संन्यस्त करना है। ऐसा ज्ञानी जिस के समस्त कर्मो का समारम्भ संकल्प वर्णित है, जिसके समस्त कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हो गए हैं, उसे ही पण्डित ज्ञानार्जन कहते हैं। जो कर्म फल संगत्याग नित्य तृप्त निराश्रयी भाव से कर्म में अभिप्रवृत्त होता है, वह कर्म करके भी कुछ नहीं करता। जो निराशी, आत्मस्थ, सर्व परिग्रहत्यक्त है वह केवल शरीर से कर्म करता हुआ भी किसी दोष को प्राप्त नहीं होता। जो कुछ मिल जाए उसमें सतुष्ट है। द्वन्द्वातीत है, विमत्सर है, सिद्धि असिद्धि में सम है वह कर्म करके भी उन कर्मो से नहीं बंधता है। जो गतसग है, ज्ञानावस्थित चित्त है, यज्ञार्थ आचरण करता है, उसके समग्र कर्म स्वतः समाप्त हो जाते हैं – जिसके समस्त कर्म समत्व बुद्धियोग से निष्काम कर्मयोग में संन्यस्त है, ज्ञान से जिसके समस्त संशय छिन्न हो गए हैं ऐसे आत्मवत को कर्म नहीं निबद्ध करते हैं।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति ।।४.१७
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।४.१८
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।।४.१९
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ।।४.२०
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।४.२१

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।।४.२२

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।४.२३

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।।४.४१

उपर्युक्त श्लोकों में कुछ परिभाषाएँ भी आई हैं। जैसे मनुष्यों में बुद्धिमान कौन ? जो कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है। उसी तरह पण्डित कौन ? जिनके समस्त कर्मारम्भ काम संकल्पविवर्जित हैं तथा समस्त कर्म ज्ञानग्नि से दग्ध हैं। जो समदर्शी है वह पण्डित।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।५.१८

गीताकार ने कर्म संन्यास से कर्मयोग को विशिष्ट बताया है। वे कहते हैं, सांख्ययोग व कर्मयोग दोनों एक ही हैं। दोनों श्रेयस्कर हैं। दोनों का फल एक है। दोनों एक ही स्थान पर पहुँचते हैं। जो ज्ञानयोग के अध्याय में हम पहले ही कह चुके हैं—संक्षेप यहां उसकी आवृत्ति कर रहे हैं।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।५.२

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।५.४

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।५.५

गीताकार ने संन्यासी और योगी की एकता इसी में ही नहीं, अगले छठे अध्याय में भी वर्णित की है। देखिए —

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।६.१

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ।।६.२

जो कर्म फल के अनाश्रित होकर कार्य कर्म करता है वही संन्यासी है, वही कर्म योगी है। अग्नि को त्यागने वाला तथा कुछ न करने वाला न तो संन्यासी है, न योगी। जिसको संन्यास ऐसा कहा गया है उसे ही योग मान। यह संन्यास तीसरे अध्याय के तीसरे व चौथे श्लोक में स्पष्ट हुआ है।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।३.३

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।३.४

अर्थात्, इस लोक में मोक्ष मार्ग के लिये प्रयुक्त दो प्रकार की निष्ठाएं हैं। सांख्यों द्वारा आचरित ज्ञानयोग तथा योगियों द्वारा आचरित कर्म योग। इन दोनों ही निष्ठाओं में कर्म का त्याग नहीं है। कार्यो की अनारम्भ स्थिति में रहने से नैष्कर्म्य सिद्ध नहीं होता है, न कर्मों के संन्यास से ही, न त्याग से ही सिद्धि प्राप्ति होती है। माया से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणों में वर्तते हैं, ऐसा जानते हुए मन एवं दशेन्द्रियों द्वारा किये जाने वाले सभी कर्मों में कर्त्तापन के अभिमान से शून्य हो उस एक परम ब्रह्म में ही एकीभाव से स्थित होकर रहने का नाम ही ज्ञान-योग है। इसी को संन्यास एवं सांख्य-योग इन नामों से अभिहित किया गया है। फल और आसक्ति को त्याग भगवत आज्ञानुसार केवल भगवतार्थ समत्व बुद्धि से कर्म करने का नाम निष्काम कर्मयोग है। इसी को कर्मयोग, तदर्थ कर्म, मदर्थ कर्म, मत्कर्म इत्यादि नामों से कहा गया है। जिस अवस्था को प्राप्त हुए पुरुष के कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् फल उत्पन्न नहीं करते, उस अवस्था का नाम ही नैष्कर्म्य है।

इस तरह सांख्य एवं कर्म योगसाधन की दृष्टि से अवश्य पृथक हैं पर परिणामत: दोनों एक हैं। कर्मयोग के बिना संन्यास सिद्ध नहीं हो सकता पर कर्म योग सहज ही सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।।५.६

मन, इन्द्रियों और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्त्तापन के साथ का त्याग बिना निष्काम कर्म योग की सिद्धि के संभव नहीं है। पहले *अनासक्ति भाव होगा तभी कर्त्तापन के भाव का अभाव होगा।* इस कारण ज्ञान-योग से कर्मयोग विशिष्ट व सहज है।

सांख्य एवं निष्काम कर्मयोग के उपर्युक्त विवेचन को हम इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं—

सांख्य योग	कर्म योग
१ सम्पूर्ण पदार्थ मृगजल या स्वप्न सृष्टि की भांति माया आवृत्त हैं।	१ सब कुछ भगवान का समझकर
	२ समत्व बुद्धि योग से
२ गुण ही सर्वश: गुणों में वर्त रहे हैं।	३ आसक्ति छोड़ कर
३ सच्चिदानंद परमात्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है।	४ कर्म फल की इच्छा त्याग कर,
	५ भगवान के ही लिये कर्म करें
४ एकीभाव से सतत उसी में स्थित रहें।	६ मन, कर्म, वचन से भगवान की शरण होकर
५ तथा कर्त्तापन के अभिमान से शून्य हो देहाभिमान से रहित हो कार्य करें।	७ नाम गुण स्वरूप का निरन्तर चिंतन करें।

सांख्य योग तथा कर्मयोग दोनों में स्थित होने के बाद प्राणी की स्थिति ऐसे स्थान पर पहुँच जाती है कि तत्वतः वह कर्म करते हुए भी अकर्मी ही बना रहता है। यही स्थिति नैष्कर्म्य की स्थिति है। ऐसे ही प्राणी स्थितप्रज्ञ, स्थितधी प्रज्ञ-प्रतिष्ठित तथा समाधिस्थ कहलाते हैं। ऐसे जन अपने जीवन काल में ही परम शांति वाली ब्राह्मी के अनामय परम पद को, नैष्कर्म्य को प्राप्त करते हैं तथा अन्तकाल में ब्रह्म निर्वाण प्राप्त करते हुए उस परम धाम, परम पद को पहुँचते हैं।

इस तरह हम देखते हैं महर्षि वेदव्यास ने कर्म के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कर्म करने की आवश्यकता, तथा कर्म कैसे करें इस विधि का विस्तार के साथ विश्लेषण किया है। अब हम कौनसे कर्म निःश्रेयस प्रदाता तथा मन बुद्धि को पावन करने वाले हैं, जिनका त्याग नहीं करना चाहिये, उसका आध्यात्मिक दृष्टि से विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

गीता में अर्जुन की जिज्ञासा पर भगवान कृष्ण ने कर्म की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है—

> अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
> भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।८.३

परम अक्षर ब्रह्म तथा स्वभाव अध्यात्म कहा जाता है। भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला शास्त्र विहित यज्ञ, दान और होम आदि निमित्त जो द्रव्यादि का त्याग है वही कर्म नाम से कहा गया है। यह त्याग ही वास्तव में यज्ञ है। क्योंकि जो अपने लिये ही कमाते है स्वयं ही उसे अपने शरीर के पोषण के भाव से खा जाते हैं, वे तो पापी हैं तथा पाप ही खाते हैं। अर्थात् त्यागहीन भोग पाप है, यह भावार्थ है। त्याग मे जो बचे उसे खाओ। इससे सारे पाप छूट जाते हैं।

> यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
> भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।३.१३

यह त्याग कर्म ही यज्ञ है। या यों कहें यज्ञ त्याग वाले कर्मों से समुद्भूत है। गीता में भी कहा है—

> यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।३.१४

यह यज्ञ कर्म ब्रह्म से उत्पन्न होता है। कर्म का निर्णय वेदों से हुआ है। वेद प्रवृत्ति के भी मन्त्रदाता है और निवृत्ति के भी। प्रवृत्ति कर्म काण्ड से सम्बन्धित है। अतः कर्म की उत्पत्ति वेद से अर्थात् ब्रह्म से हुई है। इसे दूसरे भाव से देखें तो ब्रह्म का अर्थ क्षर भाव या क्षर पुरुष भी है। अक्षर अकर्त्ता है। अक्षर से क्षर की उत्पत्ति हुई है; जो त्रिगुणात्मक होने से कर्म का कर्त्ता है। यह विवेचन अधिक बुद्धि ग्राह्य है। गीता में ब्रह्म शब्द जहां जहां अकेले आया है, वहाँ वह क्षर का ही द्योतक होकर आया है। जहाँ पर ब्रह्म आया है वहाँ अक्षर का भाव जानना चाहिये। और जहाँ परम ब्रह्म आया है वहाँ अव्ययी परमात्मा का अर्थ समझना चाहिए। गीता में ब्रह्म, परम ब्रह्म और पर ब्रह्म का यदि यही अर्थ ग्रहण किया गया तो गीता को समझने में सरलता होगी। ब्रह्म इस

तरह क्षर भाव है। परम् ब्रह्म अक्षर भाव है और पर ब्रह्म अव्यय ही है। कर्म इस तरह ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है और ब्रह्म अक्षर से। ज्यामिति न्याय के अनुसार इस तरह सर्वगत पर ब्रह्म न केवल कर्म में अपितु यज्ञ में भी प्रतिष्ठित रहता है। ईषोपनिषद में भी यही भाव आया है—

ईषावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

यह सारा दृश्यमयान जगत् ईश्वर से ओत-प्रोत है। अतः त्यागपूर्वक भोग करो। लोभ न करो। धन कब किसका हुआ है। यज्ञ विचार हम पृथक् से करने वाले हैं अतः अधिक विस्तार न देते हुए जो त्याग रूप यज्ञ दान तप आदि श्रेष्ठ कर्म हैं उन्हें गीता ने इसी कारण पावन करने वाला तथा अत्याज्य माना है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।१८.३

कई एक विद्वान् संन्यासी यह मानते हैं कि सभी कर्म दोष पूर्ण हैं अतः त्याज्य हैं। गीता ने इसका स्पष्ट शब्दों में बार-बार विरोध किया है। गीता ने न तो कर्मों के अनारम्भ से नैष्कर्म्य सिद्धि मानी है न संन्यास से ही। गीता ने कहा है कि कर्म, अकर्म और विकर्म का बोध कर, यज्ञार्थ, लोक संग्रहार्थ कर्म करते हुए अकर्म की स्थिति तक पहुँचना चाहिये। गीता ने बहुत जोर देकर कहा है कि यज्ञ दान और तप कर्म कतई त्यागने योग्य नहीं है। क्योंकि यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है वह सत् है। अतः इन अर्थों में किया हुआ कर्म भी सत है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।१८.५

यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं हैं। वे करणीय कार्य हैं। क्योंकि ये तीनों ही मनीषियों को पवित्र करने वाले हैं।

इसी तरह नियत कर्म का त्याग करना भी योग्य नहीं है 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते (१८।७)। जो भी नियत कार्य कर्म हैं, शास्त्रों ने जिन्हें नियत किया हुआ कर्त्तव्य कर्म कहा है, उन्हें करना चाहिये। गुण भेद से कर्म तीन प्रकार के हैं—सात्विक, राजस तथा तामस।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।१८.२३
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायायं तद्राजसमुदाहृतम्।।१८.२४
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।१८.२५

जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ और कर्त्तापन के अभिमान से रहित फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग-द्वेष से किया जाता है वह कर्म

तो सात्त्विक कहा जाता है। जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फल को चाहने वाले और अहंकारी पुरुष द्वारा किया जाता है वह कर्म राजस कहलाता है और जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर केवल अज्ञान से प्रारम्भ किया जाता है वह कर्म तामस कहा जाता है। गीताकार ने इसी आधार पर सात्त्विक, राजस तथा तामस कर्मों के कर्त्ताओं के लक्षण इस प्रकार निरूपित किए हैं—

> मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
> सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।१८.२६
> रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
> हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।१८.२७
> अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
> विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।१८.२८

मुक्त संग (अनासक्त), अनहंवादी, धृति उत्साह समन्वित, सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार, कर्त्ता, सात्त्विक, रागी, कर्मफल आकांक्षी, लोभी, हिंसात्मक, गन्दा, हर्ष-शोकान्वित, कर्त्ता, राजस तथा अयुक्त, प्राकृत स्वभाव, घमण्डी, धूर्त, दूसरे की आजीविका छीनने वाला, विषादयुक्त, आलसी एवं दीर्घसूत्री कर्त्ता तामस कहा जाता है।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि सात्त्विक कर्म को सात्त्विक कर्त्ता के भाव से करना चाहिए।

गीताकार ने गुण स्वभावानुसार कर्म का विभेद किया है। मनुष्यों को गुण कर्म विभागशः चार वर्णों में बांटा है।

> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।।४.१३
>
> × × × ×
>
> ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
> कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।१८.४१
> शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
> ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।१८.४२
> शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
> दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।१८.४३
> कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
> परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।१८.४४

यह नियत स्वाभाविक कर्म ईश्वर की ही पूजा है। यदि मनुष्य ने अपने गुण स्वभावानुसार नियत कर्म को शास्त्रोक्त विधि से पूरे मनोयोग के साथ किया तो उसे उसी के नैष्कर्म्य सिद्धि की प्राप्ति हो जाएगी। गीता में कहा भी है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।१८.४५

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्यसिद्धिं विन्दति मानवः ।।१८.४६

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।।१८.४७

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।१८.४८

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यं सिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।१८.४९ □

ध्यानयोग

दुःख के संयोग का जहां सर्वथा वियोग है, उसे योग कहते हैं। इस योग-विद्या को जानना चाहिए तथा निश्चयपूर्वक अनुद्विग्न चित्त से इसकी साधना करनी चाहिए।

तंविद्यात् दुःखसंयोगवियोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।।६.२३

इस श्लोक में योग के प्रारम्भिक साधक के लिए दो बातें कही गई हैं। साधक कैसा हो, दृढ़ निश्चयी एवं अनुद्विग्न चित्त वाला। जिसका अनुद्विग्न चित्त होगा वही दृढ़ निश्चयी हो सकता है। उकताए चित्त में निश्चय कहां? निश्चय की दृढ़ थिरता तो प्रशान्त मानस में ही सम्भव हो सकती है। इस तरह दृढ़ निश्चय की प्रतिष्ठा अनिर्विष्ठा चित्त हुआ। इन दोनों में ही भौतिक कामनाओं से उपराम होने का भाव निहित है। उकताया चित्त किसका नहीं होगा? जिसे कोई कामना नहीं सता रही होगी, जो पूर्ण सन्तुष्ट तथा मुक्त होगा।

इसीलिए शायद अर्जुन ने भगवान् से योग की सम्पूर्ण व्याख्या सुनने के बाद यह एक ही प्रश्न किया कि : हे कृष्ण ! मन तो चञ्चल, प्रमाथी, बलवान् व दृढ़ है; इसका विग्रह वायु के समान दुष्कर है, फिर योग की साधना कैसे संभव है ?

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।६.३४

भगवान् कृष्ण अर्जुन के इस संशययुक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।६.३५

हे महाबाहु अर्जुन ! इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मन दुर्निग्रही एवं चंचल है; लेकिन योगाभ्यास से यह वैराग्य को प्राप्त हो जाता है। भगवान् के इस उत्तर में जो दुर्निग्रह शब्द है उसमें निग्रह की सम्भावना छिपी है। भगवान् ने नकारात्मक नहीं सकारात्मक उत्तर दिया है और उसके लिए उपाय बताया है।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥६.२४
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा ग किंचिदपि चिन्तयेत् ॥६.२५
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥६.२६

संकल्प प्रभूत समस्त कामनाओं को त्याग, सब ओर से इन्द्रियग्रामों को मन से संयमित कर शनैः शनैः धैर्ययुक्त बुद्धि से उपरामता को प्राप्त होकर, मन को आत्मा में स्थापित कर कुछ भी चिन्तन न करें। साथ ही जिन-जिन कारणों से यह अस्थिर चञ्चल मन बाह्य पदार्थों की ओर आकृष्ट होता है, वहां-वहां से उसे हटाकर आत्मा में ही बलपूर्वक स्थित करें। ऐसा अभ्यास करने से मन आत्मवशी हो जाता है। इस अभ्यास के साथ ही भगवान् ने एक उपाय और बताया है, वह है ध्यान-साधना का। ध्यान-योग विधि का उल्लेख हमें गीता मे श्लोक ६.११ से ६.१४ तक मिलता है। देखिए—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥६.११
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥६.१२
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वंदिशश्चानवलोकयन् ॥६.१३
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥६.१४

अपना आसन किसी पवित्र स्थान पर स्थिरता से प्रतिष्ठापित करें। वह स्थान न अति ऊँचा हो न अति नीचा। उस आसन पर कुशा, फिर चैलाजिन (चिकना रेशमी वस्त्र) बिछाएँ। फिर आसन पर बैठकर चित्त एवं इन्द्रियों को वश में कर मन को एकाग्र करते हुए आत्म शुद्धि के निमित्त योग का अभ्यास करें। उस समय काया, सिर व ग्रीवा समानान्तर हो। साथ ही अचल एवं स्थिर रूप से धारित हो। फिर इधर-उधर दिशाओं मे नही देखते हुए दृष्टि को नासिकाग्र पर टिकाएँ तथा प्रशान्त आत्मा, विगत भय एवं ब्रह्मचर्य व्रतधारी होकर मन को संयमित कर परमात्मा को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हुए चित्त से प्रभु परायण होकर उसी में ध्यानस्थ होकर योग-साधना में बैठें।

किस प्रकार उस परमात्मा के ध्यानस्थ हों इस सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं--

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।६.१६

जिस प्रकार निर्वात स्थान में रखे दीपक की लौ सर्वथा अचञ्चल व सीधी होती है, वैसी ही उसकी उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी की प्रभु परायण चित्त की कही गई है। इस तरह ध्यान-योग की साधना की प्रक्रिया के दो प्रकार भगवान् ने बताए, पहला ज्ञान-प्रधान, मन से या यों कहें ज्ञान से, इच्छा से जिसका विशेष सम्बन्ध है। दूसरा क्रियाप्रधान जिसका साधना से विशेष सम्बन्ध है। ज्ञान से मन, चित्त एवं इन्द्रियों का तथा इनके संकल्पित भावों का संयमन, इच्छा से साधना के या आत्मस्थ होने का दृढ़ निश्चय तथा क्रिया से एकाग्र होकर परमात्म परायणता ये तीनों बातें योग सिद्धि के लिए आवश्यक हैं।

भगवान् ने ध्यान-योग साधक को आहार-विहार के सम्बन्ध में भी कुछ निर्देश दिए हैं। देखिए—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।६.१६
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।६.१७

योग न तो अधिक खाने वाले को, न बिल्कुल न खाने वाले को सिद्ध होता है। इसी तरह न अधिक सोने वाले को, न अधिक जागने वाले को योग सिद्ध होता है। योग सिद्धि के लिए युक्त आहार-विहार, युक्त कर्म चेष्टा, युक्त निद्रा जागरण आवश्यक है। ऐसे ही व्यक्ति को योग दुःखहारी होता है। यहां कर्म का संन्यास अथवा इन्द्रियों का सर्वतः निग्रह नहीं है; अपितु यम नियमपूर्वक युक्त कर्म करने का निर्देश दिया है। ऐसे योगाभ्यासी के लिए कर्म ही योग का कारण माना है। कर्म की कुशलता ही तो योग है। योगी हो जाने पर फिर शान्ति ही शान्ति है। वहां तो कर्म भी अकर्म हो जाता है। गीता में आया भी है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।६.१
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।६.३

जो कर्म फल पर आश्रित नहीं रहता हुआ, करणीय कर्म करता है वही संन्यासी है और वही योगी। निरग्नि एव अक्रिय नहीं। योग में सिद्धि की इच्छा वाले मुनि के लिए कर्म ही कारण कहा गया है और जो योग सिद्धि को प्राप्त हो गए हैं उनके लिए शान्ति ही कारण है। इसे थोड़ा समझ लें। जो योग मार्ग के यात्री हैं उन्हें कर्म में समत्व बुद्धि की सिद्धि अर्जित करनी होती है और जो समत्व बुद्धि योग को प्राप्त हो गए हैं उनके लिए शान्ति, सर्वसंकल्पों का अभाव ही हेतु कहा है। उस स्थिति में वह कर्म करता हुआ भी कर्म में आसक्त नहीं होता।

यहां तक भगवान् ने योग का सकारात्मक पक्ष प्रस्तुत किया है अब वे नकारात्मक रूप से अर्जुन को कहते है कि कौन योगी नही हो सकता ?

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।।६.२

अर्थात् मन के संकल्पों को नही त्यागने वाला कभी योगी नहीं हो सकता। एक स्थान पर और कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मति ।।६.३६

जिसका मन वश में नही है, असंयत है ऐसा पुरुष योग को प्राप्त नही करता। इस तरह योग सिद्धि के लिए आवश्यक तत्त्व हुए (१) सर्व संकल्पों का संन्यास, (२) मन बुद्धि की संयतावस्था, (३) एक तत्त्व और भगवान् ने कहा है वह है—

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायत: ।।६.३६

'यतता⋯उपायत:' ही यह तीसरा तत्त्व है। उपायत: कहिए योग-साधना को। इस साधना को भी विशेषण दिया है 'यतता' अर्थात् प्रयत्नपूर्वक। प्रयत्नपूर्वक सतत योग-साधना ही तीसरा तत्त्व है।

योगारूढ़ कब होता है—

इन तीनों ही तत्त्वों से युक्त साधक कब योगारूढ कहा जाता है ? इस संबंध में गीता में कहा है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।६.४
जितात्मन: प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित: ।
शीतोष्णसुखदु:खेषु तथा मानापमानयो: ।।६.७
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय: ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चन: ।।६.८
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थित: ।
मन: संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर: ।।६.१४
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
नि:स्पृह: सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।।६.१८
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मन: ।।६.१९
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।६.२०
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वत: ।।६.२१
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत: ।
यस्मिन्स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते ।६.२२

जब साधक न तो इन्द्रियों के विषयों में और न कर्मों में आसक्त होता है और सारे मनोगत संकल्पों को त्याग देता है तब योगारूढ़ कहा जाता है।

जो शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान में प्रशान्त जितात्म परमात्मा के चिन्तन में समाहित, ज्ञान-विज्ञान से तृप्त, आत्मस्थ, जितेन्द्रिय, मिट्टी-पत्थर व कंचन में समभाव वाला है वही योगी योग युक्त कहा जाता है।

जिस प्रशान्तात्मा, भयरहित, ब्रह्मचर्यव्रतधारी, संयमित मन, ईश्वर में चित्त वृत्तियों को स्थित किए ईश्वर परायण का विनियत चित्त जिस काल में परमात्मा में ही, वायुरहित स्थान में रखे दीपक की नेंगित शिखा के समान बिना हिले-डुले भली प्रकार स्थित हो जाता है उस काल में सम्पूर्ण कामनाओं से निस्पृह पुरुष को योगयुक्त कहा जाता है।

जिस अवस्था में योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त उपराम हो जाता है, परमात्मा को अपनी आत्मा में देखता हुआ साधक आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है। बुद्धिग्राह्य आत्यन्तिक अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता हुआ उस स्थिति से विचलित नहीं होता। उस स्थिति से अधिक जीवन में और कोई लाभ नहीं मानता है, भारी से भारी दुःख भी जिसे उस स्थिति से विचलित नहीं करता है, यही योग के लक्षण कहे गए हैं।

इस तरह कूटस्थ हो जाना ही योग युक्तता है। कूटस्थ का अर्थ आत्मा है, यह सर्व मान्य है। कूटस्थ आत्मा के सन्दर्भ में कैसे प्रयुक्त हुआ, इसके कई भावार्थ हैं। कूट का अर्थ है, कुटिल, शिखर, कूट राशि आदि। इन तीनों ही अर्थों को समाहित कर एक अर्थ तो यह किया ही जा सकता है—जो कूट राशि की भांति कुटिलता से शिखर पर स्थित है वह आत्मा। पृथक्-पृथक् शब्दार्थ से भी अर्थ संग्रह किया जा सकता है जो कुटिलता से बुद्धि की गुहा में छिपा है, जो शरीर के शिखर पर स्थित है तथा जो कूटराशि की तरह स्थित है। वैसे गीता में आत्मा को स्थान-स्थान पर हृद्-देश में स्थित कहा है फिर शिखर पर कैसे स्थित माना जाए? कूटस्थ शब्द योग और योगियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है। योगी आत्मा को जिस स्थान पर देखता है वह स्थान सहस्रार चक्र है जो शिखरस्थ बुद्धि स्थानीय है। इस तरह आत्मा कूटस्थ कहा गया है। विद्वानों ने हो सकता है और भी अर्थ लगाए हों। मैं जितना समझ सका हूँ वह यहां प्रस्तुत है। इस कूटस्थ में स्थिति ही योगारूढ़ की स्थिति है। विजितेन्द्रियता, कर्म में अनासक्ति, संकल्प रहितता, समदर्शिता, ज्ञान-विज्ञान तृप्तता, भयहीनता, ब्रह्मचर्य, मन-चित्त-बुद्धि से ईश्वर परायणता, इसी आत्मस्थ होने की प्रक्रिया के विभिन्न सोपान हैं। इन्हीं सोपानों से आत्मस्थ अथवा यों कहें योगारूढ़ की स्थिति तक पहुँचा जा सकता है। योगी इस स्थिति से श्रेष्ठ अन्य कोई स्थिति नहीं मानता। वह सतत योगाभ्यास द्वारा अखण्ड रूप से इसी स्थिति में रमा रहता है। इसी में सन्तुष्ट रहता है। वही योगी है, वही योगयुक्त योगारूढ़ है। उपर्युक्त विवरण द्वारा हम योगारूढ़ स्थिति के परिचायक तत्त्वों को संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं—जब सर्व संकल्प संन्यासी, इन्द्रियों के विषयों तथा कर्मों से सर्वथा अनासक्त तथा सर्व कामनाओं से निस्पृह हो,

निवातस्थ दीप-शिखा की भांति, विनियत चित्त से, आत्मस्थ हो, आत्म में ही स्थित रहता है, भारी से भारी दुःख में भी विचलित नहीं होता तथा स्थिति में ही आत्यन्तिक अप्रतिम अतीन्द्रिय सुख मानता है, वही योगयुक्त है। योगारूढ़ है।

सिद्ध योगी के लक्षण—

इन्हीं में से योगी के लक्षण पृथक् कर देखे जा सकते हैं। गीता के छठे अध्याय के श्लोक ७ ८,९ व १० में योगी के लक्षण इस तरह बताए हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयो ।।६ ७
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थे विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चन ।।६.८
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।।६.९
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।।६.१०

सर्दी गर्मी, सुख दुःख, मान अपमान आदि भौतिक द्वन्द्वों में जिसके अन्तः-करण की वृत्तियां अच्छी प्रकार शांत एवं विकार रहित हैं, जिस स्वाधीन आत्मा वाले पुरुष के ज्ञान में सच्चिदानन्द घन परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित है अर्थात् जिसके ज्ञान में परमात्मा के सिवाय कुछ नहीं है, जिसका ज्ञान एवं विज्ञान से अन्तःकरण तृप्त है, जो कूटस्थ है, जो विजितेन्द्रिय है, जिसके सम्मुख मिट्टी और सोना समान है, जो सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धु, धर्मात्मा, और पापियों में समबुद्धि वाला है, जिसका मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है, और जो निराशी, अर्थात् आशारहित, संग्रह रहित, एकाकी रहते हुए सदा आत्मा को परमेश्वर के ध्यान में लगाए हुए एकान्त स्थान में रहता है, वही योग युक्त श्रेष्ठ योगी है।

योग साधना से लाभ—

भगवान् ने अर्जुन को योग क्रिया, योगसाधक का आहार विहार तथा योगी के लक्षण ही अर्जुन को नहीं बताए हैं, योग साधना के लाभ भी गिनाए हैं। देखिये-

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।६.१५
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा ।।६.१७
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।६.२७
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।६.२८

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।६.२६
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।६.३०
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।६.३१

इस प्रकार जो नियत मानस योगी आत्मा को सदा परमात्मा में लगाये रहता है वह परमात्मा में स्थिति रूप निर्वाण की परम शांति को प्राप्त होता है । अर्थात् आत्मा के परमात्मा में समाहित होने पर परमानंद की पराकाष्ठा वाली शांति योगी पाता है ।

युक्त आहार विहार, युक्त कर्म चेष्टा, युक्त स्वप्नाववोध वाले योगी के भौतिक दु:खों को योग सिद्धि नष्ट कर देती है ।

प्रशान्त मानस, शान्त रजोगुण, ब्रह्मभूत, अकलमष योगी को अति उत्तम आनन्द की प्राप्ति होती है । इस प्रकार आत्मा को सुखपूर्वक परमात्मा में लगाये हुए योगी, ब्रह्म संस्पर्श के अत्यन्त सुख का आनन्द पाता है ।

सर्वत्र समदर्शी योगयुक्तात्मा योगी आत्मा को सर्वभूतों में तथा सर्वभूतों को आत्मा में स्थित देखता है । इस तरह जो सर्वत्र भूतों में परमात्मा को तथा परमात्मा में समस्त भूतग्राम को देखता है, उसके लिये न तो परमात्मा अदृश्य होता है न वह परमात्मा से अदृश्य होता है । आत्मा व परमात्मा दोनों एक हैं । इस एकीभाव से जो सर्वभूतों में स्थित परमात्मा को भजता है वह इस संसार में विचरण करता हुआ भी, परमात्मा में ही विचरता है । उपर्युक्त विवरण में हम दो बातें देखते हैं, एक तो योग के लाभ, दूसरे योगी के कुछ विशेषण । जैसे नियतमानस, युक्त आहार विहार. कर्म चेष्टा, स्वप्नअवबोध, प्रशान्तात्मा, शान्तरजस, ब्रह्मभूत, अकलमष, समदर्शी आदि । योग के लाभ इन विशेषणों से अलंकृत होने के उपरान्त ही योगी को प्राप्त होते हैं । ये विशेषण योगसिद्धि की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं ।

अर्जुन ने जहाँ मन की चंचलता को निरुद्ध करने हेतु निग्रह के सम्वन्ध में सन्देह प्रकट करते हुए प्रश्न किया था, वैसे ही अर्जुन ने एक और प्रश्न किया है, वह है, उस साधक की गति के सम्वन्ध में, जिसने योग साधना बीच में ही छोड़ दी है तथा योग की संसिद्धि प्राप्त नहीं की है । देखिये—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्या योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।।६.३७

योग के प्रति श्रद्धावान होकर भी यदि कोई अपने योगाभ्यास एवं योग उपायों के प्रति शिथिल यत्न तथा चलित मानस हो जाए तथा योग संसिद्धि को प्राप्त न कर सके, तब वह किस गति को प्राप्त होता है ? अर्जुन के इस प्रश्न में

किसी न किसी गति की प्राप्ति की सम्भावना तो छिपी दिख रही है। लेकिन वह गति कौनसी है, यही प्रश्न है। इसी प्रसंग में अर्जुन अपनी ओर से एक स्वाभाविक सम्भावना प्रस्तुत करते हुए पूछता है—क्या वह परमात्म दर्शन के पथ से स्खलित अप्रतिष्ठ विमूढ छिन्न मेघों की भांति, श्रेय एवं प्रेय दोनों ही प्राप्तियों से भ्रष्ट हुआ नष्ट तो नहीं हो जाता? इस प्रश्न के साथ ही भगवान को अर्जुन यह भी कहता है कि मेरे इस संशय को सम्पूर्णता से छेदन करने हेतु कोई दूसरा योग्य संशय छेत्ता मिलना सम्भव नहीं है? अर्जुन ने इस तरह भगवान् के योगेश्वर अथवा ईश्वर रूप पर विश्वास ही नहीं किया है अपितु उन पर अपना सारा भार डाल दिया है। देखिए—

> कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
> अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।।६.३८
> एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
> त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।।६.३९

भगवान् इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

> पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
> न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।।६.४०
> प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
> शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।६.४१
> अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
> एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।६ ४२
> तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
> यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।६.४३
> पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
> जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।६.४४
> प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
> अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।६.४५

योग साधक का न तो इस लोक में न परलोक में ही विनाश है क्योंकि कल्याण कार्य करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। वह योगभ्रष्ट पुण्यवानों के पवित्र लोकों में बहुत समय तक वास करके या तो श्रीमन्तों के शुचि गृहों में जन्म लेता है अथवा वह धीमान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है। इस तरह का जन्म भी संसार में निस्सन्देह अतीव दुर्लभ है। उन योगियों के कुलों में जन्म लेकर वह अपने पहले जन्म के बुद्धि संस्कारों का संयोग प्राप्त कर पुनः उनके प्रभाव वश योग की ससिद्धि के लिए यत्नशील हो जाता है। वह न चाहते हुए भी पूर्व जन्म के अभ्यासवश, उस ओर आकृष्ट होता है। योग का जिज्ञासु तक भी शब्द ब्रह्म का अतिवर्तन कर जाता है, फिर पूर्व जन्म के अभ्यासी का तो क्या कहना।

योग प्रयत्नपूर्वक सतत अभ्यास करने वाला विशुद्ध निष्पाप योगी, अपने अनेक जन्मों की संसिद्धि के उपरांत ही परागति को प्राप्त होता है।

उपर्युक्त वर्णन में हमें कई बातें देखने को मिलती हैं। पहले तो हमें कई लोकों के अस्तित्व की सूचना मिलती है। इस भौतिक जगत् के अतिरिक्त पुण्यकर्मियों का एक लोक है, वहाँ पुण्यात्माएँ बहुत काल तक निवास करती हैं। यदि पुण्यात्माओं का कोई लोक है तो निश्चय ही अधमात्माओं का भी कोई लोक होना चाहिए। त्रैलोक्य (१.३२, १५.१३) नरक (१.४२-४४) स्वर्ग (२.२, २.३२,२.३७,२.४३) 'राज्य सुराणाम्' (२.८) सुरेन्द्र लोक, आसुर लोक ऐसे कई शब्द गीता में आए हैं जो कई लोकों की स्थिति प्रतिपादित करते हैं। सप्त लोकों की बात भी अन्य ग्रंथों में मिलती है जिन्हें भू भुवः स्वः मह जन तप व सत्य लोक कहे गए हैं। त्रिलोक की बात भी गीता में स्थान-स्थान पर आई है। शायद इस अर्थ में भू लोक, सुरेन्द्रलोक और आसुर लोक हों। वैसे मोटे अर्थ में भूः, भुवः, स्वः तो गिने ही जाते हैं। दूसरी बात पुनर्जन्म की है। जब तक परागति की प्राप्ति न हो जाए तब तक योग साधकों को भी बार बार जन्म लेना होता है। हाँ, उनका जन्म कुलीन कुलों में या योगियों के ही कुलों में होता है। 'योगियों के कुल' से जिस भाव की ध्वनि गुञ्जित होती है वह है, योगियों के सामान्य गार्हस्थिक जीवन की स्थिति। गीता में गृहत्याग की बात कहीं नहीं है। कर्म फल की चाह व कर्मों में आसक्ति के त्याग की बात तो गीता ने कही है। कर्म त्याग की बात कब व कहां है? बिना कर्म किये तो कोई रह ही नहीं सकता। नित्य नैमित्तिक कर्म तो गुणों के वश करने ही पड़ेंगे। असंग पारिवारिकता गीता का उद्घोष है। असंग भी तब तक, जब तक योग की सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। ब्राह्मी स्थिति के बाद तो कर्म का करना भी अपनी संस्कार अक्षमता के कारण अकर्म की ही स्थिति है। उस स्थिति में संन्यासी या योगी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता है। यह सारी बात कर्म प्रकरण में विस्तार से आई है। तीसरी बात जो अतीव महत्त्वपूर्ण है तथा इस अध्याय से सम्बन्धित है, वह है, योग साधना के संस्कारों का जन्म जन्म तक स्थिर रहना। अमिटता, कल्याणकारी कार्यों की एक विशेषता है। अनेक जन्मों की योगसाधना या कल्याणकृत कर्म ही परगति तक पहुँचाते हैं। सबका सामूहिक, सम्मिलित या यों कहें संकलित प्रभाव परागति तक पहुँचाने में सहायक होता है। एक जन्म की योग साधना की सिद्धि परागति नहीं देती है। अनेक जन्मों की संसिद्धि आवश्यक है। अतः मनुष्य को ध्यान योग का ध्यान हर जन्म में करना चाहिए। यही ध्यान साधना बुद्धि योग की ब्राह्मी स्थिति तक पहुँचाती है।

योग की महत्ता कहते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं—

> तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
> कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥६.४६

ध्यान योगी तपस्वियों से, ज्ञानियों से, तथा कर्म योगियों से भी अधिक है, ऐसा वेदव्यास का मत है। भगवान् कृष्ण ने इसीलिए अर्जुन को योगी बनने का सदुपदेश दिया है 'योगी भवार्जुन।'

चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।७.१६

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय: ।।७.१७

वैसे तो चारों ही प्रकार के भक्त उदार होते हैं पर ज्ञानी परमात्मा का ही स्वरूप है; क्योंकि यह आत्मा से युक्त भक्त अति उत्तम गति से परमात्मा में स्थित रहता है। ज्ञानवान वैसे तो वहुत जन्मों की भक्ति के वाद परमात्मा को प्राप्त होता है; फिर भी इनमें ऐसे ज्ञान वाला महात्मा कि यह सव कुछ दृष्ट अदृष्ट परमात्मा ही है, अति दुर्लभ है। अर्थात् ज्ञानियों में भी श्रेष्ठ, ज्ञानवान महात्मा वह है जो यह मानता हो कि जो कुछ भी है वह परमात्मा ही है, परमात्मा के सिवाय और कुछ नहीं है।

उदारा: सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थित: स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।७.१८
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ: ।।७.१९

इस दुर्लभता के होते हुए भी राग, भय, क्रोध से रहित, अनन्य भाव से परमात्मा में स्थिति वाले तथा परमात्मा पर ही उपाश्रित, ज्ञान रूप तप से पवित्र वहुत से ज्ञानवान महात्मा परमात्म स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिता: ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता: ।।४.१०

अपने हेतु की प्राप्ति के लिए उपर्युक्त चारों प्रकारों के भक्त परमात्मा को विविधरूपों में भजते हैं। कितने ही इस परमपिता परमात्मा को अपनी आत्मा में देखते हैं, दूसरे कुछ तो ज्ञान योग द्वारा तथा कुछ कर्मयोग के द्वारा देखते हैं।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।१३.२४

लेकिन परमात्मा भी उन्हें वैसे ही भजता जैसे वे परमात्मा को भजते हैं। इस रहस्य को जानने वाले बुद्धिमान मनुष्य सव प्रकार से परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग पर ही चलते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश: ।।४.११

ध्यानी, ज्ञानी व कर्मयोगी के अतिरिक्त कुछ भक्त इन प्रक्रियाओं को इनसे सुनकर ही उन पर विधिपूर्वक आचरण करते हैं वे श्रुति परायण पुरुष श्रद्धा सहित भक्ति साधना करते हुए मृत्युरूप संसार सागर को निस्सन्देह तर जाते हैं। लेकिन जो परमात्मा को तत्त्वत: नहीं जानते हैं वे अपने कर्मो की फल सिद्धि चाहते हुए देवताओं को पूजते है। उन्हें इस मनुष्य लोक में कर्मजा फल-सिद्धि तत्काल ही होती है। माया द्वारा जिनका ज्ञान अपहृत कर लिया गया है, जो

आसुरी स्वभाव के आश्रित हुए हैं, तथा दुष्ट कर्म करने वाले, मूढ नराधम हैं, वे परमात्मा को नहीं भजते हैं। ऐसे अपहृत ज्ञान वाले अज्ञानी अपने स्वभाव से प्रेरित हुए जो कामनाएं करते हैं उन उनकी प्राप्ति हेतु अन्य देवताओं को उन-उन के नियमों में स्थित होकर पूजते हैं। जो-जो सकामी भक्त जिन जिन देवताओं की प्रतिमा को श्रद्धा से पूजना चाहता है, परमात्मा ही उनकी श्रद्धा को उसके प्रति स्थिर करता है। और वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त हुआ उस देवता की आराधना की चेष्टा करता है तथा उस परमात्मा के द्वारा ही विधान किये हुये उन इच्छित भोगों को निस्सन्देह प्राप्त करता है, परन्तु उन अल्पबुद्धि वालों का वह पूजा-फल नाशवान है। देवताओं को पूजने वाला देवताओं को प्राप्त होता है और परमात्मा के भक्त परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।४.१२

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।७.१५

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।७.२०

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।७.२१

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।७.२२

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।७.२३

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित तथ्य हमारे सामने आते हैं—

१ भगवान को भजने वाले भक्त चार प्रकार के हैं; अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। इनमें ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ है।

२ जो भक्त जिस भावना से भगवान की आराधना करता है, भगवान उसकी वही भावना पूरी करता है।

३ जो कामनाओं के वशीभूत हुए परमात्मा को छोड़कर देवताओं को पूजते हैं वे अज्ञानी यद्यपि लौकिक सिद्धियां अवश्य प्राप्त कर लेते हैं पर उनका फल अन्त में नाशवान ही है।

४ वैसे इन देवताओं की प्रस्तर प्रतिमाओं के प्रति ऐसे अज्ञानी सकाम भक्तों की श्रद्धा भी वही परमात्मा स्थापित करता है और ये अज्ञानी अपने स्वभाववश उन उन देवताओं की पूजा के उस सम्प्रदाय द्वारा निर्धारित विधान का अनुपालन करते हैं।

ये जो अज्ञानीभक्त प्रतिमा पूजन करते हैं, यदि ये परमात्मा के प्रति श्रद्धा से युक्त होकर अन्य देवताओं का पूजन भी करते हैं तो वे परमात्मा को ही पूजते हैं किन्तु उनका यह पूजन अविधिपूर्वक है। इस तरह देवताओं को पूजने वाले देवताओं को, पितरों को पूजने वाले पितरों को, भूतों के पूजने वाले भूतों को तथा परमात्मा का यजन करने वाले परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं। अविधिपूर्वक प्रतिमा के आधार पर जो कोई भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि परमात्मा के लिये भक्तिपूर्वक अर्पण करता है उस शुद्ध बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र पुष्पादिक वह परमात्मा ही खाता है। गीता में इसका बहुत सुन्दर निरूपण मिलता है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥९.२३
यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥९.२५
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥९.२६

उपर्युक्त वर्णन में हमें एक बात महत्वपूर्ण लगी। गीताकार ने यहाँ सगुण व निर्गुण उपासना का बड़ी सहजता से समन्वय कर दिया है। इसी तरह परमात्मा के भक्तों में और आत्मा के ही भक्तों में भी गीताकार ने सामञ्जस्य अपने ज्ञान कौशल से बिठा दिया है जैसे, बारहवें अध्याय के पहले श्लोक में ही अर्जुन के यह प्रश्न करने पर कि जो भक्त जन आपकी उपासना करते हैं, वे आपको प्राप्त होते हैं। यह तो ठीक है लेकिन जो अन्यत्र अक्षर आत्मा से ही सतत युक्त होकर रह जाते हैं, इनमें और उनमें क्या अन्तर है? इस पर भगवान कृष्ण अर्जुन को उत्तर देते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥१२.३
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥१२.४
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥१२.५

और जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को अच्छी प्रकार वश में करके सर्वत्र समबुद्धि होकर अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्रगम, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव आत्मा को भजता है, वह सर्वभूत हित में रत आत्मपूजक मेरे को ही प्राप्त होता है। इन अव्यक्त के प्रति आसक्तचित्त भक्तों को काया क्लेश अधिकतम उठाना पड़ता है। देहधारीजन द्वारा अव्यक्त विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥८.२१

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रता: ।।७.२८

अव्यक्त अक्षर है ऐसा कहा गया है, उस ही अक्षर नामक अव्यक्त भाव को परमगति कहते हैं। जिस सनातन अव्यक्त भाव को प्राप्त होकर मनुष्य पीछे नहीं आते हैं, वह परमात्मा का परमधाम है। श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करने वाले जिन पुरुषों के सब पाप नष्ट हो गये हैं वे राग द्वेषादि द्वन्द्वरूप मोह से मुक्त हुए दृढ़व्रती परमात्मा को ही सब प्रकार से भजते हैं।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८.८
अनन्यचेता: सततं यो मां स्मरति नित्यश: ।
तस्याहं सुलभ: पार्थनित्ययुक्तस्य योगिन: ।।८.१४
पुरुष: स पर: पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्त:स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।८.२२
महात्मानस्तु मां पार्थदैवींप्रकृतिमाश्रिता: ।
भजन्त्यनन्यमनसोज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।।९.१३
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता: ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।९.१४
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।।९.१५
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।९.२२
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा: ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।१२.६
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।१२.७
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय: ।।१२.८
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोपि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ।।१२.९
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।।१२.१०
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रित: ।
सर्वकर्मफलत्यागं तत: कुरु यतात्मवान् ।।१२.११

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२.१२

यह नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त, अन्य किसी देवता, पितर, भूत, प्रेत, अव्यक्त आदि की ओर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है। जो पुरुष परमेश्वर में अनन्य चित्त से स्थित हुआ सदा ही निरन्तर परमात्मा का स्मरण करता है, उस नित्य मुक्त योगी के लिये परमात्मा सुलभ है। जिस परमात्मा के अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस परमात्मा से सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त पर पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य है। दैवी प्रकृति के आश्रित जो महात्मा हैं वे परमात्मा को सब भूतों का आदि कारण तथा अव्यय जानकर अनन्य मन से युक्त हुए उसे निरन्तर भजते हैं। दृढ़ निश्चयी भक्त जन निरन्तर उसके नाम और गुणों का कीर्तन करते हुए, उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करते हुए, बार बार उसे प्रणाम करते हुए और सदा उसके ध्यान मे रमे हुए अनन्य भक्ति से उसकी उपासना करते हैं। विश्व रूप परमात्मा को जान यज्ञ के द्वारा पूजन करते हुए, कोई जो कुछ है सब वही है, इस एकत्वभाव से कोई अपने को बद्ध जीव रूप से पृथक मानते हुए पृथक्त्वभाव से और कोई अन्य बहुविध प्रकारों से उसकी उपासना करते हैं। इनमें से उन अनन्य भाव वाले भक्त जनों का, जो उस पर पुरुष को निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से भजते है, उन नित्य एकीभाव से स्थित पुरुषों का योगक्षेम वह पर पुरुष ही वहन करता है। उस पर पुरुष में जिनका चित्त पूर्णतया आवेशित है, उनका वह इस मृत्यु रूप संसार सागर से अचिरात् उद्धार करने वाला होता है। वे भक्त जो अन्यगामी न होकर केवल एकमेव उस सनातन अव्यक्त पर पुरुष में ही मन बुद्धि को स्थित किए हैं, वे उसी में निवास करेंगे इसमें संशय नहीं है। जो योग के अभ्यास मे भी असमर्थ हैं, उन्हें उस पर पुरुष के लिये ही कर्म करने में परायण होना चाहिये। इस प्रकार उस पर पुरुष के निमित्त कर्मों को करता हुआ वह पर पुरुष के परमधाम की प्राप्ति रूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा। यदि प्रभु योगाश्रित वह भक्त पर पुरुष के निमित्त अपने कर्मों को करने में भी असमर्थ है तो उस जीते हुए मन वाले भक्त को सारे कर्मों के फल को त्यागते हुए कर्म करना चाहिये। क्योंकि अभ्यास योग से ज्ञान श्रेयस्कर है, ज्ञान से ध्यान विशिष्ट है और ध्यान से कर्मफल त्याग। त्याग से तत्काल ही शांति उपलब्ध होती है।

उपर्युक्त भक्ति विवेचन में कई विचारणीय बिन्दु, उभरकर सामने आते है। जैसे—

१ अन्य देवताओं, पितरों, भूतों प्रेतों तथा अव्यक्त की ओर न जाते हुए जो केवल सतत उसी में अनन्य चित्त से स्थित रहते हुए एकमेव पर पुरुष की ही ध्यान के अभ्यासरूपयोग से भक्ति करता है उसे वह पर पुरुष सुलभ है। अर्थात् वह 'सर्वमिदं ततम्' पर पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य है।

२ एकत्व, पृथकत्व अथवा विविधरूपों में अनन्यभावों से कीर्तन, स्मरण, नमन

आदि से उसकी भक्ति करने वालों से एकत्वभाव से भक्ति करने वाले भक्तों के योग क्षेम को वह पर पुरुष ही वहन करता है। वही उनका मृत्यु संसार सागर से उद्धार करता है, तथा वे अन्त में उसी में निवास करते हैं इसमें संशय नहीं है।

३ वह पर पुरुष इतना करुणामय है कि वह न केवल योगाभ्यासियों को ही उपलब्ध है, वह उन्हें भी उपलब्ध है जो योग करने में असमर्थ है। केवल उस पर पुरुष के निमित्त ही अपने सब कर्मों को करते हैं या वे अपने किए सब कर्मों के कर्मफल को त्यागे हैं। त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त होती है।

गीताकार ने सर्वकर्मफल त्याग वाली बात यहां इस ढंग से कही है मानो कर्मफल त्याग की सिद्धि बहुत सहज हो। त्याग की यह सिद्धि ही तो ज्ञान की सिद्धि है।

उपर्युक्त तीनों विधि प्रकारों से भक्ति करने वालों की उपलब्धियों का पूर्व में कुछ तो वर्णन आया है। गीता में स्थान-स्थान पर ऐसी फल-श्रुतियां बार-बार कही गई हैं। देखिए—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥९.२७

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥९.२८

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥९.२९

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः॥९.३०

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥९.३१

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥९.३२

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥९.३३

मन्मना भव मद्भक्तोमद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥९.३४

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥१०.९

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०.१०

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।१०.११
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।११.५४
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।११.५५

जो कुछ कर्म करते हो, खाते हो, हवन करते हो, दान देते हो, तप करते हो उन्हें पर पुरुष के अर्पण भाव से करना चाहिए। इस प्रकार कर्मों को प्रभु अर्पण करने, रूप संन्यास योग से युक्त हुए मन वाला, शुभाशुभ-फलरूप कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है और इस प्रकार मुक्त हुआ वह उस पर पुरुष को ही प्राप्त होता है। पर पुरुष सब भूतों में समभाव से स्थित है, उसका न कोई अप्रिय है, न प्रिय। पर उसको जो भक्तिपूर्वक भजते हैं वे उसमें और वह उनमें प्रत्यक्ष प्रकट होता है।

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से उस पर पुरुष का भक्त हुआ उसको निरन्तर भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है। वह अपने दुराचरणों को छोड़ शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है। पर पुरुष का भक्त कभी नष्ट नहीं होता इसे सुनिश्चित सत्य मानो। स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पाप योनि आसुर तक भी उस पर पुरुष की शरण होकर परागति को प्राप्त होते हैं। फिर ब्राह्मण, पुण्यवान् भक्त तथा राजर्षियों का तो कहना ही क्या है? इस अनित्य, असुखकर, लोक को प्राप्त कर देहधारी को पर पुरुष का ही आराधन करना चाहिए। उसी पर पुरुष में मन वाला, उसी का भक्त, उसी का यजन करने वाला, उसी को नमस्कार करने वाला, उसी की शरण हो, जब अपनी आत्मा को उससे जोड़ देता है तब वह उसी को प्राप्त होता है। जो पर पुरुष में ही चित्त एवं प्राणों को अर्पित करने वाले नित्य परस्पर उसी का बोध तथा कथन करते हुए सन्तुष्ट रहते हैं तथा उसी में रमण करते हैं ऐसे सततयुक्त होकर प्रीतिपूर्वक भजन वालों को वह पर पुरुष बुद्धियोग देता है जिससे वे उसको प्राप्त होते हैं। केवल उन पर अनुकम्पा के भाव से ही वह उनमें आत्मभाव से स्थित होकर भास्वत ज्ञानदीप से उनके हृदयों में अज्ञान के कारण जन्मे अन्धकार का नाश करता है। उस पर पुरुष के विश्वरूप एवं चतुर्भुजादि रूप को जानने-देखने तथा तत्त्व से उसमें एकीभाव स्थित होने में अनन्य भक्ति ही शक्य है। जो प्रभु को अर्पण भाव से उसी के निमित्त कर्म करने वाला है, उसी के परायण हुआ रहता है, उसी का भक्त है, अनासक्त है, सारे प्राणियों से निर्वैर है वह उस पर पुरुष को ही प्राप्त होता है।

उपर्युक्त विवरण में गीता का प्रगतिशील सामाजिक पक्ष बड़ी स्पष्टता से उभर कर आया है। जो यह कहते हैं इनका मोक्ष नहीं हो सकता, उनका मोक्ष नहीं हो सकता, ये पात्र हैं, वे अपात्र हैं, उन्हें स्पष्ट निर्देश उपर्युक्त विवरण में मिलेगा। पर पुरुष की अव्यभिचारिणी अनन्य भक्ति वह पावन गङ्गा है जिसमें कोई डुबकी लगाए, मोक्ष के परम धाम को प्राप्त करके ही रहता है। चाहे वह

अतिशय दुराचारी हो, चाहे वह पाप योनि, स्त्री, वैश्या या शूद्र हो, सब क्षिप्रता से साधु एवं धर्मात्मा बनकर शाश्वत शान्ति के पद को पाते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि कोई भी प्राणी ईश्वर आराधना से वंचित नहीं किया जा सकता। ईश्वर का द्वार प्रत्येक के लिए खुला है।

इस विवरण में तथा इससे पहले वाले विवरण में परागति की प्राप्ति की उपलब्धि दर्शायी है। गीता में जहाँ परमगति शब्द आया है, उसका अर्थ है, श्रेष्ठ-गति, स्वर्गलोक की प्राप्ति आदि। जहां परमगति शब्द आया है उसका अर्थ है मोक्ष, ब्रह्म निर्वाण। परमगति पुनरावर्ती है और परागति अपुनरावर्ती। परमगति में पुरुष उस गति को भोगकर पुन: जन्म के बन्धन में आकर बंधता है। परागति में ऐसा नहीं है। यह गति केवल पर पुरुष की अनन्य भक्ति का ही प्रसाद है। इस संबध में पृथक् लेख के माध्यम से विस्तार से हम जानकारी प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस विवरण में ही एक और बहुत सुन्दर बात आई है। गीता में सर्वत्र बुद्धि योग की बात कही गई है। अनन्य भक्ति वाले भक्त को ही वह पुरुषोत्तम बुद्धि योग देता है और बुद्धियोगी ही उस उत्तम पुरुष को प्राप्त करता है। यह बुद्धियोग समत्व बुद्धि योग है। ईश्वर सम है। समभाव से ही सबमें स्थित है। जो इस सम के साथ तादात्म्य कर लेगा, उसका परिणाम सम ही है। इसी लिये समत्व ब्रह्म का प्रतीक हो गया है। इसीलिये बुद्धियोगी ही उसे प्राप्त करने का अधिकारी कहा गया है।

उपर्युक्त विवरण के निष्कर्षों को हम इस प्रकार क्रमांकित कर सकते है—

१ जब पर पुरुष को कोई भक्तिपूर्वक भजता है तब वह पर पुरुष में तथा पर पुरुष उसमें प्रत्यक्ष प्रकट होता है।

२ पर पुरुष का भक्त कभी नष्ट नहीं होता। दुराचारी तथा पाप योनि तक शीघ्र साधु व धर्मात्मा बन शाश्वत शांति पाते हैं।

३ सतत युक्त होकर प्रीतिपूर्वक भजने वाले को वही पर पुरुष बुद्धि योग देता है जिससे वह उसे प्राप्त करता है। वही आत्मभाव से स्थित हो, ज्योतित ज्ञान दीप से अज्ञानज तम को हरता है।

४ पर पुरुष के विश्वरूप एवं चतुर्भुज रूप को जानने, देखने तथा तत्त्व से एकस्थ होने में अनन्य भक्ति ही शक्य है। जो यह कहते हैं भक्त कभी भगवान नहीं बनना चाहता—गीता उसे नकारती है। भक्ति का परिणाम एकत्व ही है।

उस पर पुरुष को भी ऐसी ही अव्यभिचारिणी अनन्य भक्ति वाले पुरुष अधिक प्रिय हैं। गीता में इस संबंध में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। देखिये—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र: करुण एव च।
निर्ममो निरहंकार: समदु:खसुख: क्षमी ।।१२.१३

संतुष्ट: सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चय:।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्त: स मे प्रिय: ।।१२.१४

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१२.१५
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१२.१६
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागीभक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१२.१७
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१२.१८
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनीसंतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१२.१९
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमाभक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥१२.२०

सब भूतों में द्वेष भाव से रहित, मित्र, करुण, तथा ममता से रहित, निरहंकारी, दुःख व सुख में समभाव वाला, क्षमावान, सन्तुष्ट, सतत आत्मलीन, दृढ निश्चयी, तथा मन बुद्धि को पर पुरुष में अर्पित किये ऐसा ईश्वर भक्त परमात्मा को प्रिय है। जिससे न लोक, न शोक से वह उद्विग्न हो ऐसा हर्ष अमर्ष भय उद्वेग मुक्त भक्त उसे प्रिय है। अनपेक्ष, शुचि, दक्ष उदासीन, व्यथा रहित, सर्वारम्भ परित्यागी भक्त उस पर पुरुष को प्रिय है। जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है, न आकांक्षा करता है ऐसा शुभ अशुभ परित्यागी भक्त मान्य पुरुष उस परमात्मा को प्रिय है। शत्रु मित्र, मान अपमान, शीत उष्ण, सुख दुःख, निंदास्तुति में समभावी, संगवर्जित, मौनी, यत्प्राप्त संतुष्ट, अनिकेत, स्थिर मति, भक्तिमान नर उस परमात्मा को प्रिय है जो शास्त्रोक्त रीति से इस धर्म्य अमृत का उपासक है। ऐसा श्रद्धावान, उस पर पुरुष के परायण हुआ भक्त, परमात्मा को अतीव प्रिय है।

प्रकारान्तर से इस उपयुर्क्त विवरण में भक्त के लक्षणों को गिनाया गया है, ऐसा स्पष्ट है। भक्त कैसा होना चाहिये —

(१) प्राणि मात्र के प्रति शत्रु भाव से रहित,
(२) करुण व
(३) मित्र
(४) निर्ममी
(५) निरहंकारी
(६) क्षमावान
(७) येन केन सन्तुष्ट,
(८) अनपेक्ष,
(९) उदासीन,
(१०) सतत यतात्मा,
(११) अर्पित मन बुद्धि वाला,
(१२) दृष्ट निश्चयी,
(१३) स्थिर मति,
(१४) जिसके आचरण से लोक उद्विग्न न हो,
(१५) न लोकाचरण से जो उद्विग्न हो
(१६) हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग, द्वेष, शोच, कांक्ष मुक्त

(१७) शुचि (१८) दक्ष (कर्म में कुशलता)
(१९) शुभ अशुभ सर्व परित्यागी
(२०) शत्रु मित्र, मान अपमान, शीत उष्ण, सुख दु:ख, निंदास्तुति में सम
(२१) सङ्ग विवर्जित (२२) मौनी
(२३) अनिकेत (२४) श्रद्धावान
(२५) ईश्वर परायण

इन २५ क्रमों में भक्त के सभी लक्षणों को हम अनुबंधित कर सकते हैं। ऐसा भक्त मोक्ष का अधिकारी है। यही ज्ञानी, कर्मयोगी, तपस्वी, ध्यानी तथा बुद्धियोगी है। इनके लक्षणों में कोई दिशा में अन्तर नहीं है। देखिये—

भक्तिसहित ध्यानयोग का वर्णन—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवो:।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।५.२७
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायण:।
विगतेच्छाभयक्रोधो य: सदा मुक्त एव स: ।।५.२८
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।५.२९

इच्छा भय क्रोध से रहित जो मन बुद्धि एवं इन्द्रिय जयी मोक्ष परायण मुनि बाहर के विषय भोगों को बाहर ही त्याग, नेत्रों की दृष्टि को भृकुटि के बीच में स्थापित कर तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके स्थित रहता है वह सदा मुक्त ही है। ऐसा मुक्त पुरुष, यज्ञ एवं तपों के भोक्ता सम्पूर्ण लोकों के महेश्वर, सब भूतों के निस्वार्थ सहायक पर पुरुष को तत्त्व से जानकर शांति को प्राप्त होता है।

गुणों के प्रभाव के संदर्भ में भक्ति योग का वर्णन—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।१४.२६

जो उस पर पुरुष को अव्यभिचारी भक्तियोग से निरन्तर भजता है वह तीनों गुणों को अच्छी प्रकार उल्लंघन करके ब्रह्मभूत होने के योग्य होता है। तीनों गुणों का अतिक्रमण तथा पर पु प की अव्यभिचारी भक्ति उसके साथ एकीभूत करने का साधन बताया है।

भक्ति सहित निष्काम कर्मयोग का विषय—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।१८.५४
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत:।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।१८.५५

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।१८.५६
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।१८.५७
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।।१८.५८
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।१८.६२
मन्मना भव मद्भक्तोमद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।१८.६५
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।१८.६६
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।।१८.६८

जो अव्यभिचारिणी अनन्य भक्ति से गुणों का अतितरण कर ब्रह्मभूत हो जाता है वह प्रसन्नात्मा ब्रह्मभूत न तो सोचता है न आकांक्षा करता है। वह समस्त प्राणियों में समभाव से स्थित हो उस पर पुरुष की पराभक्ति को प्राप्त होता है। पराभक्ति के द्वारा वह इस पर पुरुष को तत्त्व से भली प्रकार जानता है। वह पर पुरुष जिस प्रभाव वाला है उसे तत्त्वतः जानकर वह तत्काल ही उस पर पुरुष में ब्रह्मभूत हो प्रवेश हो जाता है। तथा वह भक्त प्रभु परायण हुआ सब कर्मों को सदा करता हुआ भी उसकी कृपा से शाश्वत अव्यय परम पद को प्राप्त हो जाता है। इसलिये सब कर्मों को मन से प्रभु को अर्पण कर उसी के परायण हुए बुद्धि योग के उपाश्रित हो सतत उसी के चित्त वाला होकर भक्ति करनी चाहिये। ऐसा करने से वह प्रभु में चित्त वाला भक्त जन्म मृत्यु आदि सब संकटों को प्रभु कृपा से अनायास ही तर जाता है। इसलिये सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही अनन्य शरण को प्राप्त होना चाहिये। उसकी कृपा से भक्त परम शांति तथा सनातन परमधाम को प्राप्त होता है। ऐसा प्रभु में मन वाला भक्त उसी का भजन एवं नमस्कार करता हुआ उसी को प्राप्त होता है। सारे अन्य धर्मों को छोड़ उसी एक परमेश्वर की भक्ति करने वालों को वह परमेश्वर सारे पापों से मुक्त कर मोक्ष प्रदान करता है। जो भक्त उस परमेश्वर से भक्ति करता हुआ यदि उसके इस ज्ञान विज्ञान को अन्य प्रभु भक्तों से कहता है, वह भी निस्सन्देह उस परमेश्वर को ही प्राप्त होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण में उस एकमेव परमेश्वर की सब धर्मों को छोड़कर अव्यभिचारी भाव से परा भक्ति करने तथा उसके परिणाम रूप शाश्वत अव्यय परम पद की तथा परमशान्ति की प्राप्ति वर्णित है। पराभक्ति से उस परमेश्वर का तत्त्वतः ज्ञान तत्काल हो जाता है। वह भक्त जन्ममरण के संकटों का अतितरण

कर जाता है। पराभक्ति में उदासीन भाव, समत्वबोध, समग्रता से परमेश्वर की परायणता तथा उसी के निमित्त कर्म, भजन, नमन, अनुकथन आदि आते हैं।

इस तरह गीता की भक्ति देवों, भूतों प्रेतों और अक्षरात्मा की भक्ति न होकर मात्र विश्वरूप सनातन अव्यक्त, उत्तम पुरुष की ही भक्ति है। यहां भक्ति समत्व बुद्धि योग के द्वारा ज्ञानपूर्वक निष्काम भाव से फलेच्छा रहित होकर दान यज्ञ तप आदि शास्त्रोक्त एवं नियम कर्मों को उसी परमेश्वर को समर्पित कर उस के निमित्त करने में चरितार्थ होती है। यही एकान्तिक मन, बुद्धि, आत्मा से उसी में सतत परायणता, सतत अनुस्मरण, संकीर्तन, अनुगायन ही गीता की भक्ति है।

इसी अनन्य अव्यभिचारिणी भक्ति से युक्त पुरुष अपने जीवन के अन्तिम क्षण में भी इसी भक्ति मार्ग से देह को छोड़ता है तो अपने कर्मानुसार परम अथवा परागति को अवश्य प्राप्त होता है, फल श्रुति वाले लेख में जिसके सम्बन्ध में हम विस्तार से वर्णन कर रहे हैं। यहां संक्षेप में एक दो उद्धरण प्रयाण काल के दे रहे हैं।

यदि गीता के बताये हुए इस मार्ग से पुरुष देह को छोड़ता है तो वह अपने कर्मानुसार परमगति अथवा परमधाम को अवश्य प्राप्त करता है।

परम गति वालों के सम्बन्ध में—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥८.१२
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमांगतिम् ॥८.१३
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ॥८.२१

सभी इन्द्रिय द्वारों को रोककर मन को हृदय में निरुद्ध कर तथा अपने प्राणों को मस्तक में स्थापित कर योग धारणा में स्थित हुआ जो पुरुष ॐ ऐसे एक अक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ, पर पुरुष का स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है। अव्यक्त को अक्षर नाम से कहा गया है। उसी अक्षर नामक अव्यक्त भाव को परमगति कहते हैं।

परम धाम के सम्बन्ध में—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥८.५
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८.१०
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥८.२१

जो अन्तकाल में इस परमेश्वर का स्मरण करते हुए कलेवर को छोड़ कर

जाता है वह उसके भाव को ही प्राप्त होता है इसमें रंच संशय नहीं है। प्रयाण काल में अचल मानसी भक्ति से युक्त होकर योग बल द्वारा प्राण को भ्रुवों के मध्य में सम्यक् स्थापित कर देह त्यागता है वह उसी दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है। जहाँ पहुँचकर फिर पुनरावर्तन नहीं है, वही परमात्मा का परम धाम है। परमधाम ही परागति है। □

छह

समत्व दर्शन

बुद्धियोग के विषय की विवेचना करते हुए भगवान कृष्ण ने गीता में नर संहार के पाप के भय से भीत अर्जुन से कहा कि तू सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझकर यदि युद्ध कर्म में प्रवृत्त हुआ तो पाप को प्राप्त नहीं होगा। यदि इस समत्व बुद्धियोग से युक्त हुआ तो तू कर्मों के आवागमन आदि बंधनों का अच्छी तरह नाश कर देगा। अतः इस समत्व बुद्धियोग में स्थित होकर गुरुजन एवं परिजनों के प्रति तेरा जो आसक्ति का भाव है उसे त्यागकर, सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर कर्म कर। यह समत्व भाव ही बुद्धियोग कहा जाता है। बुद्धियोग से किए कर्मों के अतिरिक्त जितने भी कर्म हैं वे उसकी तुलना में अत्यन्त तुच्छ हैं। अतः तू बुद्धियोग की शरण ग्रहण कर और युद्ध कर। फल की इच्छा रखकर कर्म करने वाले कृपण हैं। बुद्धियोग से जो युक्त हैं वे कर्मों को करते हुए भी उनके अच्छे-बुरे दोनों संस्कारों को इसी लोक में ही छोड़ जाते हैं। अतः तू समत्व बुद्धियोग से युक्त हो। यह बुद्धि योग ही कर्मों के करने हेतु कुशलता माना जाता है। जब अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को सुनने से विभ्रमित हुई बुद्धि निश्चल व अचल होकर समाधि में ठहर जाएगी तभी तू बुद्धियोग को प्राप्त होगा। देखिए—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौजयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।२.३८

× × ×

बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।२.३६
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।२.४८

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।२.४९

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसुकौशलम् ।।२.५०

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।२.५३

भगवान् ने क्षात्रधर्म, आत्मा की अमरता, युद्ध न करने पर होने वाले अपमान अपकीर्ति आदि के सन्दर्भ मे अर्जुन को विविध रूप से समझाया; पर अर्जुन की मोहग्रस्त बुद्धि पाप के भय से विषादयुक्त बनी हुई देख भगवान् ने बुद्धियोग का एक नवीन एवं अनूठा मन्त्र अर्जुन को दिया कि तू यदि कर्मफल की इच्छा छोड़कर, अनासक्त भाव से हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख-दुःख, सिद्धि-असिद्धि में सम भाव रखकर युद्ध कर्म करेगा तो उससे होने वाले पाप-पुण्य के सस्कार तुझ पर नहीं होंगे। वे जघन्य कर्म भी पारमार्थिक दृष्टि से बन्धनकारी नहीं होंगे। समत्व-बुद्धि ही योगबुद्धि है और इस बुद्धि से युक्त होकर इस लोक में कर्मों को निष्पादित करना एक बड़ी कुशलता है। कर्म भी कर रहे हैं और और उनका सस्कारजन्य अच्छा-बुरा प्रभाव भी नहीं।

इतने लम्बे व बोधगम्य प्रवचन का अर्जुन पर प्रभाव होना स्वाभाविक ही था। अतः अर्जुन भगवान् से प्रश्न करता है—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।२.५४

हे केशव ! समाधि मे स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण होते हैं, वह स्थितधी कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है ?

अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् समत्व-बुद्धि योगान्तर्गत ब्राह्मी स्थिति का विश्लेषण एवं व्याख्या करते हुए श्लोक २.५५ से श्लोक २.७२ तक विस्तार से स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध मे बताते हैं। बुद्धियोग के विषय को हम विस्तार से पृथक् लेख में बता चुके हैं। उसी में हमने उल्लेख किया था कि स्थितप्रज्ञ के समत्व दर्शन को विस्तार भय से हम पृथक् लेख में दे रहे हैं। उसी की यह आपूर्ति है। देखिए—

स्थितप्रज्ञ के लक्षण—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।२.५५

जब साधक मनोगत समस्त कामनाओं को त्याग अपनी आत्मा में ही तुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। उच्यते यहां स्थितप्रज्ञ की व्याख्या के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस श्लोक का भाव सौन्दर्य द्रष्टव्य है। प्रथम पंक्ति का भाव निषेधात्मक है तथा द्वितीय का विधेयात्मक। निषेधात्मक पक्ष त्याग का है तथा विधायक पक्ष सन्तुष्टि का है। जिसने बाह्य स्पर्शादि इन्द्रियों के विषयों से आसक्ति

यहां निराहार का अर्थ निरग्नि या भोजन न करने वाला नहीं है। व्रत-उपवास से भी नहीं है। ये तो तप रूप हैं, जो कायिक शुद्धि भर करते हैं। इनसे कामना निःशेष नहीं होती। कामना का मन से सम्बन्ध है और वह इन्द्रियों के माध्यम से उसकी पूर्ति करता है। अतः इन्द्रिय जय के लिए विषयानुसार भी इन्द्रियों का उसके विषयों के आहार से ही यहां भावार्थ है। बिना इन्द्रिय निग्रह एवं संयम के कामना का त्याग हो नहीं सकता। रहा मन का सवाल, इन्द्रिय जय बिना मन को जय किए कैसे सार्थक हो सकता है। इन्द्रियां तो निग्रह से रुक सकती हैं पर मन मिथ्याचारी हो जाएगा। मन दृढ़, वलवान् तथा चञ्चल है। इसका निग्रह वायु से भी अधिक दुष्कर है (६ ३४)। भगवान् कृष्ण ने स्थितप्रज्ञता, ज्ञान व कर्मयोग की विस्तार से विवेचना कर अर्जुन को समझाया; पर अर्जुन के मन में सन्देह रहता है, वह पूछता ही है 'स्थिति स्थिराम्' (६.३३)। स्थिर स्थिति कैसे प्राप्त हो सकती है? तव भगवान् वहां 'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्' (६.३५) कहते हैं। उसी बात को यहां भगवान् पहले ही कह चुके हैं। देखिए—

> यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
> इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।२.६०

ये प्रमाथी इन्द्रियां विपश्चित पुरुष के मन को, (अभ्यास योग के माध्यम से) यत्न करते हुए भी वलपूर्वक हर ले जाती हैं। मनुस्मृति में भी आया है—वलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।' अतः इन्द्रिय निग्रह व संयम के साथ-साथ मन को भी जीतो। कर्मेन्द्रियों के संयम के पश्चात् भी जो इन्द्रियों के विषयों को मन से स्मरण कर उसमें रमता है वह विमूढात्मा मिथ्याचारी कहा जाता है (३ ६)। अतः इन्द्रियों को मन से संयमित कर कर्मों को आरम्भ करो (३.)। मन से या मन के सहित इन्द्रियों को संयमित करो एक ही बात है। मन से इन्द्रिय-संयम तभी होगा जब मन स्वयं संयमित है। अन्यथा जैसे हवा नौका को उड़ा ले जाती है वैसे ही इन्द्रियों में रमता हुआ मन साधक की प्रज्ञा तक को उड़ा ले जाएगा। कहा भी है—

> इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
> तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।२.६७

जिनकी मन सहित इन्द्रियां अपने विषयों से सर्वशः निग्रहीत हैं केवल उन्हीं की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।

> तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
> इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।२.६८

उपर्युक्त श्लोक २.६० में एक शब्द आया है 'विपश्चित' और श्लोक २.६७ में आया है प्रज्ञा। मन एव इन्द्रियां यदि निगृहीत नहीं है तो इतनी बलवान, सुदृढ़ तथा प्रमाथी हैं कि वे विपश्चित पुरुष के ज्ञान तथा उसकी स्थिर बुद्धि रूप प्रज्ञा तक को हर ले जाती है। विपश्चित शब्द में 'विपः+चित् ये दो शब्द आए हैं। विपः 'विप्' धातु की द्वितीया का बहुवचन है। 'विप्' धातु ज्ञानार्थक है, इसी से विप्र

शब्द बनता है, जिसका अर्थ है ज्ञान सम्पन्न। चित् चेतनार्थक है। अर्थ हुआ ज्ञान चेतना तक को मनेन्द्रियां हर लेती हैं। प्रज्ञा में 'ज्ञ' के आगे 'प्र' उपसर्ग है। प्रज्ञ का अर्थ हुआ ज्ञानवान। प्रज्ञा का अर्थ हुआ ज्ञान सम्पृक्त बुद्धि। मनेन्द्रियां ज्ञान सम्पृक्त चित्त तथा ज्ञान सम्पृक्त बुद्धि दोनों को, यदि उन्हें निग्रह तथा संयम से नहीं जीता गया तो, सहसा हर लेती हैं। योगशास्त्र में इसीलिए योग: चित्तवृत्ति निरोध:' कहा है। इस चित्त की चंचल वृत्ति को ही रोकना है।

भगवान् ने इन्द्रिय संयम के बाद प्रज्ञा की प्रतिष्ठा के लिए चंचल चित्त की वृत्ति को रोकने के लिए ध्यान योग के अतिरिक्त एक और आसान उपाय बताया है, वह है, 'युक्त आसीत मत्पर:' (२.६१)। अच्छी तरह से मेरे में अर्थात् परमात्मा में परायण होकर रह। बिना ईश्वर प्रणिधान के निग्रह ही नहीं संयम भी स्थिर नहीं रहता। ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति का यह उपदेश ही गीता के ज्ञान का मूल मंत्र है। जहां संयम हताश हो जाए वहीं से ईश्वर की भक्ति का आरम्भ मानना चाहिए। जब तक सयम में शक्ति है, वह निरोध्र की ढाल लिए लड़ता है, लेकिन जब पराजय का भाव जगने लगता है तब पर की आवश्यकता अनुभव होती है। यह पर की आकांक्षा ही भक्ति का बीज है, भक्ति किसकी ? जो समर्थ हो, दयावान हो, सदैव प्रस्तुत हो। ईश्वर के अतिरिक्त ये तीनो बातें किसमें उपलब्ध हो सकती हैं, केवल ईश्वर में ही। अत: ईश्वर भक्ति, ईश्वर प्राणिधान का भाव जगता है। वह कृपालु है, जरा सी पुकार पर दौड़ा आता है अत: उसके परायण होकर उसके सम्बल की प्रार्थना करो। वह संयम को स्थिर रखने में सहायक होगा। इसीलिए कहा है 'युक्त आसीत मत्पर:।'

इस तरह हमने देखा कि स्थित प्रज्ञ वही हो सकता है जिसकी मन सहित इन्द्रियों के संयम से प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो चुकी हो तथा जो ईश्वर परायण है। यहां भी निषेधात्मक व विधेयात्मक दोनों पक्ष दृष्टव्य हैं। संयम निषेधात्मक है और मत्पर: विधेयात्मक। ईश्वर प्रणिधान रूपी विधेयात्मक पक्ष की आवश्यकता का कारण भी है। ईश्वर चेतन है और मन जड़। जड़ से जड़ को नहीं जीता जा सकता। अत: उसे चेतन आत्मा का सानिध्य ही जीत सकता है।

इसी चेतन आत्मा की वश्यता की आवश्यकता के प्रतिपादन के संदर्भ में भगवान् ने काम क्रोधादि की उत्पत्ति एवं उनके महाभक्षी प्रभाव का वर्णन, गीता में तो अन्यत्र किया ही है, यहां भी संश्लिष्ट रूप में किया है। देखिए—

ध्यायतो विषयान्पुंस: सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।२.६२
क्रोधाद्भवति संमोह: संमोहात्स्मृतिविभ्रम:।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।२.६३

× × ×

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयत: शान्तिरशान्तस्य कुत: सुखम् ।।२.६६

जिसकी मनेन्द्रियां संयमित नहीं हैं ऐसा अयुक्त साधक विषयों का ध्यान करता रहता है। उस ध्यान से विषयों में उसकी आसक्ति बढ जाती है। आसक्ति से उन विषयों को प्राप्त करने की कामना जगती है और कामना की पूर्ति में अति विघ्न क्रोध उत्पन्न करते हैं। क्रोध से मूढता, मूढता से स्मृति विभ्रम, स्मृतिभ्रंश से बुद्धि नाश तथा बुद्धि नाश से वह व्यक्ति श्रेय साधना से गिर जाता है। इसी कारण जो असंयमित, अनिग्रही, अभक्त तथा अयुक्त है, उसके बुद्धि नहीं होती, और न उसमें भावना (आस्तिक भाव) ही होती है। जिसमें भावना नहीं होती उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती। और जो अशान्त है, उसे सुख कहां? अर्थात् सुख की प्रतिष्ठा शान्ति है। शान्ति की प्रतिष्ठा आस्तिक भावना और आस्तिक भावना की प्रतिष्ठा मनसहित इन्द्रिय संयम है। इस तरह हम देखते हैं इन्द्रिय संयम की नींव पर ही स्थितप्रज्ञता का भवन खड़ा है। श्लोक २.६२,६३ में ही नहीं श्लोक ३.३७-३८-३९-४०-४१-४२-४३ में भी इन्द्रिय संयम का सविस्तार वर्णन हुआ है, और अन्त में यही उपदेश दिया है 'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपम् दुरासदम् (३.४३)।' इसी तरह श्लोक ४.१० में वीतराग भयक्रोध होने की बात कही है। श्लोक ५.१३ में 'सर्व कर्माणि मनसा संन्यस्त', तथा श्लोक ५.२, में 'बाह्य स्पर्शेष्वसक्तात्मा' तथा अध्याय १६.२१ में काम-क्रोध-लोभ को नरक का ही कहकर त्यागने की बात कही है।

इस श्लोर में आए विषयों का ध्यान, फिर उनका संग, तथा कामोदय यह उत्तरोत्तर क्रम तो है ही, लेकिन ये तीनों एक ही मनोदशा के ३ विविधरूप हैं। बुद्धि के किसी एक विचार की बार बार आवृत्ति से पुष्ट हुई मनःस्थिति भावना है। जिसमें बुद्धि तथा भावना नहीं होती वह सुखी नर नहीं है। वह प्रसादत्व को प्राप्त नहीं होता। प्रसाद अर्थात् विवाद शून्यता तभी प्राप्त होगी जब व्यक्ति रागद्वेषी रूपी द्वन्द्वों से वियुक्त हो आत्मवशी हो जाता है। तब वह इन्द्रियों के विषयों में आचरण करता हुआ भी कर्म बन्धन या सम्मोह को प्राप्त नहीं होता। प्रसाद प्रसन्नता का पर्याय है। तर्क शास्त्र की निगमन पद्धति के अनुसार वेद व्यास ने एक ही बात को बार बार दुहराया है उससे। जो भाव श्लोक २.५८ का है वही इस श्लोक २.६८ का है।

गीताकार ने स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में भगवान् के दिए उत्तर के परिप्रेक्ष्य में पहले चार श्लोकों में स्थितप्रज्ञ की व्याख्या व उसका विवरण दिया है। फिर तीन श्लोकों में संयम का विज्ञान तथा सात श्लोकों में संयम का तत्त्व ज्ञान समझाया है।

शेष तीन श्लोकों में स्थित प्रज्ञ की स्थिति को स्पष्ट करते हुए अन्त के एक श्लोक में फलश्रुति दी है। देखिए—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।२.६९

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।२.७०

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥२.७१

जो सम्पूर्ण प्राणियों के लिए रात्रि है; उसमें सयमी स्थितप्रज्ञ जागता है। जिसमे सब प्राणी मात्र जागते हैं उसे स्थितप्रज्ञ मुनि रात्रि रूप में देखते है। जैसे आपूर्यमाण, अचल प्रतिष्ठित समुद्र मे नदियो का जल प्रवेश कर भी उसे विचलित व चंचल नही करता वैसे ही स्थितप्रज्ञ में कामनाएँ प्रवेश करती हैं, पर उसे विचलित व चचल नही करती। केवल स्थितप्रज्ञ ही शांति को प्राप्त करता है, काम कामी नहीं। अतः जो पुरुष समस्त कामनाओं को विहाय, निस्पृह आचरण करता है, ममत्व रहित निरहकारी है, वही शाति को प्राप्त करता है। इन श्लोकों का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—निद्रा में मनुष्य की चित्त वृत्तियाँ सर्वथा शात हो जाती है। इस तरह रात्रि, श्लोक २.६९ म निद्रा के प्रतीक के रूप मे आई है। सयमी शात चित्तवृत्तियो मे ही जागता है; या यो कहें चित्तवृत्तियों की शान्तावस्था ही सयमी का जागरण है। जागरण शब्द कर्म की प्रवृत्ति के अभिप्राय से आया है। सयमी चित्तवृत्तियो की शान्तावस्था मे जागता है अर्थात् उदासीन व्रत कर्म करता है। जो सांसारिको के लिए कर्म प्रवृत्ति एव राग भयक्रोध आदि वृत्तियो का जागरण करता है, उसमे स्थितप्रज्ञ मुनि सोता है। उसका राग, भय, क्रोध से क्या काम? सांसारिको का दिन उसकी रात है और सासारिको की रात उसका दिन है। इस श्लोक का अर्थ सांख्यो ने अपनी बुद्धि से तथा योगियो ने अपनी बुद्धि मे अलग अलग किया है। भाव एक ही है, कहने भर का भेद है। जहा भौतिक सासारिकता का जागरण है वहां स्थितप्रज्ञ नही है। जहाँ भौतिकता की निद्रा तुल्य साम्यावस्था है, वहाँ स्थितप्रज्ञ है। सोने व जगने का सामान्य अर्थ लेना, अर्थ का अनर्थ करना होगा। ये दोनो शब्द निशा और जाग्रति के प्रतीकात्मक शब्द हैं, निवृत्ति एव प्रवृत्ति के सूचक। इस तरह इस श्लोक का अयुक्त एव युक्त के सन्दर्भ मे आचरण विषयक अर्थ उसके सर्व जीवनव्यापी सदर्भ मे निशा एव जाग्रति के प्रतीको के साथ लिया जाना चाहिये। अगले श्लोक २।७० मे, गीता के सबध मे जो भ्रम फैला हुआ है कि गीता संन्यासी बनाती है, स्थितप्रज्ञ को शब्द स्पर्श रूप रस गध आदि विषयो का सवथा विग्रह व त्याग कर देना चाहिये, वह सही नही है। गीता इस विषयो मे रहकर भी लोकाचरण करना सिखाती है। कैसे रहे, कैसे वर्ते, जैसे समुद्र। नदी रूप विषयो का जल आ आकर भरता भी जावे तब भी वह आपूर्यमाण तथा अचल प्रतिष्ठ होता है, विचलित नहीं होता। विषयो मे आचरण के बाद भी उनमे आसक्ति नही रहती। आसक्ति ही बधन का कारण है। अनासक्त भाव से कर्म फल की इच्छा किये बिना सब कर्मो को प्रभु समर्पण करते हुए स्थितप्रज्ञ समुद्र की तरह अविचल एव आपूर्यमाण रहता हुआ इन्द्रियो के विषय मे समाचरण करता है। संसार से संन्यासी बन भागता नही। जो भाव इस श्लोक २।७० का है, वही भाव श्लोक २।६४ का है। 'विषयानिन्द्रियैश्चरन्' इन्द्रियों द्वारा विषयो को भोगता हुआ, आत्मवशीविधेयात्मा, जो राग द्वेष से रहित है, प्रसाद साम प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषय: क्षीणकल्मषा: ।
छिन्नद्वैधा यतात्मान: सर्वभूतहिते रता: ।।५.२५

जो सहजप्राप्त में सन्तुष्ट है, द्वन्द्वातीत विमत्सर है, सिद्धि असिद्धि में समभावी है व कार्य करता हुआ भी कर्मफल बन्धन में नहीं निबद्ध होता है, वह विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण, गवि, हस्ति, शुनिशेष, श्वपाक, व पण्डित के प्रति समदर्शी रहता है। जिनका मन साम्य में स्थित है वे अपने जीवन काल में संसार को जीत लेते हैं। ब्रह्म निर्दोष व सम है अत: वे ब्रह्म में ही स्थित हैं। वह प्रिय प्राप्ति पर न प्रहर्षित होता है न अप्रिय पर उद्विग्न। स्थिर बुद्धि असम्मूढ ही ब्रह्मविद् ब्रह्मस्थ कहा जाता है। बाह्य स्पर्शादि जितने भी इन्द्रियों के विषय हैं उनके प्रति अनासक्त रहता हुआ अपनी आत्मा में ही आनन्द का अनुभव करता है। ऐसा ब्रह्मयोग मुक्तात्मा अक्षय सुख भोगता है। जो शरीर विमोक्षण से पूर्व ही काम क्रोध से उत्पन्न वेगयुक्त सांसारिक सम्मोहन को सह सकने में समर्थ है वही सुखी नर है। जो अन्त: सुखी अन्तराराामी तथा अन्तर्ज्योतिवान है वही ब्रह्म भूत हुआ ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है। क्षीण कल्मष छिन्न द्विधा और सर्वभूतहितरत आत्मस्थ ऋषि ही ब्रह्म निर्वाण प्राप्त करता है।

इसी प्रकरण को आगे बढाते हुए गीताकार कहते हैं—जो यति काम क्रोध से विमुक्त है, जिसका चित्त परमात्मा से युक्त है वह आत्मज्ञानी ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त करता है। बाह्य स्पर्शादि विषयों को बाहर ही रखता हुआ, चक्षुओं को भ्रुवों के मध्य स्थिर किये, नासिकाभ्यान्तरचारी प्राण अपान को समान किये मोक्ष परायण मुनि इच्छा भय क्रोध से व्यतीत हुआ मन बुद्धि इन्द्रियों से परमात्मा में लीन रहता है, वह सदा मुक्त ही है तथा ब्रह्म रूप ही है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।५.२६
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवो: ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।५.२७
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायण: ।
विगतेच्छाभयक्रोधो य: सदा मुक्त एव स: ।।५.२८

गीताकार ने ब्राह्मी स्थिति में सांख्य एवं निष्काम कर्म योग का एकत्व प्रदर्शित किया है। अपने मन्तव्य को उन्होंने स्थान स्थान पर स्पष्ट किया है। छठे अध्याय के प्रारम्भ में वे कहते हैं—

अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य: ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय: ।।६.१
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ।।६.२

अर्थात् जो कर्मफल के अनाश्रित हो कार्य कर्म करता है वही सांख्य संन्यासी

है और वही निष्काम कर्म योगी है। जिसके सङ्कल्प असंन्यस्त हैं वह कभी योगी नहीं हो सकता। योगी होने के लिए कर्म संन्यास आवश्यक है। संन्यास का अर्थ कर्म का त्याग नहीं है। अक्रियता तथा निरग्निता सन्यासी होने के लिए आवश्यक नहीं है। केवल कर्मफल अनाश्रितता ही आवश्यक तत्त्व है। जो मुनि योग में आरूढ होना चाहता है उसके लिए कर्म संन्याम कारक है और जो योगारूढ हो गया है उसके लिए शम ही कारक है। जब उसे इन्द्रियों के विपय तथा भौतिक कर्म आसक्त नहीं करते हैं तब वह सर्व सङ्कल्पों का त्यागी संन्यासी योगारूढ कहा जाता है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।६.३

जो शीत, उष्ण, सुखदुःख, मान-अपमान में प्रशान्त होकर हृदय में परमात्मा को समाहित किये रहता है, जिस विजितेन्द्रिय की कूट राशि की भांति उर्ध्वस्थ आत्मा ज्ञान विज्ञान से तृप्त है, जिसके लिए मिट्टी, पत्थर, ढेले व स्वर्ण समान है वही योगी कहा जाता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।।६.७
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।।६.८

समत्व बुद्धि योगी की प्रशंसा करते हुए वेद व्यास कहते हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।।६.९

जो सुहृद् मित्र, अरि, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, वन्धु, साधु व पापीजन के प्रति समान भाव वाला है वही अति श्रेष्ठ है—वहा समदर्शी योग भोक्तात्मा सारे प्राणिमात्र मे अपने को तथा अपने मे सारे प्राणिमात्र को सर्वत्र स्थित देखता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।६.२९

यह बात वेद व्यास ने ध्यान योग का विवेचन करते हुए परिणामतः कही है। अपनी आत्मा ही सबको समझता हुआ जो समत्व दृष्टि से सर्वत्र देखता है, सुखदुःख में रंच भी विचलित नही होता वही परम योगी है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।६.३२

ज्ञान, ध्यान तथा कर्म फल त्याग से शांति को प्राप्त हुए योगी को भगवान् ने अपने श्रीमुख से अपना प्रिय भक्त बताया है, देखिए—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ।।१२.१३

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योमद्भक्तः स मे प्रियः ॥१२.१४

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१२.१५

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१२.१८

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१२.१९

जो समस्त प्राणिमात्र के प्रति अद्वेष भाव रखता हुआ उनका मित्र है, उनके प्रति करुण है, निर्ममी निरहकारी तथा क्षमावान है, सुखदुःख मे समान रहने वाला है, अपनी आत्मा में ही सतत दृढ़ निश्चय के साथ रमण करने वाला योगी है तथा मनबुद्धि से प्रभु समर्पित भक्त है वही प्रभु को प्रिय होता है— जो न लोक को उद्विग्न करता है, न लोक जिसे उद्विग्न करता है, जो हर्ष अमर्ष भय उद्वेग से मुक्त है वह मात्र ईश्वर को प्रिय है – शत्रु, मित्र, मान, अपमान में जो समभावी है, जो संग विवर्जित होकर शीत उष्ण सुखदुःख में समान स्थिति में रहता है, जिसे निन्दा स्तुति समान है और जो मौनी, सन्तुष्ट, अनिकेत, स्थिर मति भक्त है वह उस प्रभु का प्रिय है। ऐसा ब्राह्मी स्थिति में स्थित योगी ही गुणातीत कहा जाता है। यह बात भी हम यहां जोड़ सकते हैं – तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन किन लक्षणों से युक्त होता है तथा किस प्रकार का आचरण करता है अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कृष्ण समत्व बुद्धि योगी के गुणों का वर्णन करते हैं। देखिए —

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥१४.२४

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥१४.२५

जिसके लिए सुख दु ख समान है। समान ही जिसके लिए मिट्टी पत्थर व स्वर्ण है। जो स्वस्थ है, धीर है, सर्वात्मा परित्यागी है जिसके लिए प्रिय, अप्रिय, निंदा आत्म स्तुति, मान-अपमान तथा मित्र व अरि पक्ष तुल्य है। वही गुणातीत कहा जाता है।

□

सात

पञ्च पुरुष

गीता में हमें पुरुष के पांच स्वरूप मिलते हैं। उत्तम पुरुष, अवतार पुरुष, अक्षर पुरुष क्षर पुरुष तथा मुक्त पुरुष। एक ही उत्तम पुरुष के ये विविध रूप हैं। वही अवतरित होता है, वही आबद्ध होता है और वही बन्धन से मुक्त भी होता है। आबद्ध होना अवतरित होना उसका स्वभाव है और वही मुक्त होने की प्रेरणा भी देता है। शायद इसीलिए वैदिक ऋषि ने 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' कहा है। गीता में इन विविध रूपों के कारण, प्रयोजन, फलसिद्धि आदि विषयों की विवेचना के साथ अद्वैत की विस्तार से चर्चा हुई है। उस उत्तम पुरुष से परतर किञ्चित् कुछ नहीं है, यह बताना ही गीता का अभीष्ट है। गीता इस तरह एक अर्थ में अद्वैत वेदान्त का एक पूरक ग्रन्थ भी है। पञ्च पुरुषों को हमने पृथक्-पृथक् उनकी प्रकृति, गुण, धर्म, स्वभाव कर्मानुसार गीता की ही परिधि में रहते हुए देखने की चेष्टा की है। हम एक एक को क्रमशः लेते हैं।

उत्तम पुरुष

प्रकृति, पुरुष एवं परम पुरुष के एकत्व का पृथकशः सारगर्भित विश्लेषण गीता में जितनी स्पष्टता से हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं। गीता के सातवें अध्याय के चौथे श्लोक से ही यह एकत्व प्रदर्शन प्रारम्भ हो जाता है। यह प्रारम्भ भगवान् वासुदेव कृष्ण द्वारा, योग की सिद्धि की उपलब्धियों के सन्दर्भ में हुआ है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं, हे पार्थ! जब तू मेरे ही आश्रित हुआ, मेरे ही प्रति आसक्त मन से योग सिद्धि से सम्पृक्त होगा, तब असंशयी रूप से मुझे समग्र रूप से जिस प्रकार जानेगा, वह सुन। वह ज्ञान मैं तुझे अशेषतः विज्ञान सहित कहता हूँ, जिसे जानने के बाद इस लोक में जानने योग्य और कुछ नहीं रहेगा। हजारों मनुष्यों में से कोई ही इस योग की सिद्धि तक यत्नशील रहता है और उन यत्नशील सिद्धों में भी कोई ही मुझे तत्त्वतः जान पाता है। देखिए—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥७.१
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥७.२
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥७.३

भगवान् ने इन ३ श्लोकों में कुछ बहुत महत्त्व की बातें कही हैं। पहली, योग सिद्धि हर एक योगाभ्यासी को नहीं होती क्यों कि सिद्धि तक मनुष्य यत्नशील नहीं रहते। बीच में ही उदास व निराश हो योगभ्रष्ट हो जाते हैं। योग भ्रष्टों की गति हम ध्यान योग के प्रकरण में कह चुके है। दूसरी बात, आत्म साक्षात्कार होने के पश्चात् भी सिद्ध पुरुष, उस परमात्मा को तत्त्वतः नहीं जान पाता। तत्त्वतः से अभिप्राय है सविज्ञान। विज्ञान निसर्ग की भौतिक क्रियाओं को विश्लेषित कर बताता है। प्रकृति की रचना में अन्तर्हित जो ज्ञान ज्ञेय तथा ज्ञानगम्य है, उसे विज्ञान मूर्त रूप से अभिव्यक्त करता है। परमात्मा से परतर कुछ नही है। उस ज्ञान को सविज्ञान जानने के बाद कुछ ज्ञातव्य शेष नहीं रहता है। इस ज्ञातव्य को हर सिद्ध तत्त्वतः नहीं जान पाता। सिद्धों में भी भगवान् ने श्रेणियां बताई हैं। कोई कोई सिद्ध पुरुष ही परमात्मा के ज्ञान को सविज्ञान जान पाता है। यही तीसरी महत्त्वपूर्ण बात है। योग सिद्धि की इस तरह हीन स्थितियां हमारे सामने आती हैं (१) योगाभ्यास, (२) योग सिद्धि तथा (३) तत्वज्ञ योग सिद्धि। तत्त्वज्ञ योगी ही श्रेष्ठ योगी है। गीता के छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक मे इसी बात को भगवान् ने प्रकारान्तर से कहा है—

> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
> श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।६.४७

सारे योगियों में भी जो अपनी अन्तरात्मा से मुझमें ही स्थित होकर श्रद्धापूर्वक भजता है, वही योगी मेरे मत से युक्ततम है। जब आत्मा परमात्मा में पूर्ण श्रद्धा के साथ एकीभूत हो जाती है तब तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति होती है। मात्र आत्म साक्षात्कार से नहीं। यह अभिप्राय स्पष्ट है। यह अद्वैत की स्थिति ही योग की श्रेष्ठ स्थिति है, ऐसा कह सकते है। परमात्मा को समग्रता से सविज्ञान अशेषतः यदि जानना है तो आत्मा को ही परमात्मा मे स्थिर एवं अचल रूप से स्थापित करना होगा। अन्य दर्शन जहाँ आत्म साक्षात्कार का मार्ग प्रदर्शित करते है, वहां गीता आत्मा से परमात्मा के एकत्व का मार्ग प्रशस्त करती है। यही गीता के दर्शन की मौलिकता है। इसी कारण गीता षड्दर्शनों से आगे की सीढी है। इसी कारण गीता अपने आप से पूर्ण एक स्वतन्त्र दर्शन ग्रन्थ है या यों कहें एक स्वतन्त्र उपनिषद् है।

परम सत्ता का सविज्ञान विश्लेषण हमें गीता में ही भलीभांति प्रस्तुत हुआ मिलता है। इस विश्लेषण में हम देखेंगे कि जो कुछ दृष्ट एवं अदृष्ट है वह सब कुछ परम पुरुष ही है। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन बुद्धि और अहङ्कार इन भिन्न आठ रूपों में विभक्त प्रकृति उस पर पुरुष की ही प्रकृति है। जिसे अपरा नाम से सम्बोधित किया जाता है। इससे अन्य उस पर पुरुष की एक और प्रकृति है जो परा नाम से जानी जाती है। यह जीवभूत चेतन प्रकृति है जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है। ये दोनों अपरा एवं परा प्रकृति ही सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति की योनि है अर्थात् सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पत्ति वाले है। इस तरह पर पुरुष ही इस सम्पूर्ण

जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण है।

प्रकृति उस पर पुरुष की अध्यक्षता में ही इस चराचर जगत् की सृष्टि करती है। इसी हेतु से यह संसार विपरिवर्तित होता रहता है, कभी रचता है कभी नष्ट होता है। पर सत्ता की इच्छा ही इसका कारण है। क्यों कि वही उत्पत्ति व प्रलयकारी है। *आवागमन का वही हेतु है। गीता में कहा भी है—*

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥७.४
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥७.५
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥७.६
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥१४.३
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥१४.४
यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥१३.२६
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ॥७.१०
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ॥९.१७
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥९.१०
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥१०.२
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥१० ६
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥१०.८
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥१०.२०
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥९.१८

उस पर सत्ता के सङ्कल्प से ही यह मानुषी सृष्टि है। सातों महर्षि और इनसे भी पूर्व में होने वाले चारों सनक सनन्दनादि तथा स्वायंभुव आदि चौदहों मनु उस पर पुरुष के सङ्कल्प से ही तो उत्पन्न हुए थे, जिनकी ही संसार में यह सारी प्रजा है।

इस तरह यह सारी सृष्टि ही परमात्मा का रूप है। यह सर्वतः पाणिपाद,

सर्वतः अक्षि, सिर, मुख तथा सर्वतः श्रुतिमत इस लोक में सबको आवृत्त किए स्थित है।

इस तरह यह सारी सृष्टि उस अव्यक्त मूर्ति पर पुरुष से व्याप्त है। पर किस तरह, इसे स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं कि सारे भूतग्राम महान् सर्वत्र गमनशील आकाश में वायु की तरह स्थित हैं पर उनमें आकाश वायु में नहीं है। वह भूतों में स्थित न होते हुए भी समस्त भूतों को उत्पन्न करता है, उसका भरण-पोषण करता है। कल्प के क्षय में सारे भूत उसी पर पुरुष की प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं। फिर कल्प के आदि में वह उनकी रचना करता है। इस तरह अपनी परा व अपरा प्रकृति को अंगीकार करके अपने स्वभाव के वश-अवश हुआ इस सम्पूर्ण भूत समुदाय को वह पर पुरुष वार-वार रचता है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥८.२२

मया ततमिदं सर्व जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥९.४

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥९.५

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥९.६

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥१३.२७

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्तिन प्रियः ॥९.२९

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥१३.३१

तस्य कर्त्तारमपिमां विद्धय कर्त्तारमव्ययम्।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥१३.३२

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९.९

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥७.२६

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३.१३

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१३.१४

वहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।१३.१५
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।१३.१६

वह परमात्मा ही है जो सारे शरीरों में आत्मा रूप में स्थित है । क्षेत्रज्ञ भी वही परपुरुष है । वही अधियज्ञ है । कहा भी है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।।१३.२२

उपद्रष्टा अनुमन्ता भर्ता भोक्ता महेश्वर होने से देह में आत्मरूप में स्थित वह पर पुरुष परमात्मा ही कहा जाता है ।

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।।८.४
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।।१०.२०
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।।१३.२
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।।१३.२२
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।।१५.७
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।।१८.६१

इस पर पुरुष को गीताकार ने कई विविध नामों से पुकारा है । जैसे अर्जुन के यह प्रश्न करने पर 'किं तद्ब्रह्म ?' भगवान् ने वताया 'अक्षरं ब्रह्म परमं ।' अर्थात् परम अक्षर, जिसका कभी नाश न हो, अव्यय, ऐसा परमात्मा ही ब्रह्म है । यह अव्यक्त से भी परे सनातन अव्यक्त भाव है । यह समस्त भूतों के नाश हो जाने के बाद भी नष्ट नहीं होता है ।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।।८.२०

इसे ही पर पुरुष कहा है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।।८.२२

इसे ही 'उत्तमः पुरुषः', 'क्षरमतीतो', 'अक्षरादपि चोत्तमः' तथा 'पुरुषोत्तमः' कहा है । देखिए—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।।१२.१७
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।१५.१८

इसी पर पुरुष को अव्यय, ईश्वर आदि भी स्थान-स्थान पर सम्बोधित किया है । गीताकार ने गीता के अध्याय ८ के ९वें श्लोक में इस परब्रह्म के स्वरूप का इस प्रकार विश्लेषण किया है ।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।८.९

जो पुरुष कवि नाम सर्वज्ञ, पुरातन, नाम अनादि, अनुशासिता, अणोरणीयान, सबको धारण करने वाला, अचिन्त्य रूप, आदित्य वर्ण, तथा तम से परे प्रकाश स्वरूप जो परमात्मा है उसे स्मरण करता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।८.११

जिसे वेदविद् अक्षर कहकर पुकारते हैं, वीतरागी प्रयत्नपूर्वक जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसकी प्राप्ति की इच्छा कर ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं उस परमपद को तेरे लिए कहता हूँ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।८.१३

जो पुरुष ओम ऐसे एक अक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण एवं स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है वह पुरुष परम गति को जाता है।

'ॐ तत् सत्' ये भी ब्रह्म के तीन नाम हैं। जो ओम है वही सत् है। इसीलिए ब्रह्मवादी अपना हर काम ओम शब्द का उच्चारण कर प्रारम्भ करते हैं।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।।१७.२३

इस तरह ओम, ब्रह्म, परम अक्षर, क्षरातीत, अक्षरोत्तम आदि कई नामों से परमात्मा की व्याख्या की गई है। यह अपरापरा (७.४-५), क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ (१३.१) तथा क्षर-अक्षर (१५-१६) से परे उत्तम पुरुष है। यही अव्यय ईश्वर है; लेकिन गीता में इस स्फूट चिन्तन के अतिरिक्त उस परम सत्ता में स्वरूप का ज्ञान हमें तीन प्रकार से होता है—(१) पर पुरुष की विभिन्न विभूतियों के वर्णन में जिसे संक्षेप में विभूति योग कह सकते हैं। (२) भगवान् के यौगिक चमत्कारों के रूप में प्रदर्शित अपने विविध रूपों के प्रदर्शन व उनके विवरण में तथा (३) अर्जुन के विभूति श्रवण विश्व रूप, चतुर्भुज रूप तथा मनुष्य रूप दर्शन से प्रभावित होकर विविध प्रकार से की गई उस पर पुरुष की प्रार्थना में।

अब हम इनको एक-एक कर लेते हैं। पहले विभूति योगान्तर्गत विभूति वर्णन—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।।१०.२

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।१०.३

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।।१०.४

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।।१०.५

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।।१०.६

अहं सर्वस्व प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।१०.८

मच्चित्ता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।१०.९

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।१०.१०

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।१०.११

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।।१०.७

सुरगण तथा महर्षिगण मेरे प्रभव (उत्पत्ति) को नहीं जानते हैं क्योंकि सब प्रकार से देवताओं एवं महर्षियों का आदि कारण हूँ। जो मुझ परमात्मा को अज, अनादि तथा लोक महेश्वर तत्त्व से जानता है वह ज्ञानवान् पुरुष मनुष्य लोक में सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।

बुद्धि, ज्ञान, सम्मोहनहीनता (अनासक्ति), क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख-दु:ख, उत्पत्ति, प्रलय, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अयश, नाम ऐसे प्राणियों के नाना प्रकार के भाव, मुझ परमात्मा से ही होते हैं।

सप्तर्षि तथा इनसे भी पूर्व में होने वाले चारों सनक, सनन्दन, सनातन आदि चारों ऋषि तथा चौदह मनु जो भावना से मुझ परमात्मा से ही जुड़े थे, मेरी ही मानसी-सृष्टि हैं। इनकी ही संसार में यह सारी प्रजा है।

मैं परमात्मा ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ। मेरे कारण ही सब चेष्टारत हैं। ऐसा मानकर ही बुद्धिमान पुरुष, श्रद्धा और भक्ति से युक्त हुए मुझ परमेश्वर को ही निरन्तर भजते हैं। निरन्तर मुझ परमात्मा मे चित्त लगाने वाले, मेरे में ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्तजन, सदा ही आपस में मेरे प्रभाव को जनाते हुए तथा मेरे गुणों का वर्णन करते हुए, सन्तुष्ट हुए मुझ में ही रमण करते हैं। ऐसे प्रीतिपूर्वक सतत मुझ से युक्त होकर भजन करने वाले भक्तों को मैं वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मेरे को ही प्राप्त होते हैं। उन पर अनुकम्पा के भाव से ही, मैं स्वयं उनके अन्तःकरण में आत्म रूप से स्थित हुआ, अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को, प्रभास्वित ज्ञान दीप से नष्ट करता हूँ।

जो मेरी इस विभूति और योगशक्ति को तत्त्वतः जानता है, वह अविकम्प योग द्वारा मुझ से संयोजित होता है इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।१०.४२

हे अर्जुन ! मैं परमात्मा सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। मैं बारह आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ तथा मैं उन्चास मरुतों मे मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ। वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन तथा प्राणियों में चेतना हूँ। एकादश रुद्रों मे शंकर, यक्ष तथा राक्षसो में धन कुबेर, अष्ट वसुओ में अग्नि तथा पर्वत शिखरों में सुमेरु शिखर हूँ। पुरोधाओं में मुझे ही देवताओं का मुख्य पुरोहित बृहस्पति जान। सेनानियों में शंकर पुत्र स्वामिकार्तिक स्कन्द तथा सरोवरों में मैं समुद्र हूँ। मैं महर्षियों में भृगु, वाणी में एकाक्षर ओम हूँ तथा सब प्रकार के यज्ञों में जप यज्ञ और स्थावरों में हिमालय हूँ। सारे वृक्षों में पीपल का वृक्ष, देव ऋषियों में नारद, गन्धर्वो मे चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ। अश्वों में समुद्र, मन्थन में अमृत के साथ उत्पन्न होने वाला उच्चैः श्रवा, हाथियों में ऐरावत तथा मनुष्यों में राजा मेरे को ही जान। मैं शस्त्रों में वज्र, गौओं में कामधेनु हूँ। प्रजनन हेतु कामदेव हूँ तथा सर्पो में वासुकि हूँ। नागों में अनन्त, जल विहारियों में वरुण, पितरों में अर्यमा तथा संयमयों में यमराज मैं हूँ। मैं दैत्यों में प्रह्लाद, गणकों मे समय, पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ। मैं पवित्र करने वालों मे वायु, शस्त्रधारियों में राम, मछलियो में मगर और नदियों में गंगा हूँ। हे अर्जुन ! सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओं में अध्यात्म विद्या तथा वक्ताओं में विषय भी मैं हूँ। मैं अक्षरों में अकार तथा समासों में द्वन्द्व हूँ। अक्षय काल व विराट् रूप धाता भी मैं ही हूँ। सर्व हर मृत्यु मैं हूँ तथा भविष्य का उद्भव हूँ।

स्त्रियों में कीर्ति श्री, वाक् स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा मैं हूँ तथा सामपाठियों में बृहत्साम तथा छन्दों मे गायत्री छन्द, मासों मे मार्गशीर्ष और ऋतुओं में बसन्त ऋतु मैं हूँ। यहां तक कि छलियों मे जुआ तथा तेजस्वियों का तेज मैं हूँ। मैं ही जेताओ का विजय, व्यवसायियों का व्यवसाय तथा सात्त्विको का सत्त्व भाव हूँ।

वर्तमान मे वृष्णि वंशी, यादवों में वासुदेव, पाण्डवों में धनञ्जय, मुनियों में वेदव्यास मैं हूँ तथा कवियों में हुए शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ।

इतना ही नहीं दमन करने वालों के निमित्त दण्ड, विजयेच्छुकों में रण-नीति, गुह्यों में मौन तथा ज्ञानियों का ज्ञान भी मैं ही हूँ। सब प्राणियों का बीज भी मैं ही हूँ। क्योंकि ऐसा कोई चराचर नहीं है जो मेरे से रहित हो।

हे परंतप अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अन्त नहीं है। यह विभूतियों का विस्तार तो मैंने संक्षेप में कहा है। जो जो भी विभूतिमत्, श्रीमत् और ऊर्जितम् वस्तु है उस-उसको तू मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न जान। बहुत जानने से तुझे क्या ? तू इतना ही जान ले कि इस सम्पूर्ण जगत् को मैं अपने एक अंश से ही धारण किए स्थित हूँ।

उपर्युक्त वर्णन में हमें कई बातें स्पष्ट हुई दिखती हैं—पहली, जो कुछ विभूति, श्री एवं ऊर्जा से युक्त है वही नहीं, छल की कुशलता तथा अपराधियों का दण्ड निर्धारण भी वही है। दूसरी, यह कि वह परमात्मा अपनी अनन्त शक्ति के केवल एक अंश से इस सम्पूर्ण जगत् को धारण किए है। तीसरी बात कि वह परमात्मा केवल चेतन-प्राणियों में ही नहीं है; अपितु वह समस्त अचर एव स्थावर में भी है। वह सर्वत्र व्याप्त है। उसके बिना कुछ नहीं है। चौथी बात कि सब उसी की इच्छा शक्ति से गतिशील है। उसी के प्रेरे सब यत्नशील हैं। पांचवी बात कि वही सबका आदि, मध्य व अन्त है, वही सबकी उत्पत्ति, पोषण एव संहार कर रहा है। जो कुछ घटित हो रहा है वह उसी की इच्छा का परिणाम है। वह सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अनन्त है। पहले वाले विभूति वर्णन को भी जोडें तो छठी बात कि वह परमात्मा अज व अनादि व लोक महेश्वर है। सातवीं बात, जितने भी भूत भाव है अच्छे-बुरे बुद्धि ज्ञानादि उसी के कारण हैं। अन्तिम व आठवीं बात कि वही अपने भक्तों को भव तिमिर से पार उतारने के लिए बुद्धि योगरूपी प्रकाश देने वाला है। अर्थात् भक्तों का योग क्षेम वही वहन करने वाला है।

विश्व रूप दर्शन योगान्तर्गत विविध रूप विग्रह—

भगवान् के श्रीमुख से संक्षेप मे उनके अविनाशी प्रभाव, विस्तार से भूतो की उत्पत्ति एवं प्रलय, उनकी प्रधान-प्रधान विभूतियों तथा परम गोपनीय अध्यात्म विषयक उपदेश सुनकर मोहग्रस्त अर्जुन का अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह भगवान् से उनके कथनों की वास्तविकता जानने के लिए, उनके ऐश्वर्य रूप को देखने की इच्छा प्रकट करता है। वह भगवान् से कहता है कि जब मेरे द्वारा आपका विश्वरूप देख पाना शक्य है तो फिर आप अपने अविनाशी स्वरूप का साक्षात् दर्शन कराने का कष्ट करें।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥११.१
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥११.२
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥११.३
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥११.४

इस पर भगवान् कहते हैं कि हे पार्थ! मेरे नाना वर्ण वाले, नाना प्रकार के सैकड़ों एवं हजारों दिव्य रूपों को देख। द्वादश आदित्यों, आठों वसुओं, एकादश रुद्रों, दोनों अश्विनी पुत्रों, उन्चास मरुतों तथा बहुत सारे पहले न देखे हुए, आश्चर्यमय रूपों को देख। इस मेरे शरीर में एक जगह स्थित हुए चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है वह देख;

पर इन प्राकृत नेत्रों से निस्सन्देह तू इन्हें नहीं देख पाएगा। अतः मैं तेरे लिए दिव्य चक्षु देता हूँ। उससे तू मेरे योग के ऐश्वर्य को देख सकेगा। इस प्रकार दिव्य चक्षु प्रदान कर महायोगेश्वर हरि ने अर्जुन को अपना परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखाया।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥११.५
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥११.६
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥११.७
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥११.८
एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥११ ९

उपर्युक्त विवरण से एक तो हमें भगवान् कृष्ण के अवतारी एवं महायोगेश्वर पुरुष होने में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रहता है, दूसरे योग सिद्धि के दिव्य चमत्कारों का ज्ञान होता है तथा तीसरे लगता है कि सब कुछ चर-अचर, स्थावर जङ्गम, वही एक परमात्मा है शेष सब कुछ उसी की प्रकृति रूपा माया है।

भगवान् के दिखाए विश्व रूप में अर्जुन ने अद्भुत दर्शनों वाले अनेक मुख, अनेक नयन, अनेक दिव्य आभरण, अनेक उद्यत दिव्य आयुध, दिव्य मालाओं एवं वस्त्रों को धारण किए, दिव्य गन्धों का अनुलेपन किए, सर्व आश्चर्यो से युक्त अनन्त विराट् स्वरूप परमेश्वर को देखा। आकाश में हजारों सूर्यो के एक साथ उदय होने पर उत्पन्न प्रकाश भी कदाचित् ही, योगेश्वर के उस विश्व रूप के प्रकाश के सदृश हो सके। इसके साथ ही अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त हुए सम्पूर्ण जगत् को इन देवों के देव भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर में स्थित देखा। भगवान् के उस विराट् स्वरूप को आश्चर्य एवं रोमाञ्च से युक्त हुआ अर्जुन देख, सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए, श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने लगा।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥११.१०
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ॥
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११.११
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥११.१२
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥११.१३

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।।११.१४

चतुर्भुज रूप दर्शन :

प्रार्थना करते हुए अर्जुन ने अन्त में कहा, हे देवेश ! जगन्निवास, मैं आपके पूर्व में कभी न देखे काल रूप को देख हर्षित तो हूँ पर मेरा मन भ्रम से व्यथित हो रहा है । अतः आप प्रसन्न होकर अपना देवरूप दिखाइये । हे सहस्रबाहु, विश्वमूर्ति, सिर पर मुकुट, हाथ में गदा व चक्र सहित आपके चतुर्भुज रूप को देखना चाहता हूँ । अतः आप चतुर्भुज रूप से युक्त होइए । उस विकराल काल रूप को देख अर्जुन की बड़ी व्याकुलता को विचार, भगवान् ने कहा कि मेरे इस प्रकार के विकराल रूप को देख तुझको व्याकुलता न होवे, तू विमूढता को प्राप्त न हो, और तेरा मन भय रहित हो, प्रीति वाला बने अतः मैं अपना वही चतुर्भुज रूप, जिसे देखने की तू ने इच्छा प्रकट की है, तुझे दिखाता हूँ। भगवान् कृष्ण ने फिर अपना चतुर्भुज रूप दिखाया । उसके बाद वापस मनुष्य रूप में आकर भयभीत अर्जुन को धीरज बंधाया । भगवान् के उस सौम्य मानुष रूप को देख अर्जुन शान्तचित्त हुआ, अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया । वेदव्यासजी ने इस प्रकार विराट् एवं चतुर्भुज रूप दिखवाकर यह सिद्ध किया है कि वही परमात्मा काल रूप रुद्र है, वही परमात्मा पालक रूप विष्णु है और वही अवतारी वासुदेव कृष्ण है ।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।११.४५
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।११.४६
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।।११.४९
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ।।११.५०
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।।११.५१

अर्जुन द्वारा की गई प्रार्थना में भगवान् का तत्त्वतः स्वरूप वर्णन :

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।।१०.१२
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितोदेवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।।१०.१३
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
नहिते भगवन्व्यक्तिं विदु र्देवानदानवाः ।।१०.१४

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१०.१५

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१०.१६

भगवान् कृष्ण से उनके दिव्य विभूति प्रभाव को सुनकर अर्जुन भगवान की प्रार्थना करता हुआ कहता है, आप ही परम ब्रह्म, परमधाम, परम पवित्र, दिव्य शाश्वत पुरुष, आदिदेव, अज एवं विभु हैं। ऐसा ही आपको सारे ऋषि, देवर्षि, नारद, असित, देवता, व्यास तथा आप स्वयं भी कह रहे हैं। हे केशव ! मुझसे आप जो कुछ भी कह रहे हैं उस सब को मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन् ! आपके इस व्यक्त स्वरूप को न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं। हे भूतों के उत्पन्न करने वाले, हे भूतों के ईश्वर, हे देवों के देव, हे जगत्पते परमेश्वर आप स्वयं ही अपने इस आत्मस्वरूप को जानते हैं। आप ही अपनी उन सभी, दिव्य विभूतियों को सम्पूर्णता से कहने में समर्थ हैं जिन विभूतियों के द्वारा आप इन लोकों को व्याप्त कर स्थित हैं।

भगवान् की विभूतियों का विस्तार सुनकर अर्जुन भगवान् के रूप व ऐश्वर्य को देखने की इच्छा प्रकट करता है। भगवान् उसे दिव्य दृष्टि देते हैं क्योंकि कोई भी प्राकृत जन अपने सामान्य नयनों से उस विराट् रूप को देख पाने में समर्थ नहीं है। दिव्य दृष्टि पाकर, अर्जुन भगवान् का विराट् रूप देखता है। और उस विराट् उग्र रूप की प्रार्थना इस प्रकार करता है—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्चदिव्यान् ॥११.१५

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥११.१६

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥११.१७

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्यय: विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥११.१८

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥११.१९

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥११.२०

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥११.२१

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥११.२२

रूपं महत्त बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यस्थितास्तथाहम् ।।११.२३
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ।।११.२४

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्टवैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।११.२५
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ।।११.२६
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ।।११.२७
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।।११.२८
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।।११.२९
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।।११.३०
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।११.३१

हे देव ! मैं अपनी देह में सारे देवों, भूतों के विशेष समुदायों, कमलासन पर स्थित ब्रह्मा के सारे ऋषियों तथा दिव्य नागों को देखता हूँ। हे विश्वेश्वर, विश्वरूप, मैं आपको अनेक बाहु, उदर, मुख व नेत्रों से युक्त सर्वतः अनन्त रूप वाला देखता हूँ। आप न आदि है, न मध्य हैं न अन्त हैं। प्रदीप्त अग्नि एवं सूर्य सी अप्रमेय तथा सब ओर से दुर्निरीक्ष्य तेज राशि में दीप्तमन्त आपके किरीट, गदा, तथा चक्र को देखता हूँ। मेरे मत से आप ही वेदितव्य परम अक्षर हैं, आप ही विश्व के परम विधान है, आप ही शाश्वत धर्म के रक्षक तथा सनातन अव्यय पुरुष हैं। आदि, मध्य व अन्त से रहित, अनन्त वीर्यवान, अनन्त बाहु धारी, चन्द्र सूर्य रूपी नेत्रों वाला, अपने तेज से इस विश्व को तापित करता हुआ दीप्ताग्निवत आपका मुख देखता हूँ। स्वर्गलोक, पृथिवी लोक, इनके मध्य का सम्पूर्ण आकाश, तथा सारी दिशाएँ एक आप ही से व्याप्त हैं। हे महात्मन् ! आपके अद्भुत उग्ररूप को देखकर ये तीनों लोक प्रव्यथित हो रहे है। आप ही में देवताओं के समूह प्रवेश करते हैं, कुछ भयभीत हुए सिद्ध महर्षियों के समूह करबद्ध, कल्याण हो ऐसा कहकर, पुष्कल स्तुतियों का उच्चारण करते हुए आपकी स्तुति करते हैं। सभी एकादशरुद्र द्वादश आदित्य, अष्टवसु साध्यगण, विश्वेदेव, दोनों अश्विनीकुमार, उन्चासों मरुत, पितृगण गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध संध, आदि सब ही विस्मित हुए आपको देखते है। हे महावाहो ! सारे लोक व मैं आपके बहुत

से मुख, नेत्र, बाहु, जंघा, पैर, उदर, कराल दांत, वाले महत रूप को देख व्याकुल हो रहे हैं। हे विष्णो ! नभस्पर्शी, आपके शरीर में अनेक दीप्त वर्णों वाले व्यात्त आनन, दीप्त विशाल नेत्रों को देख अन्तरात्मा में प्रव्यथित हुआ मैं धृति व शान्ति को प्राप्त नहीं हो रहा हूँ। कालानल के समान प्रज्वलित आपके मुखों के विकराल दाँतों को देख, दिशाओं का ज्ञान भूल गया हूँ और सुख को प्राप्त नहीं हो रहा हूँ ! अतः, हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होवें। वे सभी धृतराष्ट्र को सौ पुत्र, सारे अवनिपालों, भीष्म द्रोण, कर्ण तथा हमारे पक्ष के भी मुख्य योद्धा शीघ्रता से आपके उस भयानक विकराल दाँतों वाले मुख में प्रवेश करते हैं। आपके दाँतों के बीच में कई एक उत्तम अंग उलझाकर पूर्ण हुए दिखते हैं। जैसे नदियों के बहुत से जल के प्रवाह समुद्र की ही ओर दौड़ते हैं वैसे ही वे मनुष्य लोक के योद्धा आपके प्रज्वलित हुए मुखों में प्रवेश करते हैं। जैसे—पतंग समृद्धवेग से प्रदीप्त अग्नि में नष्ट होने के लिये प्रवेश करते है, वैसे ही ये सब लोग नष्ट होने के लिए समृद्ध वेग से आपके मुखों में प्रवेश करते हैं। समग्र लोकों को सब ओर से प्रज्वलित मुखों से भक्षण करते हुए, अपने तेज से आपूरित करता हुआ आपका उग्र प्रकाश समग्र जगत् को तपाता है। मुझे कहें आप उग्र रूप कौन हैं ? हे देववर ! आपको नमन है, प्रसन्न होइये। आपके आद्य को जानने का इच्छुक हूँ। मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता हूँ।

भगवान् के सहस्रपाद, सहस्र मुख, सहस्र बाहु, विकराल दांत, अग्नि एवं सूर्य की तरह प्रज्वलित वदन और उसमें नाश के लिये जा रहे लोक के लोक, यहाँ तक कि वर्तमान कुरुक्षेत्र के उभय पक्षी योद्धा गणों को नाश होने के लिये उन मुखों में समृद्धवेग से प्रवेश करते देख अर्जुन भय प्रकम्पित हो जाता है और पूछता है 'को भवानुग्ररूपो' इस पर भगवान् उत्तर देते हैं—

> कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
> ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।।११.३२
>
> तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्वराज्यं समृद्धम्।
> मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।।११.३३
>
> द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
> मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।।११.३४

मैं लोकों का क्षय करने वाला प्रवृद्ध काल हूँ। इस समय लोकों का क्षय करने के लिये प्रवृत्त हूँ। तेरे बिना भी ये सभी युद्धस्थ प्रतिपक्ष की सेना के योद्धागण नहीं बचेंगे। इसलिए उठ और यश अर्जित कर। शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य को भोग। ये सब मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं, हे सव्यसाची अर्जुन, निमित्त मात्र बन जा। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य वीर योद्धागण जिन्हें मैंने मार दिया है, तू रणक्षेत्र में मार दे। व्यथा न कर। युद्ध कर। तू इन वैरियों को युद्ध में अवश्य जीतेगा।

भगवान् के इन आशा भरे वचनों में हमें तीन बातें स्पष्ट हुई मिलती हैं। पहली बात, मनुष्य जो यह सोचता है मैंने उसे मार दिया, वह उसका भ्रम मात्र है। वास्तव में उसे तो परमात्मा ने पहले ही मार दिया था; मनुष्य तो केवल एक निमित्त भर है। परमात्मा ही मारने व जिलाने वाला है। मनुष्य नहीं है। दूसरी बात, ईश्वर जब अवतार लेता है तब काल रूप में लेता है। वह दुष्टों के संहार व धर्म के संस्थापन के लिये अवतार लेता है। तीसरी बात, जो गीता में अर्जुन के विषाद से सम्बन्धित है वह यह कि मनुष्य का किसी की मृत्यु पर विषाद करने व भौतिक सम्बन्धों की दृष्टि से चिन्तित होने का कोई प्रयोजन नहीं है। जो कुछ हुआ है उसी की इच्छा से, उसी के द्वारा हुआ है। मनुष्य तो मात्र निमित्त है; उसके लिए चिन्तित होना उचित नहीं है। अर्जुन के विषाद की समाप्ति के लिए ही भगवान् ने यहाँ यह कहा है। यह प्रसंग दूसरे अध्याय की भावनाओं के सर्वथा अनुरूप है।

चतुर्भुज रूप दर्शन की प्रार्थना :

भगवान् के इन वचनों को सुनकर, मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़े हुए, काँपता हुआ, नमस्कार करके फिर भी भयभीत हुआ, प्रणाम करता हुआ, गद्गद् वाणी से भगवान् कृष्ण से कहता है—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ।।११.३६

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।।११.३७

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।११.३८

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।।११.३९

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।११.४०

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।११.४३

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।।११.४४

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।११.४५

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।११.४६

हे इन्द्रियजयी, जगत् आपका प्रकीर्तन करता हुआ, प्रहर्षित एवं अनुरंजित होता है। भयभीत राक्षस दिशाओं में भागते हैं और सिद्ध समुदाय नमन करते हैं, यह उचित ही है। हे महात्मन्! आप सबसे बड़े देवता ब्रह्मा के भी आदि कर्त्ता हैं। हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास, आप ही सत-असत और उससे परे परम अक्षर हैं। कैसे वे आपको नमन न करें। आप आदि देव, पुराण पुरुष तथा विश्व के परमाश्रय हैं। आप ही वेत्ता, वेद्य तथा परमधाम हैं। हे अनन्तरूप! यह जगत् आपसे ही व्याप्त है। आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति, तथा उनके पिता हैं। आपको हजार हजार नमस्कार है। बार बार नमस्कार है, नमस्कार है। हे सर्वात्मन्। आपको आगे से, पीछे से नमस्कार है। सब ओर से आपको नमस्कार है। आप अनन्त वीर्य, अमित विक्रम तथा सारे संसार को परिव्याप्त किए हैं अत: सर्व रूप हैं। आप इस चराचर जगत् के पिता तथा श्रेष्ठ गुरुओं से भी अधिक पूजनीय हैं। इन तीनों लोकों में आपके समान अमित प्रभाव कोई नहीं है। अधिक होने का तो प्रश्न ही नहीं है। अत: आपको साष्टांग प्रणाम है। हे स्तुति योग्य प्रभो, आप प्रसन्न हों। हे देव, पिता ही पुत्र के, सखा ही सखा के, तथा प्रिय ही प्रिय के अपराध सहन करने के योग्य है। पहले जैसा कभी नहीं देखा था वैसा आपका विराट् विश्वरूप देखकर जहाँ मैं प्रसन्न हूँ वहाँ मेरा मन भय से प्रव्यथित भी हो रहा है। अत: हे देवेश! हे जगन्निवास, प्रसन्न होइए और मुझे अपना देव रूप दिखाइए। हे विश्वमूर्ते! हे सहस्रबाहो! मैं वैसे ही सिर पर मुकुट, हाथ में चक्र तथा गदा सहित आपको देखना चाहता हूँ अत: आप चतुर्भुज रूप वाले होइए।

अर्जुन की इस विनीत प्रार्थना को सुनकर भगवान् ने कहा—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥११.४७
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥११.४८
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥११.४९
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥११.५०

हे अर्जुन! मैंने अनुग्रहपूर्वक अपनी योग शक्ति के प्रभाव से यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि अनन्त विराट रूप तुझे दिखाया है जिसे तेरे सिवाय पहले किसी दूसरे ने नहीं देखा है। हे कुरुप्रवीर, मनुष्य लोक में इस प्रकार के विराट् विश्वरूप में मुझे तेरे सिवाय, वेद पाठी, याज्ञिक, शास्त्र ज्ञानी, दानी, कर्मकाण्डी, उग्रतापकर्त्ता कोई भी देख पाने में समर्थ नहीं है। इस प्रकार के मेरे इस विकराल रूप को देख तुझे व्यथा न हो, विमूढता को तू प्राप्त न हो, और तू भयरहित, प्रीतियुक्त मन वाला हो, अतएव तू उस ही मेरे इस शंख चक्र गदा पद्म वाले

चतुर्भुज रूप को फिर देख। और इतना कहते हुए भगवान् वासुदेव ने अपनी योग शक्ति से अपना वही चतुर्भुज रूप दिखाया। दर्शन देकर पुनः उसी सौम्य-मानुष रूप को प्राप्त होकर भीत अर्जुन को धीरज बंधाया।

इस चतुर्भुज रूप दर्शन के प्रकरण में कई दिव्य बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम, अवतारी पुरुष साक्षात् पर ब्रह्म होता है। उसके लिए कुछ असम्भव नहीं होता। परन्तु उसके स्वरूप की वास्तविकता को कोई अन्य नहीं जान सकता। द्वितीय, परब्रह्म के विराटरूप अथवा चतुर्भुज स्वरूप को इस मनुष्यलोक में वेद पाठ, यज्ञ, शास्त्राध्ययन, दान, कर्म क्रिया, उग्र तप से नहीं जाना जा सकता। तृतीय, जिस पर वह अवतारी पुरुष अनुग्रह करे केवल वही उसे देख सकता है। चतुर्थ, परमात्मा के विराट् व चतुर्भुज रूपों को साक्षात् देखने वाला अर्जुन ही पहला व्यक्ति था। उससे पूर्व किसी ने ऐसे स्वरूप नहीं देखे थे। अन्तिम व पंचम बात, आत्म-योग की अपरिमित शक्ति। आत्मयोगी जब अनन्य भक्ति से अपनी आत्मा को परमात्मा में पूर्णतः स्थापित कर तद्रूप हो जाता है तभी वह इस प्रकार के स्वरूप दिखाने व देखने मे समर्थ होता है।

भगवान् ने अर्जुन को योगशक्ति के चमत्कार बताने के निमित्त ही तो यह सारा प्रदर्शन किया था। भगवान् ने पूर्व मे ही कहा है कि जब तू बुद्धि योग के प्रभाव से ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त होकर मुझ में ही स्थित आत्मा वाला हो जाएगा तब मुझे तत्वतः जानेगा तथा योग की अपरिमित शक्तियों को जानेगा।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥७.१

भगवान् ने सविज्ञान ज्ञान के लिए योगशक्ति को ही प्रमुख ठहराया है। उन्होंने बार बार अर्जुन को इसीलिए योगी बनने का उपदेश दिया है। 'तस्माद्योगीभवार्जुन' (६.४६)। भगवान् का अर्जुन पर अनुग्रह कहें; या योग शक्ति का प्रदर्शन, मुख्य उपलब्धि ज्ञान स्वरूप परमात्मा का सविज्ञान अनुभव हमें गीता शास्त्र के माध्यम से हुआ है। ऐसा सविज्ञान वर्णन अन्यत्र अनुपलब्ध है। इसी कारण गीता अन्य ग्रन्थों से सर्वथा श्रेष्ठ है।

अवतारी पुरुष

परमात्मा के अवतरण के सम्बन्ध में स्वीकारात्मक एवं निषेधात्मक दोनों ही मत हमें प्रचलित मिलते हैं। जो परमात्मा को अज अव्यय एवं निराकार मानते हैं वे निषेधात्मक मत के तथा जो परमात्मा का सगुण पक्ष स्वीकार करके चलते हैं वे स्वीकारात्मक मत लेकर चलते हैं। गीता इन दोनों ही प्रचलित मतों का समन्वय करती हुई, उसे अज, अव्यय व निराकार मानते हुए भी उसके अवतरण को स्वीकार करके चलती है। उसके अनुसार वही परमात्मा जो अजन्मा, अव्ययी तथा सब भूतों का ईश्वर है, जब पृथिवी पर धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का अभ्युत्थान

हे अर्जुन ! मुझे तीनों लोकों में कुछ भी करणीय नहीं है तथा प्राप्त होने योग्य वस्तु किंचित् भी अप्राप्त नहीं है। तो भी मैं कर्म करता हूँ, क्योंकि यदि मैं सचेष्ट होकर कदाचित् कर्म न करूँ तो हे अर्जुन ! मनुष्य सर्वशः मेरी ही भांति व्यवहार करने लगेंगे। श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उसी के अनुसार आचरण करते हैं। वह श्रेष्ठ पुरुष जो प्रमाण कर देता है सभी लोक उसी अनुसार आचरण करते हैं। इसलिए यदि मैं कर्म न करूँ यह सारा लोक भ्रष्ट हो जाएगा और मैं लोक में वर्ण-संकरता का कर्त्ता होऊँगा तथा इस सारी प्रजा का हननकर्ता बनूँगा।

अवतारी पुरुष इसीलिए योगमाया से आवृत्त हुए मानव चरित्र करते हैं। अवतार का अर्थ गीता ने इतना स्पष्ट कर दिया है कि अवतार के अर्थ के लिए कोई अवकाश शेष नहीं रहा है। कुछ विद्वान् पूर्व में हुए व्यक्ति के गुणों की बाद में हुए व्यक्ति में समानता देखकर उसे पूर्व का अवतरण कहते हैं। सच में यह गुणों का अवतरण है, परमात्मा का नहीं। जो पूर्व पुरुष को परमात्मा समझकर उसके गुणों का अवतरण कहते हैं वह अर्थ भी ठीक नहीं बैठता। गीता में यह ठीक है, अवतरण शब्द नहीं 'सृजाम्यहम्' आया है; लेकिन आप्त ग्रन्थों ने भगवान् के इस जन्म को अवतार शब्द से ही सम्बोधित किया है और अवतार शब्द इस हेतु रूढ़ हो गया है। अवतारवाद शब्द इसी नाम पर बन गया है।

इस तरह हम देखते हैं अवतरित परम पुरुष न तो मात्र स्थूल देह है, न स्थूल देह में स्थित चैतन्यरूपा आत्मा है; अपितु इन दोनों स्थितियों की स्वीकृति के साथ ही मुक्त व युक्त पुरुष के समस्त गुणों एवं लक्षणों को अपने में प्रच्छन्न रूप से योगमाया के सहयोग से समाहित किए उसी उत्तम पुरुष का साक्षात् सगुण विग्रह है। यह तो होता रहा है और होता रहेगा। जो अवतारवाद को नहीं स्वीकारते, गीता का उपर्युक्त विवेचन उनके लिए पर्याप्त उत्तर है।

अक्षर पुरुष

आत्म-तत्त्व का विषय बड़ा गहन है। अध्यात्म के जिज्ञासुओं में कोई इसे आश्चर्यवत् देखता है, इसी तरह कोई इसे आश्चर्यवत् कहता है और कोई इसे आश्चर्यवत् सुनता है; लेकिन सुनकर भी इस आत्मा को कोई नहीं जानता।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।२ २९

गीता में इस शरीरस्थ आत्मा को विविध नामों से सम्बोधित किया गया है। कहीं यह देही है तो कहीं क्षेत्रज्ञ। कहीं यह पुरुष है तो कहीं परा प्रकृति। कहीं यह अध्यात्म है तो कहीं अधिदैव। कहीं यह अक्षर है तो कहीं अव्यक्त। कहीं कूटस्थ है तो कहीं ओमिति। कहीं शरीरिण है तो कहीं देहिन्। कहीं ईश्वर है तो कहीं परम ब्रह्म, कहीं परमामति।

जहां यह आत्मा जीव रूप में अनेक है वहां मुक्त रूप में सर्वथा एकमेव अद्वितीय परमात्मा ही है। आत्मा और परमात्मा में तब कहीं कोई भेद-विभेद नहीं रहता। गीता ने इसी अभेदात्मक अद्वैत की सर्वत्र पुरस्थापना की है, जिसे हम आगे चलकर देखेंगे।

आत्म-तत्त्व का विषय गीता में हमें दूसरे अध्याय से ही प्रारम्भ हुआ मिलता है। देखिए—

नित्यात्मा की देहान्तर प्राप्ति का स्वरूप—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।२.१३

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।२.१८

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।२.१९

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।२.२०

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।२.२२

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।२.२३

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।२.२४

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२.२५

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२.३०

जैसे इस देह में कौमार्य, यौवन एवं जरा अवस्था आती है वैसे ही जीवात्मा देहान्त पर दूसरे शरीर को प्राप्त होती है। यह देह नाशवान् है और यह आत्मा नित्य अविनाशी और अप्रमेय कही गई है। यह आत्मा न मारता है न मारा जाता है। जो इसे हन्ता अथवा हत रूप मानते है वे दोनों ही अज्ञानी हैं। यह आत्मा न तो कभी उत्पन्न होता है न कभी मरता है। न यह हुआ है न फिर होने वाला है। यह तो अज, नित्य, शाश्वत एव पुरातन है। यह नाशवान् शरीर में रहकर भी नहीं मारा जाता है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नए शरीरों को प्राप्त होता है। न इसे शस्त्र काटते हैं, न इसे अग्नि जलाती है, न इसे जल गीला करता है और न

पवन सुखाता है। यह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। यह नित्य, सर्वगामी, स्थाणु, अचल तथा सनातन है। इसे अव्यक्त, अचिन्त्य तथा अविकार्य कहा गया है। सारे शरीरों में स्थित यह देही नित्य अवध्य है।

आत्मा का परारूप—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।७.५
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।।७.६

यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ भेदों में विभक्त हुई प्रकृति तो अपरा है और इससे दूसरी को जीवभूत परा प्रकृति जानो, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है। ऐसा समझिए कि यह दोनों प्रकृतियाँ ही सम्पूर्ण भूतों को योनि हैं अर्थात् उत्पत्ति का कारण है।

आत्मा का अध्यात्म और अधिदैवत् रूप—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।।८.३
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।।८.४

परमाक्षर परमात्मा तो ब्रह्म है और जीवात्मा अध्यात्म कहा जाता है। (जीवात्मा के रूप में परिवर्तित होना ही ब्रह्म का स्वभाव है। इस कारण स्वभाव ही जीवात्मा कहा गया है।) नाश भाव वाले समस्त पदार्थ अधिभूत हैं और (अविनाशी) पुरुष अधिदैव है।

आत्मा का ओमिति कूटस्थ रूप—

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।।१७.२३
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।१७.२४
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।८.१३
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।१५.१६

ॐ तत् सत् ऐसे यह तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम कहा है। उसी से सृष्टि के आदि में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिक रचे गए हैं। इसीलिए ब्राह्मणादि जन विधानोक्त यज्ञ, तप, दान आदि क्रियाएँ ॐ नाम का उच्चारण करके ही प्रारम्भ करते हैं।

ॐ जैसे एक अक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और मुझ परमाक्षर का स्मरण करता हुआ.......। ओम रूप होने से आत्मा को कूटस्थ भी कहते हैं। अतः कूटस्थ का अर्थ हुआ, ॐ की प्रतिमा की तरह स्थित या कुटिलता से स्थित या कूट राशि की तरह स्थित या देह के शिखर पर स्थित या ऊपर गुण तथा भीतर माया रूप दोष वाली कपट पूर्ण। यह कूटस्थ आत्मा अनाशी होने से अक्षर है। शेष सारे भूत नाशवान् हैं। शिखर पर स्थित होने से ही आत्मा को 'ऊर्ध्व

मूलमधःशाखम्' (१५.१) कहा है।

आत्मा का अव्यक्त रूप : परम गति—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।।८.२१

जो आत्मा अव्यक्त अक्षर ऐसा कहा गया है वही परम गति कहा गया है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।१२.३

ये जो अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्रगम, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव आत्मा को उपासते हैं.........।

आत्मा का क्षेत्रज्ञ रूप—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।१३.१

हे कौन्तेय ! यह शरीर क्षेत्र है जो इस नाम से कहा जाता है। जो इस क्षेत्र को जानता है वह क्षेत्रज्ञ है, ऐसा तत्त्वज्ञ कहते हैं।

आत्मा का परमात्म रूप—

यथा प्रकाशयत्येकःकृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।१३.३३

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।।१३.२६

जैसे एक सूर्य सारे लोकों को प्रकाशित करता है वैसे ही एक क्षेत्री सारे शरीर को प्रकाशित करता है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही इस सारी चराचर सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।।१३.२

हे अर्जुन ! सारे शरीरों में क्षेत्रज्ञ नाम से जो आत्मा स्थित है, वह मुझ परमात्मा को ही जान।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।।१०.२०

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।।१३.१६

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।१८.६१

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।१३.१७

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।१३.२७

प्राणिमात्र से अविभक्त परमात्मा ही विभक्त की भांति स्थित है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।।१३.२२

वह ज्ञान, ज्ञेय व ज्ञानागम्य रूप परमात्मा सबके हृदयों में स्थित है। परमात्मा नाशवान् सारे प्राणियों में सम एवं अविनाशी भाव से स्थित है।

वह परमात्मा बोधस्वरूप, ज्ञेय तथा तत्त्व ज्ञान से प्राप्त होने वाला है तथा सबके हृदयों में स्थित है। देह में स्थित होने से ही उपद्रष्टा अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा इन नामों से यह पर पुरुष कहा गया है। वह अविनाशी परमात्मा आत्मारूप से सभी अनित्य प्राणियों में समभाव से स्थित है। अनादि एवं निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर मे स्थित हुआ भी न कुछ करता है और न कर्मों में लिपायमान होता है। जैसे, सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होने से लिपायमान नहीं होता है वैसे सर्वत्र देह में स्थित हुआ भी आत्मा गुणातीत होने के कारण लिपायमान नहीं होता है। इस जीवलोक में यह जीवभूत सनातन-आत्मा परमात्मा का ही अंश है।

आत्मा का पुरुष रूप—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।।१३.१९
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।१३.२०
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।१३.२१

प्रकृति (अष्टधा, अपरा) और पुरुष (परा) दोनों को अनादि जानो। कार्य और करण के उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही गई है और जीवात्मा सुख दुःखों के भोगने का हेतु अर्थात् भोक्ता कहा गया है। पुरुष प्रकृति में स्थित होकर ही प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है और इन गुणों की आसक्ति ही इस जीवात्मा के अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है।

आत्मा का परमात्मरूप—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।१३.३१
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।१३.३२
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।।१५.७

आत्मा और त्रिगुण—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।१४.५
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।।१४.६

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।।१४.७

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्व देहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।१४.८

हे अर्जुन ! प्रकृति से उत्पन्न ये तीनों सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इस अविनाशी आत्मा को शरीर से बांधते हैं। हे निष्पाप अर्जुन, इन तीनों गुणों में प्रकाशक अनामय सत्त्व गुण तो निर्मल होने के कारण सुख की आसक्ति और ज्ञान के अभिमान से बांधता है। हे अर्जुन ! रागरूप रजोगुण तृष्णा के संग उत्पन्न होने से, इस जीवात्मा को कर्म और उसके फल की आसक्ति से बांधता है। और हे अर्जुन ! अज्ञान से उत्पन्न तमोगुण सारे प्राणियों को सम्मोहित करने वाला है। वह इस जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बांधता है।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।।१४.१४
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।१४.१५
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।।१४.१८

जब यह जीवात्मा सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है तब वह उत्तमविदों के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है और रजोगुण के बढ़े होने पर मृत्यु को प्राप्त होने पर कर्मों में आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है तथा तमोगुण के बढने पर मृत्यु प्राप्त पुरुष मूढ योनियों में उत्पन्न होता है। सत्त्व गुण में स्थित उच्च लोकों को, राजस गुण स्थित मनुष्य लोक को तथा जघन्य गुण वृत्तिस्थ तामसी अधोगति को प्राप्त होते हैं।

गुणातीत आत्मा—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।१४.२०

इन स्थूल देह की उत्पत्ति के कारण रूप तीनों गुणों का जो उल्लंघन कर जाता है वह देही जन्म मृत्यु जरा तथा दुःखों से विमुक्त हुआ अमरत्व को प्राप्त होता है।

विषय और आत्मा—

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।१५.७
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ।।१५.८

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।।१५.९
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।१५.१०

जीवात्मा जब दूसरे शरीर में प्रवेश करता है तब वह शरीरस्थ मन व पांचों इन्द्रियों को आकृष्ट करता है तथा जैसे पुष्पादिकों से वायु गंध ग्रहण कर ले जाता है वैसे ही यह आत्मा भी अपने साथ मन व पांचों इन्द्रियों को नये शरीर में ले जाता है जिसे वह प्राप्त होता है । यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, रस घ्राण और मन में अधिष्ठित होकर विषयों का सेवन करता है । शरीर छोड़ कर जाते हुए को अथवा शरीर में स्थित होकर विषयों को भोगते हुए को विमूढ जन नहीं देखते हैं, केवल ज्ञान चाक्षुष ही उसे देख सकते हैं ।

आत्मा और आत्मदर्शन की साधना—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।१३.२४
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।।१५.११
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।१२ ५
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।१२.३
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।१२.४
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।८.१३
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।८.२१

कोई परमात्मा को अपनी आत्मा में ही ध्यान के माध्यम से देखता है, कोई सांख्य योग के ज्ञानमार्ग से और कोई कर्मयोग की निष्काम कर्म साधना से ।

ध्यान योगी इस देहस्थ आत्मा को योग के यत्न से देखते हैं । लेकिन जिन साधकों के अन्तःकरण शुद्ध नहीं हैं, ऐसे अचेतस योग साधक यत्न करते हुए भी इस आत्मा को नहीं देख पाते हैं । इस अव्यक्त आत्मा की प्राप्ति का साधन उस आसक्त चित्त वाले योग साधकों के लिए अधिक कष्ट साध्य है; क्योंकि देहाभिमानियों से अव्यक्त विषयक परमगति दुःखपूर्वक ही प्राप्त की जाती है । यह सही है कि जो साधक योगी अपने इन्द्रिय समुदायों को संनियमित कर सर्वत्र समबुद्धि से इस अक्षर

अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्रगम, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल ध्रुव, आत्मा की उपासना करते हैं वे सर्वभूतहितरत, आत्मा के साथ ही परमात्मा को भी प्राप्त हो जाते हैं। जो ओम जैसे एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण एवं अनुसरण करता हुआ अपनी देह को त्यागता है, वह परम गति को प्राप्त होता है। जो अव्यक्त अक्षर कहा जाता है वही परम गति है। लेकिन जहां पहुँच कर फिर प्रत्यावर्तन नहीं है वह परमधाम परमात्मा का ही है।

उपर्युक्त श्लोकों से आत्म-साधना के प्रति कुछ प्रश्न उभर कर सामने आते हैं (१) आत्प दर्शन की साधना सांसारिकों के लिए कष्ट साध्य है। (२) जो आत्म का ही उच्चारण एवं स्मरण करता हुआ देह त्याग करता है वह परमगति को प्राप्त होता है, जो प्रत्यावर्तक है। (३) केवल अप्रत्यावर्ती का परमधाम परमात्मा है, वह आत्म साधकों द्वारा आत्मा को परमात्मा में स्थित करने पर ही प्राप्त होता है। तथा (४) आत्म साधना भी परमात्मा का एक साधन है।

देह में आत्मा का निवास –

परमात्मा देह मे हृदय में स्थित है ऐसा हम श्लोक १३ १७, १३.२७ तथा १८ ६२ में देख चुके हैं। पर गीता में आत्मा का निवास बुद्धि से परे अर्थात् मस्तिष्क में बुद्धि से ऊपर बताया है देखिए—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: परं मन: ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे: परतस्तु स: ।।३.४२
एवं बुद्धे: परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।३.४३

इस शरीर से परे श्रेष्ठ, सूक्ष्म, बलवान् इन्द्रियां हैं, इन्द्रियों से परे मन है। मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे वह आत्मा है। उस बुद्धि से परे अर्थात् श्रेष्ठ, सूक्ष्म बलवान आत्मा को जानकर तथा अपनी आत्मा में ही स्थित होकर इस कामरूपी दुर्दमनीय शत्रु को मारो। इस तरह आत्मा का निवास बुद्धि से ऊपर सिद्ध होता है।

देह बद्ध जीवात्मा अनेक हैं—

जब तक जीव कर्मवशात् देह से बँधा आवागमन के चक्र में निमग्न रहता है तब तक वह जीवरूप में रहता है। इस तरह जीव शरीर संदर्भ में अनेक हो जाते हैं। गीता मे इस बात को स्पष्ट रूप से तो नही कहा है पर निम्न श्लोक का प्रकारान्तर से यही अर्थ ध्वनित है। देखिए—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपा: ।
न चैव न भविष्याम: सर्वे वयमत: परम् ।।२.१२

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नही था अथवा तू नही था, अथवा ये राजागण नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।

इस तरह देह भाव से तथा परमात्मा के स्वभाव से, जन्म के साथ आत्मा

हैं और कर्म बन्धन से बंधी निरन्तर आवागमन करती रहती हैं। एक बार परमात्मा जीव रूप में देह से बंधी कि फिर वह परम अंश होते हुए भी पृथक् जीव संज्ञक हो जाता है। उसकी अपनी पृथक् सत्ता हो जाती है। मुक्ति ही उसे वापस परमात्मरूप बनाती है, परमधाम पहुँचाती है जहां से प्रत्यावर्तन नहीं है। मूलतः अद्वैत होकर भी द्वैत भावी हो जाता है जीव। जीव विषयों में आसक्त होकर कैसे भव बंधन में बंधता है यह गुणों के विवेचन में हमने देखा। कैसे एक देह से दूसरे देह को प्राप्त करता है यह भी हमने देखा। और कैसे अकर्त्ता होकर भी कर्मों से जुड़ता है यह हम ऊपर देख चुके हैं। गीता में सर्वत्र आत्मा को अलिप्त व अकर्त्ता माना है देखिए—

आत्मा अकर्त्ता, अलिप्त है —

> प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
> यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं पश्यति ॥१३.२९
>
> अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
> शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥१३.३१
>
> यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
> सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥१३.३२
>
> यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
> क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥१३.३३

जो सारे कर्मों को सर्वशः प्रकृति से ही किये हुए देखता है, वही सही देखता है। इसी तरह जो आत्मा को अकर्त्ता रूप में देखता है, वही देखता है। अनादि एवं निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होकर भी वास्तव में न तो कुछ करता है न शरीर से लिपायमान होता है। जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश अपनी सूक्ष्मता के कारण किसी से लिपायमान नहीं होता वैसे ही वह देह के गुणों से लिपायमान नहीं होता। जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है उसी प्रकार एक ही चेतन आत्मा इस सम्पूर्ण जड़ शरीर को चैतन्यमय बनाता है। प्रकाशित करता है।

आत्मा ही अपना मित्र और शत्रु—

योग संसिद्धि से आत्मा के दर्शन कर मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। इस महान लक्ष्य को भूल, संसार सागर की सम्मोहक उर्म्मियों से यदि वह खेलता रहा तो आवागमन का चक्र और भौतिक लालसाएँ, और अधिक सुदृढ़ व कुटिल हो जायेगी। गीता ने इसी नाते कहा है कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी आत्मा का उद्धार करे, उसे अधोगति को नहीं पहुँचाए क्योंकि यह जीवात्मा आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। यह आत्मा उनका बंधु है जिन्होंने अपनी आत्मा को जीत लिया है और जिन्होंने आत्मा को नहीं जीता है वह आप ही शत्रुवत शत्रुता बरतता है। जितात्मा तथा प्रशान्त मनुष्य के हृदय में परमात्मा ही निवास करते हैं। देखिए—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।६.५
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।६.६
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।।६.७

योग संसिद्धि के लाभ हम ध्यान योग प्रकरण में भलीभांति देख चुके हैं।

क्षर पुरुष

यह दृष्यमान समस्त भौतिक जगत्, प्रकृति और पुरुष, क्षर और अक्षर, क्षेत्र और क्षेत्री, अपरा और परा की संयुति का ही परिणाम है। भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ भेदों में प्रकृति विभक्त है जो अपरा कही जाती है। परा प्रकृति जीवभूत है जो जगत् को धारण करती है। गीता में इस तथ्य का उल्लेख बहुत स्पष्टता से हुआ है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।७.४
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।७.५
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।।७.६

यह व्यापक स्तर की बात हुई, सीमित स्थिति में भी यही दर्शन मिलता है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।१३.१
यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।।१३.२६

हे कौन्तेय ! यह शरीर क्षेत्र नाम से कहा जाता है। जो इस शरीर को जानता है वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। जो कुछ भी स्थावर व जंगम वस्तु उत्पन्न होती है उसे हे भरतर्षभ, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न जान।

इनमें जो पुरुष है, अक्षर है, क्षेत्रज्ञ है, तथा परा प्रकृति है वह अविकारी है, शेष प्रकृति क्षर, क्षेत्र तथा अपरा विकार युक्त है, परिणामी हैं। यही सही है कि प्रकृति व पुरुष दोनों अनादि हैं। गीता में इस का भी बहुत ही सुन्दर विवेचन हुआ है। देखिये—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ।।१३.१९

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।१३.२०
पुरुषः प्रकृतिस्थो भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।१३.२१

यह व्यापक स्तर की बात हुई । शरीर जैसे सीमित क्षेत्र में भी यही स्थिति देखने को मिलती है ।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।१३.५
इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृति ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।।१३.६

हे अर्जुन ! तू प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जान । रागद्वेषादि विकार तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी तू प्रकृति से ही उत्पन्न हुए जान । कार्य और करण अर्थात् पंचभूत पंचतन्मात्राओं एवं मन बुद्धि अहकार तथा दशन्द्रियों के उत्पन्न करने में हेतु भी प्रकृति ही कही जाती है । प्रकृति में स्थित होकर ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थों को भोगता है । इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा के अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने के कारण है ।

हे अर्जुन ! पाँच महाभूत आकाश, वायु अग्नि, जल और पृथिवी, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त नाम मूल प्रकृति भी तथा दस इन्द्रियां, एक मन, पाँचों इन्द्रियों के विषय शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध, इच्छा द्वेष सुख दुःख, देह पिण्ड, चेतना, धृति ये सब मिलकर सविकार क्षेत्र में रूप मे कहे गए है ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।१४.५

सत रज तम ये जो तीनों गुण हैं ये भी प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं । यही तीनो गुण अव्यक्त रूप देही को देह से बाँधे रखते हैं ।

इस संसार में नाशवान और अविनाशी दो प्रकार के पुरुष हैं । सम्पूर्ण भूतों के शरीर तो नाशवान और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है । प्रकृति के एवं क्षेत्र के समस्त विकार एवं भाव जिनका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं सब नाशवान हैं । अविनाशी तो पराक्षर क्षेत्रज्ञ पुरुष ही है । गीता में इस को बड़ी स्पष्टता से बताया गया है । देखिये —

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।१५.१६
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।।२.२७
अन्तवन्त इमे देहानित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।।२.१८
नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः ।।२.१६

इस जगत् में क्षर एवं अक्षर ऐसे दो प्रकार के पुरुष हैं। क्षर सम्पूर्ण भूत ग्राम है और अक्षर आत्मा है। जो क्षर है, विकार है, उत्पन्न हुआ है, उसका नाश निश्चित है। प्रकृति का सृष्टि करने का अपना स्वभाव है अतः जो नाश हो गया है, वह फिर जन्म पा लेता है। यह देह नाशवान है लेकिन इस देह में जो आत्मा है वह नित्य है। इस तरह जो असत् है, क्षर है, उसका कोई भाव नहीं होता है और जो सत है, सनातन है उसका कहीं अभाव नहीं होता है।

अनादि अव्यक्त मूल प्रकृति का प्रथम विकार मद्ब्रह्म है। यही मद्ब्रह्म सब भूतो की योनि है यही प्रकृति है। गीता में आया है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भे दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।१४.३

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।१४.४

हे अर्जुन ! महत् ब्रह्म अर्थात् त्रिगुणमयी प्रकृति सब भूतों की योनि है। मैं उस योनि में चेतनरूप बीज को स्थापन करता हूँ। उस जड़ चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। हे अर्जुन ! नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी महत् ब्रह्म योनि है और मैं चेतन बीज को स्थापन करने वाला पिता हूँ।

यहाँ एक तथ्य ध्यान देने योग्य है। परमात्मा सर्वव्यापी है। वह अनादि मूल प्रकृति से तथा उसके विकारो से जब संसर्ग में आता है तब अंशरूप में आता है। इस अंश से अंशी का कुछ घटता नहीं। इस तरह अंश जो प्रकृति से या क्षेत्र से मिलता है वह परमात्मा ही है। पूर्ण में से यदि कुछ निकाल भी लिया जावे तो पूर्ण ही बचेगा और जो पूर्ण से निकला है वह पूर्ण से भिन्न कुछ नहीं होगा। हाँ, जब तक वह भिन्न होकर विकार से बंधा है तब तक विकार के संस्कारों से गुँथा होकर रहता है। वैकारिक संस्कारों से मुक्ति ही आत्मा को मुक्ति है।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, यह प्रकृति का स्वभाव है कि वह बार बार नष्ट होकर भी पुनः निर्मित होती है। 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च।' नाशवान का पुनर्जन्म ध्रुवमत्य है। गीता में कहा है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।।९.७
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।।९.८
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।९.१०

हे अर्जुन ! कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं और कल्प के आदि में मैं उनको फिर सृजता हूँ। अपनी प्रकृति को अंगीकार करके

स्वभाव के वश से परतंत्र हुए इस संपूर्ण भूत समुदाय को वार-वार उनके कर्मों के अनुसार रचता हूँ। हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाता के प्रकाश से यह मेरी प्रकृति चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करती है और कर्म के हेतु से यह संसार आवागमन रूपी चक्र में घूमता है।

ब्रह्म लोक से लेकर अन्य सब लोक पुनरावर्ती स्वभाव वाले हैं। केवल उनका ही जन्म नहीं होता है जो अपनी योगसाधना से अपनी आत्मा को परमात्मा में मिला देते हैं। ब्रह्म का जो एक दिन है वह सहस्र युग पर्यन्त तक रहता है। इसी तरह रात्रि भी सहस्र युगान्तर है। जब ब्रह्मा का दिन उदय होता है तब अव्यक्त प्रकृति से सम्पूर्ण दृश्यमान भूतग्राम उत्पन्न होते हैं और रात्रि के आगमन पर सब उस अव्यक्त नाम मूल प्रकृति में लय हो जाते हैं। इस तरह भूतग्राम बार-बार दिन के आगमन पर उत्पन्न होकर रात्रि के आगमन पर अवश प्रलीन हो जाते हैं। यहाँ एक बात दृष्टव्य है, जितने समय सृष्टि रहती है, उतने ही समय यह प्रलीनता रहती है। क्षर भाव वाली सृष्टि के इस प्रकार नाश होने पर भी जो सनातन अव्यक्त परमाक्षर परमात्मा है वह कभी नष्ट नहीं होता। यह जो अव्यक्त अक्षर कहा कहा जाता है वही परमगति कही गई है; यह गति पुनरावर्ती है। पर जिस परमात्मा को प्राप्त होकर फिर पुनरावर्तन नहीं होता वह परमधाम है। परमगति और परमधाम का यह अन्तर दृष्टव्य है। गीता में यह वर्णन किस सुन्दरता से आया है। देखिये —

> आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
> मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।८.१६
> सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
> रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।।८.१७
> अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
> रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।८.१८
> भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
> रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।।८.१९
> परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
> यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।८ २०
> अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
> यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।८.२१

समस्त कर्मों के कर्त्ता, प्रकृति और उससे सम्भूत गुण हैं। आत्मा अकर्त्ता है। देह में रहते हुए यह उपद्रष्टा अनुमन्ता भर्ता भोक्ता महेश्वर और परमात्मा है। निस्सन्देह सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं। सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा किये हुए है तो भी अहंकार विमूढ मनुष्य, मैं कर्त्ता हूँ, ऐसा मान लेता है। जो तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी जन हैं,

वे सम्पूर्ण गुण गुणों में ही वर्तते हैं ऐसा मानकर आसक्त नहीं होते हैं। सारे कर्म सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किये जाते हैं, जो यह देखता है तथा आत्मा को अकर्त्ता देखता है, वही देखता है। जिस काल में दृष्टा तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्त्ता नहीं देखता है, गुण ही गुणों में वर्तते हैं ऐसा मानता है और गुणों से परे परमात्मा को जानता है वह पुरुष परमात्मा के स्वरूप को ही प्राप्त होता है। परमात्मा न तो प्राणियों के कर्त्तापन को, न कर्मों को, न कर्मफल संयोग को रचता है किन्तु परमात्मा के सकाश से प्रकृति स्वभाववश प्रवर्तित होती है। गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥३.२७

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥१३.२२

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥१३.२९

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१४.१९

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥५.१४

जिस तरह दो प्रकार के पुरुष इस संसार में बताये हैं, नाशवान एव अविनाशी, वैसे ही मनुष्यों की दो प्रकार की सम्पदा बताई गई है (१) दैवी सम्पदा तथा (२) आसुरी सम्पदा। गीता में उनके लक्षणों का वर्णन सोहलवें अध्याय में विस्तार से हुआ है। देखिये—

दैवी सम्पदा —

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१६.१

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥१६.२

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥१६ ३

अभय, अन्तःकरण शुद्धि, ज्ञानयोग व्यवस्थिति. दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, (सरलता), अहिंसा, सत्य, क्रोध, त्याग, शांति, अपैशुन, (चुगली न करना), भूतदया, अलोलुत्व (अनासक्ति), मार्दव (मृदुता), ह्री (लज्जा), अचापल्य (अचंचलता), तेज, क्षम, धृति, शौच, अद्रोह, नातिमानिता (अहकाराभाव) आभिजात्य पुरुष की दैवी सम्पदा है। इनकी संख्या गिनती में २७ हैं।

आसुरी सम्पदा—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोध: पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।।१६.४

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता, अज्ञान, ये आभिजात्य पुरुष की आसुरी सम्पदा हैं । गीताकार ने इनकी संख्या ६ गिनाई है ।

दोनों का गुणप्रभाव—

इन दोनों प्रकार की सम्पदाओं में दैवी सम्पदा तो मोक्ष के लिये, तथा आसुरी सम्पदा भौतिक जगत् के साथ जीव को बांधे रखने का हेतु मानी गई है ।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।।१६.५

मनुष्य स्वभाव के दो भेद—

इन सम्पदाओं के आधार पर ही इस लोक में मनुष्य, स्वभाव की दृष्टि से दो भागों में विभक्त हैं (१) दैव तथा (२) आसुर । 'द्वौ भूत सर्गौ लोकेऽस्मिनदैव आसुर एव च' (१६।६) यहांएक बात दृष्टव्य है, गीताकार ने मनुष्य स्वभाव को दो भागों में विभक्त किया है । या तो मनुष्य देव स्वभाव वाला देवता है या आसुर स्वभाव वाला असुर । जो यह कहते मिलते हैं कि मुझे देवता न बनाओ, मनुष्य हूँ मनुष्य ही रहने दो इसका अर्थ हुआ वह असुर स्वभाव में जीना चाहता है । आवागमन के चक्र में पड़ा अपनी दुर्बलताओं को लिए संसार में जीना चाहता है । जो देवता बनना चाहता है वही भौतिकता से मुक्त होना चाहता है ।

गुण और मनुष्य स्वभाव—

मनुष्य का यह स्वभाव प्रकृति जात गुणों का ही प्रभाव है । यही गुण अव्यय परमात्मा के अंश रूप देही को इस संसार से बांधे रखते हैं । यही गुण दैवी एवं आसुरी सम्पदा के कारण होते हैं । सत्त्व गुण निर्मलता, प्रकाश तथा अनामयता के कारण सुख एवं ज्ञान से बांधता है । गीता का सुख प्रशान्तता का उत्स है और प्रशान्तता तक ले जाने वाला ज्ञान है । अत: मुक्ति तक पहुँचाने वाला साधन सत्त्वगुण है । जबकि रजोगुण, तृष्णा के साथ उत्पन्न होने के कारण रागात्मक है तथा यही इस जीवात्मा को कर्मो की ओर उनके फल की आसक्ति से बांधता है । सब प्राणियों को विमोहन जाल में फँसाये, अज्ञान से उत्पन्न तमोगुण उन्हें प्रमाद, आलस्य तथा निद्रा से बांधे रखता है । इस तरह सत्त्वगुण सुख में, रजोगुण कर्म में तथा तमोगुण ज्ञान को आवृत्त किए प्रमाद में लगाने वाला है । सत्त्व गुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होता है । गीता में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा: प्रकृतिसंभवा: ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययाम् ।।१४.५

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।।१४.६

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।।१४.७

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्व देहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।१४.८

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।।१४.९

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।१४.१७

गुणों की प्रबलता के लक्षण —

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।।१४ १०

रजोगुण एवं तमोगुण को अभिभूत कर सत्त्वगुण बढता है । रज व सत्त्व को अभिभूत कर तमोगुण तथा तम व सत्त्व को अभिभूत कर रजोगुण बढता है । अर्थात् जब सत्त्व गुण बढ़ता है तब रज के लक्षण कर्मासक्ति, तृष्णा, रागात्मकता तथा तम के लक्षण अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, निद्रा व मोह की कमी हो जाती है । इसी तरह तमोगुण के बढने पर सत्त्व के लक्षण निर्मलता, प्रकाश, अनामयता, सुख, ज्ञान तथा रज के लक्षण कर्मासक्ति, तृष्णा, रागात्मकता की कमी हो जाती है और इसी तरह रजोगुण की वृद्धि में सत्त्व के लक्षण एवं तम के लक्षणों की कमी हो जाती है । स्वाभाविक है कर्म में मन तभी लगेगा जब शरीर में प्रमाद, आलस्य, मोह तथा निद्रा का अभाव होगा । निद्रा व कर्म का साथ कैसा ? इसी तरह ज्ञान का व अज्ञान का, प्रकाश का व तम का साथ कैसा ?

गीताकार ने इसी प्रसंग की व्याख्या करते हुए आगे बहुत सुन्दर कहा है—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।१४.११

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।।१४.१२

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।१४.१३

जब इस देह में सभी नव द्वारों में ज्ञान एवं प्रकाश उत्पन्न हो तब ऐसा जानना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है । रजोगुण के बढने पर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मारम्भ, अशान्ति तथा लालसा आदि ये सब उत्पन्न होते हैं और तमोगुण के बढने पर अन्धकार, आलस्य, प्रमाद, मोह ये सब उत्पन्न होते हैं ।

मृत्युकाल में गुणों की प्रवृद्धि का प्रभाव—

गीताकार ने गुण व उनके बढ़े प्रभाव से उत्पन्न भौतिक लक्षणों तक ही

गुणों के प्रभाव को सीमित न रखते हुए मृत्युकाल में भी उनकी प्रवृद्धि के प्रभाव को बतलाया है। देखिए—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।।१४.१४
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।१४.१५
ऊर्ध्वंगच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा: ।।१४.१८

जब यह जीवात्मा सत्त्वगुण की वृद्धि में देह को त्यागता है तब वह उत्तमविदों के शुचिलोकों को प्राप्त होता है। रजोगुण की वृद्धि में जब देह त्यागता है तब कर्म की आसक्ति वालों में उत्पन्न होता है तथा तमोगुण की वृद्धि में देह त्यागने पर वह मूढ योनियों में जन्म लेता है। इस तरह सत्त्वगुणी उच्च लोकों को, रजोगुणी मनुष्यलोक को तथा जघन्य गुण वृत्ति वाले तामसी नीच एवं कीटादिक क्षुद्र योनियों को प्राप्त होते हैं।

सारांश में गीताकार ने फलश्रुति रूप में यही कहकर गुण प्रभाव को अभिव्यक्त किया है कि सुकृतियों के कर्मो का फल सात्त्विक व निर्मल राजस कर्मियों का फल दुःख तथा तामस कर्मियों का फल अज्ञान है।

कर्मण: सुकृतस्याहु: सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दु:खमज्ञानं तमस: फलम् ।।१४.१६

इस मनुष्य लोक में इन्हीं गुणों से प्रवृद्ध विषय प्रवाल की शाखाएँ मनुष्यों को कर्म बंधन में बांधती हुई नीचे ऊपर, यहाँ तक कि नीचे मूल तक को स्पर्श करती हुई निर्बाध फैली हुई है। गीता में कहा है—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषय प्रवाला:।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।।१५.२

और आसुर स्वभाव वाले व्यक्ति रजोगुण एवं तमोगुण के आश्रित हुए बार-बार मनुष्यलोक में और इससे भी नीचे लोकों में विविध क्षुद्र योनियों में जन्म लेते रहते हैं।

गीताकार ने भगवान् के श्रीमुख से अर्जुन को ऐसे आसुरों के हीनतम आचरणों का विस्तार से वर्णन करवाया है। देखिए—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा:।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।।१६.७
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।।१६.८
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धय:।
प्रभवन्त्युग्रकर्माण: क्षयाय जगतोऽहिता: ।।१६.९

कामामाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।।१६.१०

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।।१६.११

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ।।१६.१२

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।।१६.१३

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।।१६.१४

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिता ।।१६.१५

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।१६.१६

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।।१६.१७

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।।१६.१८

आसुर स्वभाव वाले जन प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों की शास्त्रोक्त विधि अथवा दोनों के भेद को नहीं जानते हैं। उनके आचरण में पवित्रता तथा सत्यता भी नहीं रहती। वे इस जगत् को असत्य, अप्रतिष्ठ, अनीश्वर तथा अपने आप स्त्री-पुरुष संयोग से उत्पन्न मानते हैं और कहते हैं कि भोगों को भोगने के सिवाय और क्या है? ऐसे मिथ्या ज्ञान का अवलम्बन किए ये नष्टात्मा अल्प बुद्धि, अहितकारी, उग्रकर्मा केवल जगत् के नाश के लिए ही उत्पन्न होते हैं। कभी न सन्तुष्ट होने वाले काम का आश्रय लिए दम्भ, मान, और मद से भरे असत् सिद्धान्तों को मोहवश ग्रहण किए, अपवित्र आचरण वाले ये इस संसार चक्र में घूमते रहते हैं। मृत्यु तक चलने वाली चिन्ताओं का आश्रय किए, केवल कामोपभोग ही परम आनन्द है, ऐसा निश्चित मानने वाले हैं। आशारूपी सैकड़ों पाशों से बँधे, काम-क्रोध मे परायण, विषय भोगों की पूर्ति के निमित्त अन्याय से भी अर्थ संचय की चेष्टा करते रहते हैं। यह आज मेरे द्वारा प्राप्त कर लिया गया, अब इस मनोरथ को पाऊँगा। अभी मेरे पास इतना है फिर मेरे पास इतना धन हो जाएगा। वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है, दूसरे शत्रुओं को भी मारूँगा। मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही भोगी, मैं ही सिद्ध, बलवान् व सुखी हूँ। मैं बड़े धन वाला, बड़े कुटुम्ब वाला हूँ, मेरे सदृश दूसरा कौन है? यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, आनन्द को प्राप्त होऊँगा। इस प्रकार अज्ञान से विमोहित हुआ बकता रहता है। अनेक विषयों में चित्त को विभ्रांत किए, मोहजाल

यज्ञ —

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।।१७.११
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।।१७.१२
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।१७.१३

हे भरत श्रेष्ठ ! जो यज्ञ शास्त्र विधि से नियत किया हुआ है तथा जिसे करना ही कर्त्तव्य है, इस प्रकार मन को समाधान करके, फल को न चाहने वाले पुरुषों द्वारा किया जाता है वह यज्ञ तो सात्त्विक है । जो यज्ञ केवल दम्भ प्रदर्शन के निमित्त फल को उद्देश्य कर किया जाता है उसे तू राजस जान, तथा जो यज्ञ बिना शास्त्र विधि के, बिना अन्न, बिना मंत्र, बिना दक्षिणा तथा बिना श्रद्धा से किया जाता है उसे तामस यज्ञ कहते हैं ।

तप —

तप के गुणात्मक भेदों के वर्णन से पूर्व तप की गीता में शरीर, वाङ्मय एवं मन के तीन भेदों सहित विस्तृत व्याख्या की गई है । देखिए—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।१७.१४
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।१७.१५
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।।१७.१६

देव-द्विज-गुरु-ज्ञानी, जन पूजन, शौच, आर्जव (सरलता), ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा की साधना शारीरिक तप, अनुद्वेगकारी, सत्य, प्रिय एवं हितकारी वाक्य बोलना, स्वाध्याय का अभ्यास करना, वाङ्मयतप तथा मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मनिग्रह, तथा भाव संशुद्धि की साधना मानस तप कहलाता है ।

गुणात्मक भेद —

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।।१७ १७
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।।१७.१८
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।।१७.१९

शरीर, वाणी एवं मन से उपर्युक्त तीनों प्रकारों से परम श्रद्धा के साथ

फल को नहीं चाहने वाले निष्काम योगियों द्वारा किए हुए तप को सात्विक कहते हैं। जो तप सत्कार, मान और पूजा पाने के लिए दम्भपूर्वक किया है वह चल एवं अध्रुव फल वाला तप राजस कहलाता है। और जो तप मूढतापूर्वक हठ से, अपने को पीड़ा देकर, अथवा दूसरे के अनिष्ट के लिए किया जाता है वह तप तामस कहा गया है।

दान—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ।।१७.२०
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।।१७.२१
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।१७.२२

दान देना कर्त्तव्य है, ऐसे शुद्ध भाव से जो दान देशभक्त व पात्र का विचार कर बिना प्रत्युपकार की आकांक्षा किए दिया जाता है वह दान सात्विक कहा गया है। जो दान क्लेशपूर्वक जी दुखाकर प्रत्युपकार की कामना से फल को उद्देश्य मे रखकर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है और जो विना देश काल का विचार किए अपात्र को बिना सत्कार व अवज्ञा के साथ दिया जाता है वह तामस कहा गया है। यज्ञ, दान व तप सात्विक है तथा परमात्मा के निमित्त किए कर्म भी सात्विक है पर बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान तथा तपा हुआ तप कर्म सब असत् होता है इसलिए ये सात्विक कर्म भी श्रद्धा के अभाव में न तो इस लोक मे न परलोक में; कही भी लाभदायक नही है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।१७.२७
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।।१७.२८

त्याग —

तप की ही तरह गीताकार ने पहले त्याग की व्याख्या एवं उस संबंध में चारों मान्यताएँ कही हैं।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।१८.२
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।१८.३

कविगण काम्य कर्मो के न्यास को संन्यास, विचक्षण सर्वकर्म फल त्याग को त्याग, मनीषी दोषवत होने से सभी कर्मों के त्याग को त्याग तथा अन्य विद्वान् यज्ञ, दान व तप कर्म को अत्याज्य, ऐसा कहते हैं।

गुणों के आधार पर तीन भेद—त्याग के सम्बन्ध में जो विविध विचार ऊपर आए हैं, गीताकार भगवान् वासुदेव के श्री मुख से अर्जुन को उस सम्बन्ध में निश्चयात्मक बात कहलाते हुए कहते है कि हे पुरुष व्याघ्र भरतसत्तम, तू त्याग के विषय में मेरे निश्चय को सुन। त्याग सात्त्विक, राजस और तामस ऐसे तीन प्रकार का ही कहा गया है। देखिए—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम:।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविध: संप्रकीर्तित: ॥१८.४
यज्ञदानतप:कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥१८.५
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥१८.६
नियतस्य तु संन्यास: कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामस: परिकीर्तित: ॥१८.७
दु:खमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥१८.८
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्याग: सात्त्विको मत: ॥१८.९

हे अर्जुन! यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं है। इन्हें करना तो कर्त्तव्य है। क्योंकि यज्ञ, दान व तप ये तीनों बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं। इसी तरह नियत कर्मो का त्याग करना भी उचित नहीं है। मोहवश जो नियत कर्मो को त्यागता है उसका यह त्याग तामस कहा जाता है। सारे कर्म दु:ख रूप हैं ऐसा समझ कर काया क्लेश के भय से कर्मो को त्याग देता है उसका राजस त्याग करता हुआ भी त्याग का फल प्राप्त नहीं करता है। नियत कर्म करना कर्त्तव्य है, ऐसा समझ कर जो आसक्ति एवं फल की कामना को त्याग कर कर्म करता है उसका वह त्याग सात्त्विक माना गया है।

उपर्युक्त विवरण में गीताकार ने मनीषियों के इस कथन का कि दोषवत् होने से सभी कर्म त्यागने योग्य हैं; विरोध किया है। गीताकार ने मोहवश या दु:खरूप समझकर कायाक्लेश के भय से कर्मो को त्यागने वालों को सही नहीं माना है। गीताकार ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि शास्त्र विधि से जो कर्म जीवन की आवश्यकता के लिए आवश्यक हैं उन्हें बिना प्रलोभन, आकांक्षा एवं आसक्ति के करना चाहिए। यज्ञ, दान एवं तप कर्म मनुष्यों को पवित्र करने वाले हैं अत: उन्हें भी सात्त्विक प्रकार से अवश्य करना चाहिए। ये त्याज्य नही है।

त्यागी के लक्षण—

गीताकार ने त्याग के इस विषय को अधिक विस्तार दिया है। त्यागी के लक्षण बताते हुए वे कहते हैं—

न द्वेष्टयकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।।१८.१०
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।१८.११

जो न तो कुलश कर्म से द्वेषता करता है, न कुशल कर्म में आसक्त होता है, सदा सत्त्व गुण से युक्त, सयमरहित तथा मेधावी है, वही त्यागी है। देहधारियों के लिए अशेषतः सभी कर्मों का त्याग सम्भव नहीं है। अतः जो कर्म फल त्यागी है वही त्यागी कहा जाता है।

कर्मफल—

जो त्यागी कर्मफल त्यागी नही है उसे उसके किए कर्मों का फल मृत्यु उपरांत भी भोगना पड़ता है। उसके कर्मों का फल विविध होता है। अनिष्ट-कारी, इष्टकारी तथा मिश्र। लेकिन जो सात्त्विक त्यागी है उसके कर्म का फल किसी काल में भी उसके लिए कभी वन्धनकारी नहीं होता। अतः त्यागपूर्वक कर्म करना चाहिए—गीता में कहा भी है—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।।१८.१२

ज्ञान—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।१८.२०
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।।१८.२१
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामससमुदाहृतम् ।।१८.२२

जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक् पृथक् सव भूनों मे एक अविनाशी परमात्म भाव को अविभक्त अर्थात् अद्वैत भाव से स्थित देखता है उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान। जो ज्ञान पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण भूतों में द्वैत भाव से अलग-अलग आत्म-भाव को स्थित जानता है उम ज्ञान को तू राजस जान तथा जो ज्ञान इस एक शरीर को ही सम्पूर्णवत् मान आसक्त है तथा जो अहेतुक, तत्त्व अर्थ से रहित तुच्छ है वह ज्ञान तामस कहा गया है।

कर्म—

मनुष्य मन, वाणी एवं शरीर से शास्त्रानुसार अथवा विपरीत भी जो कुछ भी कर्म आरम्भ करता है, उन सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिए सांख्य सिद्धान्त में ये पांच ही हेतु कहे गए हैं। ये हैं—अधिष्ठान, कर्त्ता, अलग-अलग करण, अलग-अलग चेष्टाएं तथा पंचम दैव। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ये तीनों तो कर्म प्रेरक हैं। कर्त्ता, करण, क्रिया ये तीनों कर्म के संग्रह हैं अर्थात् हर तीनों के संयोग से कर्म वनता है। गीता में कहा भी है—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।१८.१३
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।१८.१४
शरीर वाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ।।१८.१५
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।।१८.१८

गुण भेद से त्रिविध कर्म—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।१८.२३
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।१८.२४
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।१८.२५

जो कर्म शास्त्र विधि से नियत किया हुआ है तथा जो आसक्तिरहित, फलाकांक्षारहित, बिना रागद्वेष से, रागद्वेष से किया गया है वह कर्म सात्त्विक कहा जाता है। जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फलाकांक्षी द्वारा अहंकार सहित किया जाता है वह कर्म राजस कहा गया है तथा जो कर्म अनुबन्ध, हानि, हिंसा व सामर्थ्य को बिना देखे केवल मोहवश आरम्भ किया जाता है वह कर्म तामस कहा जाता है।

कर्त्ता—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।१८.२६
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।१८.२७
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।१८.२८

जो आसक्ति से रहित, अहंकारयुक्त वचन नही बोलने वाला, धैर्य एवं उत्साह से समन्वित तथा सिद्धि-असिद्धि मे सर्वथा निर्विकार रहने वाला है ऐसा कर्त्ता सात्त्विक कहा जाता है। जो रागी, कर्मफल आकांक्षा, लोभी, हिंसक स्वभाव, अशुद्धाचारी, हर्ष-शोकयुक्त है वह राजस कर्त्ता कहा गया है तथा जो अयुक्त, प्राकृत, घमण्डी, धूर्त, आजीविकारहित, विषादी, आलसी और दीर्घसूत्री है ऐसा कर्त्ता तामस कहा जाता है।

बुद्धि—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।१८.३०
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।१८ ३१
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृतां ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।।१८.३२

हे पार्थ ! जो बुद्धि, प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बन्धन-मोक्ष को तत्त्व से जानती है वह बुद्धि सात्त्विकी है। हे पार्थ ! जो बुद्धि, धर्म और अधर्म को, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को यथार्थतः नहीं जानती है वह बुद्धि राजसी है तथा जो तमोगुण से आवृत हुई बुद्धि अधर्म को धर्म तथा समस्त सारयुक्त बातों को विपरीत, ऐसा मानती है वह बुद्धि तामसी है।

धृति—

धृत्या यय धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।१८.३३
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।।१८.३४
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।।१८.३५

हे पार्थ ! ध्यानयोग के द्वारा जिस अव्यभिचारिणी धारणा से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है वह धारणा तो सात्त्विकी है। पार्थ अर्जुन, फलाकांक्षी पूर्ण आसक्ति से जिस धारणा से धर्म, अर्थ और काम की धारणा करता है वह धारणा राजसी है तथा हे पार्थ ! दुर्बुद्धि मनुष्य जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और मन को नहीं छोड़ता है वह धारणा तामसी है।

सुख—

जिस सुख में साधक भजन, ध्यान और सेवादि के अभ्यास से रमण करता है और दुःखों के अन्त को प्राप्त होता है उस सुख के तीन भेद हैं, वह भी हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन ! मेरे से सुन –

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।।१८.३७
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।।१८.३८
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।।१८.३९

जो प्रथम दृष्ट्या विष तुल्य; किन्तु परिणामतः अमृत तुल्य हो ऐसा आत्म-बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न सुख सात्त्विक कहा गया है; जो प्रथम दृष्टया अमृत तुल्य किन्तु परिणामतः विष के सदृश है ऐसा विषय एवं इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न सुख राजस कहा गया है तथा जो प्रथम दृष्ट्या तथा परिणामतः आत्मा को विमोहित करने वाला है वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है।

गुणों का प्रभाव उपरोक्त को ही विभाजित नहीं करता है, स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के स्वभावज कर्मों को भी विभक्त कर दिया है।

ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥१८.४२

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥१८.४३

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥१८.४४

शम, दम, शौच, तप, क्षमा, सरलता, आस्तिकता, ज्ञान तथा विज्ञान अनुभव तो ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म है। शौर्य, तेज, धैर्य, चातुर्य, युद्ध में स्थिरता, दान, ईश्वर भाव ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि, गौ-पालन, वाणिज्य वैश्य के तथा परिचर्यात्मक कर्म शूद्र के स्वाभाविक कर्म हैं।

गीताकार ने सांसारिकों की प्रवृत्तियों पर प्रवृत्तिजात गुणों के प्रभाव क जितना विशद वर्णन किया है उतना अन्यत्र अनुपलब्ध है।

प्रकृति के गुणों से उत्पन्न ये सात्त्विक, राजस एवं तामस भाव हैं इनसे यहा सारा संसार मोहित हो रहा है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ॥७.१३

गुणों की यह अलौकिक माया बड़ी दुस्तर है। 'दैवी ह्येषा गुणमयी मममाया दुरत्यया' (७.१४)। जो राजस एवं तामस भावों वाले हैं उनके ज्ञान को गुणों की इस माया ने अपहृत कर रखा है तथा इसी कारण मनुष्य आसुर भावों का आश्रय लिए रहता है। 'माययापहृत ज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः' (७.१५)। यह माया इतनी बलवती है कि एक भी इन्द्रिय के साथ रमता हुआ मन मनुष्य की प्रज्ञा तक को, जैसे वायु जल में तैरती हुई नौका का हरण कर ले जाता है वैसे ही हर लेता है तथा संसार में उलझा देता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥२.६७

गुणों की इस माया से मनुष्य शरीर का मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा

इन्द्रियां आवृत्त हैं। इन्द्रियां तो स्वभाव से ही बलवान् व प्रमाथी कही हैं—ये बलात् मन को हर लेती हैं। ज्यों ही मनुष्य इन्द्रियों के विषयों का ध्यान करता है उनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी आसक्ति में से ही काम की उत्पत्ति होती है फिर काम से प्रतिस्पर्धी के प्रति क्रोध उत्पन्न होता हैं। क्रोध से सम्मोह अर्थात् अधिक आसक्ति फिर सम्मोह से स्मृति भ्रंश से बुद्धि नाश तथा बुद्धि नाश से मनुष्य श्रेय पथ से गिर जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।२.६०

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामाक्रोधोऽभिजायते ।।२.६२

क्रोधाद्भवति संमोहः समोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।२.६३

यह काम ही क्रोध है, यह रजोगुण से उत्पन्न है। इस महाभक्षी तथा महापापी को तू मनुष्य मात्र का वैरी मान। जैसे धुएँ से अग्नि और मल से दर्पण ढँक जाता है, जैसे जेर से गर्भ ढँका रहता हैं वैसे ही उस काम के द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है। हे अर्जुन! दुष्पूर अग्नि की भांति ज्ञानियों के इस नित्य वैरी काम से ज्ञान ढँका हुआ है। इन्द्रियां, मन और बुद्धि इस काम के वास स्थान हैं यह काम मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता रहता है। इसलिए हे भरतर्जुन! पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान एवं विज्ञान के नाश करने वाले इस पापी काम को निश्चयपूर्वक मार। गीता ने इस तथ्य को इस प्रकार कहा है। देखिए—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।३.३७

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।३.३८

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।३.४९

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।३.४०

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।३.४१

इन्द्रियों तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले के जितने भी योग हैं यद्यपि ये विषयी पुरुषों को सुख रूप भासते हैं तथापि ये असंदिग्ध रूप से दुःख के ही हेतु हैं। गीता में कहा भी है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।।५.२२

मन बडा चंचल, प्रमाथि, बलवान् तथा दृढ है। वायु के निरोध की भांति इसका विग्रह बडा कठिन है। बिना योगाभ्यास तथा वैराग्य के यह वश मे नही होता। गीता मे वडी स्पष्टता से आया भी है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।६.३४
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।६.३५

काम से जिनका ज्ञान अपहृत हो जाता है वे परमात्मा को भूलकर अन्य देवी-देवताओ के चक्कर मे पडे अपने स्वभाव से प्रेरे हुए उन उनके नियमों को धारण कर उस अनुसार उनकी पूजा अर्चा करते रहते है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।।७.२०

देवताओ को पूजने वाले देवताओ को प्राप्त होते है। पितरो को पूजने वाले पितरो को प्राप्त होते है। भूतो को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते है और जो परमात्मा को पूजते है वे ही परमात्मा को प्राप्त होते है।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।९.२५

अर्थात् देवी-देवताओ की, पितरो की तथा भूतो की पूजा करने वाले कभी मुक्ति सुख को प्राप्त नही करते है तथा आवागमन के चक्कर मे पड़े रहते है। मनुष्य के जो बुद्धि ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख दुःख, उत्पत्ति, प्रलय, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, कीर्ति, अपकीर्ति, आदि जो क्षेत्र के भाव है वे इन्ही गुणो से प्रभावित हुए त्रिविध हो जाते है जिनका हम विस्तार से वर्णन ऊपर कर आये है। जो तामस एव राजस गुण वाले है, वे वद्धपुरुप है और वे विना योग साधना के कभी इस संसार सागर से पार नही जा पाते हैं। पार जाने की लालसा भी सात्विक गुण वालो मे उत्पन्न होती है। इसलिये मनुष्य को जो ज्ञान है और अज्ञान है उसे समझना चाहिये। ज्ञान व अज्ञान को गीता में इस प्रकार व्याख्यायित किया गया है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।१३.७
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।.१३.८
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।१३.९
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।१३ १०

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।१३.११

हे अर्जुन ! श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, अहिंसा, क्षमा, मन वाणी की सरलता, आचार्य सेवा, बाहर भीतर की शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता, मन और इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह, इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव, अहंकार का अभाव, जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुःख एवं दोषों का बार-बार स्मरण, पुत्र स्त्री घर और धनादि में अनासक्ति, अममत्व, प्रिय अप्रिय की प्राप्ति में सदा समभाव से स्थित रहना, परमात्मा में अनन्य भाव से अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त एवं शुद्ध देश में रहने का स्वभाव, विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय मे अरति, अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति, तत्त्व ज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को सर्वत्र देखना; यह सब तो ज्ञान है और जो इससे विपरीत आचरण है वह अज्ञान है, ऐसे कहा गया है। जो अज्ञान में भ्रमे हैं वे बद्धपुरुष हैं, अयुक्त हैं तथा जिन्होंने ज्ञानाश्रय लेकर योग की चरम सिद्धि को अर्जित कर लिया है वे मुक्त पुरुष हैं। यही युक्त हैं।

मुक्त पुरुष

गीता में लौकिक भव बन्धन में आबद्ध जन को मुक्त विदेह होकर जीने तथा अनवरत लोक हित एव लोक संग्रह में रत रहते हुए कर्म बन्धन में नहीं बांधने वाले यज्ञार्थ कर्म करते रहने का सदुपदेश मिलता है। गीता में बुद्धि योगान्तर्गत ज्ञान, कर्म, ध्यान, भक्ति, गुण आदि के संदर्भ में मुक्त पुरुष होने के लिए मार्ग-दर्शन, मुक्त पुरुष की पात्रता, मुक्त पुरुष के लक्षण तथा मुक्त पुरुष की उपलब्धियों का हमें विस्तार से वर्णन मिलता है। वास्तव में गीता का अन्तर्हित लक्ष्य कर्म जगत् में प्रत्येक मनुष्य को जीवन्मुक्त विदेह पुरुष बनाना है। गीता लौकिक जीवन तक ही अपनी दृष्टि का व्यास नहीं विस्तृत किये है; गीता का अन्तर्हित दूसरा लक्ष्य, जो पहले का ही अखण्ड विस्तार है, वह है, मनुष्य को भौतिक जगत् के आवागमन से मुक्त कराना। इस नाते गीता, कैसे मृत्यु अंगीकार करनी चाहिए, इस पर भी विस्तार से निर्देश देती दिखाई देती है। हम इस वर्णन को एक पृथक् अध्याय में देना चाहेंगे। यहां मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में ही गीता के कथनों को उद्धृत करेंगे।

समत्व बुद्धि योग—

मोक्ष के लिए कौन पात्र हो सकता है, इस संबंध में सबसे पहला निर्देश हमें गीता दूसरे अध्याय के चौदहवें व पन्द्रहवें श्लोक में सर्वप्रथम देती है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।२.१४

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।२.१५

हे कुन्ती पुत्र ! शब्द स्पर्श रसरूप गन्ध आदि जो पञ्चतन्मात्राएँ हैं; इनसे शीत उष्ण, सुख दुःख आदि द्वन्द्वों का देने वाला इन्द्रियों का संयोग तो क्षण भंगर तथा अनित्य है अतः हे भारत ! तू उनको सहन कर, क्योंकि हे पुरुष-श्रेष्ठ, सुख-दुःख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रियों के संयोग व्याकुल नहीं करते हैं वह मोक्ष के लिए योग्य होता है ।

इससे दो बातें स्पष्ट हुई । (१) विषयों का संयोग द्वन्द्वात्मक, क्षणभंगुर तथा अनित्य है । तथा (२) मनुष्य को इन्हें समभाव से सहन करते हुए व्याकुल नहीं होना चाहिए । इसमें पहली बात ज्ञान के अन्तर्गत आती है और दूसरी क्रियान्तर्गत । ज्ञान व क्रिया का यह संयोग ही गीता की विशेषता है । गीता की यह भी एक और विशेषता है कि वह क्रिया की प्रेरणा के निरन्तर बने रहने हेतु फल श्रुति भी साथ में ही बताती चलती है जिससे ज्ञान और क्रिया दोनों को बल मिलता है । गीता आगे कहती है ऐसा सुख दुःख, लाभ-हानि, जय पराजय को समभाव से देखने वाला व्यक्ति यदि युद्ध जैसा हिंसात्मक कर्म भी करता है तो उसे पाप नहीं लगता । देखिये—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।२.३८

भगवान् श्रीकृष्ण मोहग्रस्त अर्जुन से कहते हैं यदि तुझे स्वर्ग तथा राज्य की इच्छा न हो तो भी सुख दुःख, लाभ हानि और जय पराजय को समान समझ फिर युद्ध के लिए तैयार हो जा । इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को प्राप्त नहीं होगा ।

भगवान् ने क्या उपदेश दिया, समत्व भाव अंगीकार करने का । इस तरह समत्व योग की प्राप्ति मुक्त पुरुष होने की प्रथम अनिवार्यता हुई । दूसरी अनिवार्यता बताते हुए भगवान् कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।२.४५

हे अर्जुन ! वेद तो तीनों गुणों के विषयों को बताने वाले हैं । तू निस्त्रैगुण्य अर्थात् गुणातीत बन और निर्द्वन्द्व, नित्य वस्तु स्थित तथा योग क्षेम नहीं चाहने वाला आत्म परायण हो जा । हम ऊपर कह आए है, जितने विषयों के संयोग हैं वे परिणाम में द्वन्द्वात्मक, क्षण-भंगुर तथा अनित्य है । विषयों से मनुष्य को जोड़ने वाली प्रकृति सम्भूत त्रिगुणात्मक माया है । जब तक गुण है तब तक आसक्ति है और तभी तक द्वन्द्वात्मक सुख-दुःख हैं । भगवान् अर्जुन को क्या उपदेश देते हैं, यदि समत्व अर्जित करना है, मोक्ष की पात्रता अर्जित करनी है तो निस्त्रैगुण्य, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योग क्षेम तथा आत्मवान बन । इन पांचों बातों के अतिरिक्त छठी बात और कही है, 'त्रैगुण्य विषया वेदा ।' वेदों में जिस कर्म काण्ड

की विवेचना है वह तीनों गुणों से युक्त है। इन पांचों का इस छठी बात से कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता। जो आत्म परायण तथा नित्य सत्त्वस्थ है, जो निस्त्रैगुण्य, निर्द्वन्द्व तथा निर्योगक्षेम है उसे बाह्याचारों से जो भव बन्धन में बांधने वाले हैं, उनसे क्या लेना देना। जैसे सब ओर से परिपूर्ण बड़े जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे पोखर के पानी का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, उसी प्रकार का आत्म-परायण ब्राह्मण का सारे वेदों में प्रयोजन शेष रह जाता है। अर्थ हुआ आत्मज्ञानी के लिए वेदों में वर्णित कर्मकाण्ड का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥२.४६

(सर्वतः संप्लुत उदय की प्राप्ति पर जितना उद्पान में प्रयोजन रह जाता है, उतना ही ब्रह्म ज्ञाता ब्राह्मण का सारे वेदों में।)

कर्म काण्ड तो आत्म ज्ञानी बनने के निमित्त सात्त्विकभाव वाला बनाने भर तक का सहयोगी है। वह आत्म ज्ञानी नहीं बना सकता। कर्म काण्ड भौतिक सुखों की वृद्धि का सहायक हो सकता है; अच्छे लोकों की मृत्यूपरान्त प्राप्ति भी करा सकता है पर मुक्ति नहीं दिला सकता। वेदों में कर्मकाण्ड का जो वर्णन है वह भौतिक एव पारलौकिक सुख दिलाने वाला हो सकता है; आत्मा को आवागमन के चक्र से मुक्ति दिलाने वाला नहीं है। उसके लिए गीताकार एक ही सिद्धि मार्ग बताता है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥२.४८

हे धनञ्जय अर्जुन! आसक्ति भाव को त्याग, सिद्धि असिद्धि में समभावी होकर, योग में स्थित हुआ तू कर्मो को कर। यह समत्वभाव ही योग नाम से कहा जाता है।

गीताकार धीरे-धीरे हमें कहाँ ले आए। 'योगस्थ कुरु कर्माणि'। योगस्थ होकर कर्म कर जैसे लगा कि ऊपर की वर्णित अनिवार्यताएँ मानो योग के लक्षण भर हैं। क्योंकि जिस समत्व से बात गीताकार ने प्रारम्भ की थी वह 'समत्वं योग उच्यते' में आकर समाप्त हो गई। समत्व ही योग के नाम से जाना जाता है। यह योग भी कैसा बुद्धियोग और कोई नहीं। मानों अन्य सब वर्णित साधन इस बुद्धि योग के ही अंग उपांग हैं। इस बुद्धि योग के आगे दूसरे कर्म तुच्छ हैं, कृपण है तथा फल के हेतु वाले हैं। अतः हे अर्जुन! तू बुद्धि योग की शरण ग्रहण कर।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥२ ४९

बुद्धि योग से सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ हैं, इसलिए हे धनञ्जय! समत्व बुद्धि योग का आश्रय ग्रहण कर, क्योंकि फल की वासना वाले (कर्म) अत्यन्त दीन (हीन) हैं।

जैसा मैंने ऊपर कहा, गीताकार अपने विषय को और अधिक पुष्ट करने व उस ओर साधक की जिज्ञासा उत्प्रेरित करने हेतु तत्काल फल श्रुति का आश्रय लेते हैं, वैसे ही बुद्धियोग की एक बात पूरी हुई कि तत्काल उसकी फल श्रुति कहना वे नहीं भूलते। देखिए—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥२.५०
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥२.५१

समत्व बुद्धि युक्त पुरुष पाप एवं पुण्य को इस लोक में ही त्याग देता है। अतः समत्वबुद्धि योग की चेष्टा कर। समत्व बुद्धि रूपी योग ही कर्मों में कुशलता है। समत्वबुद्धि योग से युक्त मनीषी कर्मों से उत्पन्न होने वाले बधनकारी फल को इस संसार में ही त्यागकर, जन्मरूप बन्धन से विनिर्मुक्त होकर अनावर्ती अनामय पद को प्राप्त होते हैं।

इससे और भी अधिक ज्ञातव्यों पर प्रकाश पड़ा है। प्रथम, समत्व बुद्धियोगी कर्म करते हुए भी उन कर्मों के संस्कार फल को अन्तःकरण में अंगीकार नहीं करता। दूसरे जब कर्म संस्कार शेष नहीं रहे तो फिर कर्त्ता का पुनर्जन्म कैसा? तथा अन्तिम तृतीय समत्व बुद्धियोग इस असार भौतिक संसार में सारे नित्य नैमित्तिक कर्मों को करने की एक ऐसी कौशल्यपूर्ण विधा है जो मनुष्य को जन्म बधन से सर्वथा मुक्त कर देती है। दूसरे अर्थों में कहें तो समत्व बुद्धियोग ही ससार में जीवन को जीने की एकमात्र कला है। कौन नहीं इस सरलता पर विमुग्ध हुए बिना रहेगा। यह जीवन को जीने की कला ही गीता ज्ञान की अपनी विशिष्टता है जो अन्य धर्मग्रन्थों से उसे पृथक् कर देती है।

इस ज्ञान को सुनकर अर्जुन का इस ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है अतः वह समत्वबुद्धि योगी के लक्षण तथा उसके आचार विचार के सम्बन्ध में तत्काल भगवान् से प्रश्न करता है—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥२.५४

यहाँ स्थितप्रज्ञ, समाधिस्थ, स्थितधी और इससे पहले मनीषी और बाद में आने वाला मुनि शब्द गीताकार ने समत्व बुद्धि योगी के लिये ही प्रयुक्त किया है। ये वास्तव में समत्व बुद्धियोग की उपलब्धियों के परिचायक हैं। अर्जुन भगवान् से पूछता है—समाधि में स्थित स्थिर बुद्धिपुरुष के क्या लक्षण हैं? स्थिर बुद्धि पुरुप कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है? अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् बहुत विस्तार से उत्तर देते हैं। यही मुक्त पुरुप के लक्षण हैं। देखिये—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥२.५५

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
बीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।२.५६

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।२.५७

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।२.५८

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।२.६१

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।२.६८

हे अर्जुन ! जब मनुष्य समस्त मनोगत कामनाओं को त्याग देता है और अपनी आत्मा में स्थित हुआ ही सन्तुष्ट रहता है तब स्थित प्रज्ञ कहा जाता है। दुःख में अनुद्विग्न मन, सुख में विगत स्पृह, तथा राग, भय, क्रोध से रहित मनुष्य ही स्थित धी मुनि कहलाता है। जो सर्वत्र शुभ एवं अशुभ की प्राप्ति पर अनभिस्नेह हुआ न उनका अभिनन्दन करता है और न उनसे द्वेष, उसकी प्रज्ञा स्थित हुई कही जाती है। जब मनुष्य कछुए के अंगों की भांति अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से सर्वशः समेट लेता है, उन सभी इन्द्रियों को संयमित कर पूर्णतया अपने वश में कर लेता है तथा परमात्मा में समाहित चित्त हुआ, परमात्मा में ही परायण हो स्थित होता है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हुई कही जाती है। जिस पुरुष की इन्द्रियां वश में होती हैं उसकी ही बुद्धि स्थिर होती है। अतः हे अर्जुन ! इन इन्द्रियो को सर्वशः उनके विषयों से समेट लो।

उपर्युक्त लक्षणों को हम इस प्रकार अंकीकृत कर सकते हैं। (१) समस्त मनोगत कामनाओं का त्याग (२) परमात्मा में परायण होकर आत्मस्थित रहने में ही सन्तुष्टि (३) कछुवे के अंगों की तरह इन्द्रियों को उनके विषयों से सर्वथा समेट, उन्हें संयमित एवं आत्मवशी करके रहना (४) दुःखों में अनुद्विग्न, सुख में गत स्पृहा, तथा शुभ-अशुभ के प्रति अनभिस्नेह हो, न अभिनन्दन न द्वेष। तथा (५) राग, भय एवं क्रोध से रहित होकर रहना। इन पांचों को हम स्थितप्रज्ञ समत्वबुद्धि योगी के लक्षण कह सकते हैं।

समत्वबुद्धि योग की स्थिति को ही गीताकार ने ब्राह्मीस्थिति कहा है। जो पुरुष समस्त कामनाओं को छोड़ निस्पृह, ममता रहित, व निरहंकारी होकर इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित हो इस संसार में विचरता है वह यहाँ विषयों एवं कर्मो मे विमोहित नहीं हो शान्ति को प्राप्त होता है तथा अन्तकाल में भी इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित हुआ ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है। देखिए—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।२.७१

एषा ब्राह्मी स्थिति: पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।२.७२

लोक व परलोक की स्थायी शांति के लिए जीने की एक मात्र कला ब्राह्मी स्थिति में स्थित हो रहना है; यही गीता का सन्देश है। यही गीता का समत्व बुद्धि योग और यही व्यक्ति की स्थितप्रज्ञ अवस्था है। यही मुक्त पुरुष है।

नियत कर्म करने की आवश्यकता व उसका प्रकार—

उपर्युक्त विवेचन से मनुष्य के अकर्मी होकर संसार में रहने का सन्देह पाठक के मन में जागना स्वाभाविक है। उससे गीता के महान् सन्देश के प्रति भी अकर्मण्यता के निर्देश की शंका जगेगी ही। इसीलिए गीताकार अगले तीसरे अध्याय में ही इन सन्देहों व शंकाओं का निराकरण करते हुए कहते हैं—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियै: कर्मयोगमसक्त: स विशिष्यते ।।३.७
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण: ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण: ।।३.८
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन: ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्ग: समाचर ।।३.९
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह य: ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।३.१६
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय: ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।।३.२०
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन: ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।३.२१
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्त:समाचरन् ।।३.२६

हे अर्जुन ! जो मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्तभाव से कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है। इसलिए तू शास्त्र विधि से नियत किए हुए स्वधर्म रूप कर्म को कर क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। वैसे अकर्मण्य होने पर तेरी शरीर यात्रा भी पूरी नहीं होगी। यज्ञ के अर्थ अर्थात् विष्णु रूप परमात्मा के निमित्त किए कर्म के सिवाय अन्यत्र संसार में यह कर्म बन्धन है। अत: हे कौन्तेय ! आसक्ति रहित होकर उस परमेश्वर के निमित्त कर्म का समाचरण कर। हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोक में इस तरह प्रवर्तित सृष्टि चक्र के अनुसार अनुवर्तन नहीं करता है, शास्त्रानुसार नियत कर्मों को नहीं करता है, वह इन्द्रियाराम अघायु व्यर्थ ही जीता है। जनकादि ज्ञानी जन भी कर्म योगानुसार कर्म करते हुए ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त लोक संग्रह को देखता हुआ भी तू कर्म करने योग है क्योंकि श्रेष्ठ जन जो जो भी

आचरण करते हैं, वैसा ही इतर जन भी अनुसरण करते हैं। अतः वह श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है संसार भी उसी अनुसार व्यवहार करता है। कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों में बुद्धि भेद उत्पन्न न हो अतः विद्वान् पुरुषों को चाहिए कि वे स्वयं भी सारे कर्मों को परमात्म-भाव से भली प्रकार करते हुए उन अज्ञानी जनों से वैसा ही करावे।

उपर्युक्त विवरण से बहुत स्पष्ट है कि गीता लोक को कर्म से पलायन का नहीं, कर्म-सयोजन का ही उपदेश देती है। हां, कर्म करने वाले के लिए कुछ ध्यान देने वाली बातें गीता अवश्य कहती है। यदि इन ध्यातव्य बातों की ओर कर्म कर्त्ता ने ध्यान नहीं दिया तो सामान्य जन में, जो अज्ञानतावश कर्मासक्ति में बन्धे हैं और समत्वबुद्धि योगानुसार कर्मयोग का आचरण करने वाले विद्वान् में क्या अन्तर रह जाएगा। जो कर्म कर्त्ता के लिए ध्यातव्य बातें है उन्हें हम इस प्रकार क्रमांकित कर सकते हैं—

(१) मन से इन्द्रियों का वशीकरण।
(२) अनासक्ति भाव
(३) कर्मयोगानुसार आचरण
(४) यज्ञार्थ कर्म
(५) लोकसंग्रहार्थ कर्म

कर्म योग से अभिप्राय है, समत्व बुद्धि योग से किया हुआ कर्म। समत्व बुद्धि योग का विस्तार से हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं, अतः यहाँ उसकी आवृत्ति ही होगी। इन उपर्युक्त पाँचों बातों को ध्यान में रखकर जब कर्म किया जाता है तो वह कर्म बन्धनकारी नहीं होता। इस प्रकार कर्म करने वाला विदेह जनक की भांति मुक्त पुरुष होता है।

कर्म का कर्त्ता व्यक्ति नहीं, प्रकृति जात गुण ही—

कर्म में कर्त्ता तभी तक बँधता है जब तक वह समझता है कि सारे कर्मों का कर्त्ता मैं हूँ। कर्त्ता मैं हूँ, यही अहंकार भाव कर्म बन्धन का कारण है। गीता में गुण, कर्म व मनुष्यस्वभाव तीनों का विस्तार से विवेचन हुआ है। यहां गुण व कर्त्ता से सम्बन्धित कुछ श्लोक दे रहे हैं। विस्तार यहां अभीष्ट नहीं है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।३.२७

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।३.२८
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।।३.२९

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।१४.१९

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।१४.२०

सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए हुए हैं। अहंकार से विमूढ हुआ पुरुष, मैं कर्त्ता हूँ ऐसा मान लेता है। परन्तु हे महाबाहो अर्जुन, गुण विभाग एवं कर्म विभाग के तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण गुण, गुणों में वर्तते है, ऐसा मानते हुए, आसक्त नही होता है। केवल प्रकृति के गुणों से मोहित हुए पुरुष ही गुण और कर्मों में आसक्त होते हैं। जिस काल में द्रष्टा तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्त्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणों में वर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणों से परे आत्मा को जानता है उस समय वह पुरुष परमात्मा के भाव को प्राप्त होता है। तथा यह आत्मा स्थूल देह की उत्पत्ति के कारणरूप इन तीनों गुणों को पार कर जन्म मृत्यु जरा एव उनसे उत्पन्न दु:खों से विमुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है। यही गुणातीत मुक्त पुरुष है।

गुणातीत के लक्षणों, उसके आचरण तथा इस स्थिति की प्राप्ति के उपायों का गीता में इस प्रकार वर्णन हुआ है।—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥१४.२२
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥१४.२३
समदु:खसुख: स्वस्थ: समलोष्टाश्मकाञ्चन:।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति: ॥१४.२४
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो:।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीत: स उच्यते ॥१४.२५
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१४.२६
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥१४.२७

हे अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्व गुण के कार्य रूप प्रकाश को, रजोगुण की कार्य रूप प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्यरूप मोह को संप्रवृत्त होने पर न तो बुरा समझता है और न निवृत्ति होने पर उनकी आकांक्षा करता है अर्थात् जिसमें प्रकाश, प्रवृत्ति एवं मोह आदि गुण प्रसूत वृत्तियों के प्रकट होने और न होने पर किसी क्षण भी इच्छा द्वेष आदि देहज विकार उत्पन्न नहीं होते, वही गुणातीत है। जो उदासीनवत कर्मों में रत रहता हुआ, गुणों के द्वारा विचलित नही किया हुआ, गुण ही गुणों में वर्तते हैं, ऐसा मानता हुआ, विना विचलित हुए स्थित रहता है, और जो निरंतर आत्मभाव में स्थित हो, सुख दुख, मिट्टी स्वर्ण, प्रिय अप्रिय, निन्दा स्तुति की प्राप्ति पर समभाव से धैर्यपूर्वक सम स्थिति मे रहता है, जिसके लिए मान अपमान, मित्र व शत्रु पक्ष समान हैं तथा कर्मों के सम्पूर्ण आरम्भ में कर्त्तापन के अभिमान को त्यागे हुए रहता है वह गुणातीत कहा जाता है। साथ ही जो अव्यभिचारी भक्ति योग से परमात्मा को निरन्तर भजता है, वही इन तीनों गुणों को भली प्रकार उल्लंघन कर

ब्रह्मरूप होने के लिए योग्य माना गया है। ऐसा ब्रह्म भूत मुक्त पुरुष ही अमृत रूप अव्यय परमात्मा का, शाश्वत धर्म का तथा एकान्तिक सुख का आश्रय है। अर्थात् ब्रह्मभूत ही परमात्मा शाश्वत धर्म तथा एकान्तिक सुख को प्राप्त करता है।

गुणातीत के उपरि वर्णित लक्षणों को हम निम्नानुसार क्रमांकित कर सकते हैं। यही मुक्त पुरुष के लक्षण हैं।

(१) सत रज तम इन तीनों गुणों के जो प्रकाश, प्रवृत्ति एवं मोह कार्य हैं, उनमें प्रवृत्त होते अथवा निवृत्त होते जो न द्वेषता करे न उनकी आकांक्षा करे।

(२) गुण ही गुणो मे वर्तते हैं ऐसा मान गुणों से विचलित न हो, उदासीनवत अचचल भाव से स्थित रहे।

(३) सुख-दुःख, लोष्टाश्म काञ्चन, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु मे धीर व सम रहे।

(४) सम्पूर्ण कर्मो के आरम्भकर्त्ता भाव के अभिमान से रहित हो तथा

(५) अव्यभिचारी भक्ति योग से परमात्मा के भजन मे रत रहे।

ऐसा ही पुरुष गुणातीत तथा मुक्त पुरुष कहलाता है।

मुक्त पुरुष के कर्म अकर्म होते हैं—

मुक्त पुरुष के किये कर्मो का क्या उसे बन्धनदोष लगता है? इस सम्बन्ध में गीताकार कहते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥४.१८
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥४.१९
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥४.२०
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४.२१
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥४.२२
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥४.२३

जो सांसारिक कर्मो में अपना अकर्म तथा सांसारिक जिस आत्म साधना को अपना अकर्म समझता है उस में अपना करणीय कर्म देखता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान है। वही मुक्त (योगी) है और सम्पूर्ण कर्मो का करने वाला है। यह भाव ठीक इस निम्न श्लोक के भाव के अनुसार ही है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के संदर्भ में वताते हुए गीताकार कहते हैं कि समस्त प्राणियों की जो अकर्म की निशा है, उसमें संयमी स्थितप्रज्ञ जागता है और जिस कर्म में प्राणियों की जाग्रति है, तत्त्वज्ञ मुनि के लिए वह रात्रि है । दोनों के भावों में कितनी समानता है । यह चित्तवृत्ति ही ज्ञानाग्निदग्ध कर्म की सूचक है । जिसके सम्पूर्ण कार्य कामनामय संकल्पों से रहित हैं ऐसे ज्ञानाग्नि से दग्ध कर्मो वाले पुरुष को बुद्धिमान जन पण्डित कहते हैं । जो मनुष्य कर्म फल के प्रति आसक्ति के भाव को त्यागकर आत्मतृप्त तथा आत्माश्रयी होकर रहता है, वह कर्म में अच्छी तरह प्रवृत्त होता हुआ भी कुछ नहीं करता है । अर्थात् उसके कर्म भी अकर्म है । मोघाशाओं से रहित, चित्तात्मजित तथा सर्व परिग्रह त्यागी केवल अपनी शरीर यात्रा सिद्धि के निमित्त कर्म करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता है । अर्थात् उसके कर्म फलाकांक्षी नहीं होने से वधनकारी नहीं होते । अयाचित प्राप्त से सन्तुष्ट, द्वन्द्वों से अविपण्ण चित्त, ईर्ष्या रहित और सिद्धि और असिद्धि में समभाव वाला पुरुष कर्मो को करके भी कर्मो में नहीं बंधता है । आसक्ति से रहित, ज्ञान में स्थित चित्त वाले मुक्त पुरुष के, यज्ञ रूप परमात्मा के निमित्त करने पर समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

इन श्लोकों में मुक्त पुरुप के कर्मो का अवन्धनकारी परिणाम अभिव्यंजित है । मुक्त पुरुण जो गत संग, ज्ञानावस्थित चित्त, यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट, द्वन्द्वातीत विमत्सर, सिद्धि असिद्धि में समभावी, निराशी, यतचित्तात्मा, सर्वपरिग्रह त्यागी, कर्म फल असंगी, नित्यतृप्त, निराश्रयी, काम संकल्पवर्जित समारम्भी, ज्ञानाग्नि-दग्ध कर्मी है, वह इस संसार में शरीरार्थ किन्तु यज्ञार्थ सारे कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता है । उसके सम्पूर्ण कर्मो का प्रभाव नष्ट होने से न तो उसे उन कर्मो का पाप लगता है न कर्म उसे संसार से बांधते है ।

ऊपर जो गुण सहित कर्म विचार हमने किया, सच में यही ज्ञान है और इसी ज्ञानाग्नि से मनुष्य के कर्म दग्ध होते हैं । यही ज्ञानयोग है । जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्मसात कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मो को भस्मसात कर देता है । कहा भी है ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।४.३७

आगे अव तक के दोनों विचारों को-समत्व बुद्धियोग, तथा कर्म प्रचेत ज्ञान योग को एक करते हुए कहते हैं —

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।।४.४१

हे धनञ्जय, जिसने समत्व बुद्धि योग से समस्त कर्मो को संन्यस्त कर दिया है तथा कर्म प्रभाव के संशय को ज्ञानाग्नि से नष्ट कर दिया है उस आत्म परायण

को कर्म नहीं बांधते हैं। केवल तीन बातें रह गई। किसे कर्म नहीं बांधते (१) समत्व बुद्धि योग युक्त कर्म योगी (संन्यासी) (२) ज्ञानयोग से सर्व संशय दग्ध तथा (३) आत्मवत्त को कर्म नहीं बांधते।

गीता में इन्हीं भावों को बार बार दोहराया है। पुनरावृत्ति दोष इसलिए नहीं कह सकते कि भगवान को विवाद योग से ग्रसित अर्जुन को युद्ध प्रवृत्त करना था। अतः अलग अलग प्रसगों के साथ बार बार वही एक बात भगवान् ने कही है। समत्व योग, कर्मयोग, ज्ञानयोग से अब कर्म संन्यासयोग की ओर बढते हुए भगवान् कहते हैं।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।।५.३

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।५.७

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।।५.८

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।५.९

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।५.१०

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।।५.११

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।।५.१२

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।।५.१३

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।५.१७

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।५.१८

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।५.१९

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।।५.२०

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।।५.२१

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।५.२२
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।।५.२३
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।५.२४
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।५.२५
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।५.२६
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।५.२७
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।५.२८
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।५.२९

हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है । क्योंकि राग द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसार रूप बंधन से मुक्त हो जाता है । ऐसा योक्तयुक्त विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रिय, सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मरूप परमात्मा में एकीभाव हुआ कर्म करता हुआ भी लिपायमान नहीं होता है । तत्त्वविद योगयुक्त देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूंघता, खाता, जाता, सोता, सांस लेता, बोलता, त्यागता, ग्रहण करता, आंखें खोलता, मींचता हुआ भी, इन्द्रियां ही अपने अपने अर्थो में वर्त रही है ऐसा निश्चित रूप से मान, यह मानता है कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ । जो पुरुष सब कर्मो को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है वह पुरुष जल में पद्म पत्र के सदृश पाप से लिपायमान नहीं होता है । योग युक्त कर्मो के फल को परमेश्वर के अर्पण करके भगवत् प्राप्ति रूप शांति को प्राप्त होता है । केवल जो योग से युक्त नहीं है वही फल में आसक्त हुआ कामना के कारण से बधता है । जिसकी आत्मा वश में है ऐसा पुरुष इस नवद्वारों वाले शरीर में सब कर्मो के फल को त्यागकर, कर्म करते हुए अथवा करवाते हुए, परमात्मा में ही आनन्दपूर्वक स्थित रहता है । जिस की बुद्धि, आत्मा, निष्ठा और परायणता उस परमात्मा में ही निहित है ऐसा ज्ञान से समस्त कल्मषों को धोया हुआ पुरुष, अपुनरावृत्ति को प्राप्त होता है अर्थात् ऐसा पुरुष फिर जन्म जरामरण के चक्कर में नहीं फंसता । वह विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल के प्रति समदर्शी होता है । जिनका मन समत्व बुद्धि योग में स्थित है, वे इस जीवन में ही संसारजयी होकर ब्रह्म में ही स्थित रहते

हैं, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है। वे प्रिय वस्तु की प्राप्ति पर न तो प्रहर्षित होते हैं, न अप्रिय भी प्राप्ति पर उद्विग्न। स्थिर बुद्धि, असंमूढ ब्रह्मविद् सदा सम ब्रह्म में ही स्थित रहता है। बाह्यस्पर्शों से सर्वथा अनासक्त पुरुष, आत्मस्थ होने का जो सुख है उसे प्राप्त करता है। वह ब्रह्मयोग से युक्त पुरुष अक्षय सुख को अनुभव करता है। इन्द्रियों के विषयों के स्पर्श से उत्पन्न जो भोग हैं वे दुःख योनि तथा आदि अन्तवाले हैं ऐसा समझ बुद्धियोगयुक्त बुद्धिमान उनमें नहीं रमता है। जो मनुष्य शरीर क्षयपूर्व ही काम क्रोध के उत्पन्न वेग को सह पाने में समर्थ हो जाता है वही इस लोक मे योगयुक्त है और वही सुखी है। जो आत्मा मे ही सुख, आत्मा में ही आराम तथा आत्मा में ही ज्योति देखने वाला है वह ब्रह्म रूप हुआ योगी अन्तकाल में ब्रह्म निर्वाण को ही अर्थात् अपुनरावर्ती पद को प्राप्त होता है। क्षीण कल्मष, छिन्न द्विधा, आत्मलीन, सर्वभूतहितरत ऋषि अन्तकाल में ब्रह्म निर्वाण प्राप्त करते हैं। कामक्रोध से वियुक्त, चित्त में ही समाहित, आत्म ज्ञानी यही सब ओर से ब्रह्म निर्वाण को ही प्राप्त होते हैं। जो मोक्ष परायण मुनि वाह्य स्पर्शों को बाहर ही त्यागकर चक्षुओं को भ्रुवों के मध्य टिकाए, नासिका के अन्दर चलने वाले प्राण व अपान वायु को सम करके, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि को परमात्मा में रमाए सदा विगत इच्छा भय एव क्रोध है वह मुक्त ही है। वह यज्ञ, तप के भोक्ता, सारे लोकों के महा ईश्वर, तथा समस्त प्राणियो के मित्र परमात्मा को तत्वतः जान कर शांति को प्राप्त होता है।

मुक्त पुरुष होने के लिए बुद्धियोग को गीता में इतने विस्तार से कहा है। वह मुक्तता कब और कैसे प्राप्त होती है, ध्यान योग के इस विषय को गीता मे विस्तार से कहा गया है। हम ध्यानयोग को पृथकशः विवेचित किए हैं अतः उस प्रक्रिया में विशेष न जाते हुए हम ध्यानयोग के द्वारा समत्व बुद्धियोग की प्राप्ति के पश्चात् मुक्त पुरुष के जो लक्षण वर्णित किए गए हैं उन्हीं तक अपने को सीमित रखते हुए ध्यान योग के द्वारा कब व्यक्ति मुक्त पुरुष हो जाता है इस प्रसङ्ग को यहां कह रहे हैं। छठे अध्याय में योगारूढ की स्थिति का विवेचन करते हुए भगवान् कहते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।६.४

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।।६.७

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।।६.८

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।.६.९

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।६.१५

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।।६.१८
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।६ २०
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।।६.२१
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।६ २२
तंविद्यात् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।।६.२३
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।६.२७
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।६.२८
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।६.२९

सर्व संकल्पों का त्यागी पुरुष जब न तो इन्द्रियों के विषयों में और न कर्म फल आसक्ति में अनुसज्जित होता है तब वह योगारूढ कहा जाता है। सर्दी, गर्मी सुख दु.ख और मान अपमान में सर्वथा प्रशान्त, परमात्मा में समाहित जितात्मा, ज्ञान विज्ञान से तृप्त अन्तःकरण वाला, आत्मस्थ, विजितेन्द्रिय, मिट्टी पत्थर और स्वर्ण के प्रति समभावी पुरुष बुद्धि योगयुक्त योगी कहा जाता है। सुहृद मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धु, साधु, तथा पापियों में भी जो योगी सम बुद्धि वाला है, वह श्रेष्ठ है। इस प्रकार आत्मा को ध्यानयोग के द्वारा निरन्तर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ स्वाधीन मन वाला योगी परमात्मा में स्थिति रूप परमानंद की पराकाष्ठा वाली शांति को प्राप्त होता है। जब विनियत अर्थात् वशीकृत चित्त आत्मा में ही भली प्रकार स्थित हो जाता है; उस काल में वह सर्व कामनाओं से निस्पृह साधक योगयुक्त कहा जाता है। जिस अवस्था में ध्यानयोग की साधना से चित्त निरुद्ध हुआ उपराम हो जाता है और जिस अवस्था में शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा आत्मा को साक्षात् करता हुआ आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है तथा इस स्थिति से तत्त्वतः चलायमान न होता हुआ उसे ही बुद्धि ग्राह्य अतीन्द्रिय आत्यन्तिक सुख मानता है, और उसे प्राप्त कर उससे अधिक कोई और दूसरा लाभ नहीं मानता है, और उस आत्मा में स्थित होने पर बड़े भारी दुःख से भी चलयमान नहीं होता है, उस दुःख के संयोग के वियोग वाली योग नाम साधना को जानना चाहिए तथा उसे निश्चयपूर्वक अनिर्विण्ण चित्त से करना चाहिए। प्रशान्तमन, निष्पाप, शांतरज, तथा ब्रह्मरूप हुए योगी को अति उत्तम सुख प्राप्त होता है। विगत कल्मषयोगी सदा आत्मा में स्थित हुआ, सुखपूर्वक ब्रह्मस्पर्श का अत्यन्त सुख प्राप्त करता है।

वह सारे प्राणियों में एक ही आत्मा को तथा सारे भूतों को अपनी आत्मा में देखता है। इस तरह योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शी होता है।

उपर्युक्त वर्णन में कब योग में आरूढ होने का इच्छुक योगारूढ हुआ; उन स्थितियों का वर्णन किया गया है। साथ ही योगारूढ के लक्षणों एवं प्राप्तव्यों का भी वर्णन हमें मिलता है। ध्यानयोग की सिद्धि ही पूर्व कहे सब योगों की प्रतिष्ठा है। बिना ध्यान योग की स्थिति के ज्ञान, तप, कर्म कौशल आदि सब अधूरे हैं। समत्व बुद्धि योग की प्राप्ति ध्यान योग की सिद्धि के बाद ही होती है। ज्ञान, तप, कर्म तो वहाँ तक पहुँचने की सीढियाँ है। इसीलिए कहा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।६.४६

ध्यानयोगी तपस्वियों से अधिक है, वह ज्ञानियों से भी अधिक तथा कर्म-योगियों से भी अधिक है अतः हे अर्जुन! तू योगी बन। इसी बात को बारहवें अध्याय में भी भगवान् ने कहा है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।१२.१२ (१)

लेकिन यहाँ भगवान् ने एक बात और जोड़ी है। यह बात योगाभ्यास में सिद्धि को प्राप्त न कर सकने वालों को दृष्टि में रखकर कही गई है। देखिए—

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२.१२ (२)

ध्यान से कर्म फल त्याग बढता है और त्याग से तत्काल परम शांति प्राप्त होती है। जैसा हमने कहा यह बात भगवान् ने योगाभ्यास में भी जो असमर्थ हैं केवल उनके लिए कही है अन्यथा हम देख चुके हैं, भगवान् इस कर्मफलत्याग वाली अनिवार्यता पहले ही कर्म विचार के समय कह आए हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो भगवान् तुरन्त इससे आगे के श्लोकों में योगी को अपना प्रिय नहीं कहते। देखिए—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।।१२.१३
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योमद्भक्तः स मे प्रियः ।।१२.१४

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।१२.१५
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१२ १६
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।।१२.१७
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।।१२.१८

तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।।१२.१९
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।।१२ २०

समस्त प्राणिमात्र के प्रति द्वेषहीन भाव, मैत्री तथा करुणा रखने वाला, ममता रहित, निरहंकारी, दुःख सुख में समान चित्त, क्षमावान, अप्रार्थित लाभ सन्तुष्ट, सतत यतात्मा, दृढ़ निश्चयी तथा परमात्मा को ही मन बुद्धि अर्पित किए है, ऐसा भक्त परमात्मा को प्रिय है। जिससे न तो संसार उद्वेग को प्राप्त होता है, और न जो स्वय लोक व्यवहार से उद्विग्न होता है तथा हर्ष, अमर्ष, भय एवं उद्वेग से मुक्त है वह परमात्मा को प्रिय है। जो अपेक्षा रहित, पवित्र, कार्यकुशल, उदासीन, व्यथा रहित, सर्वारम्भ परित्यागी है वह परमात्मा को प्रिय है। जो न हर्षित होता है न विद्वेष करता है, न शोच करता है, न आकांक्षा करता है ऐसा शुभ और अशुभ का परित्यागी भक्तिमान्य योगी भगवान् को प्रिय है। शत्रु मित्र, मान-अपमान, शीतउष्ण, सुख दुःख में सम, संग विवर्जित, निन्दास्तुति तुल्य समझने वाला, जो भी मिल जाए उससे संन्तुष्ट रहने वाला, अनिकेती, स्थिर मति, भक्तिवान पुरुष भगवान् को प्रिय है। और जो ऊपर कहे अनुसार धममय अमृत की साधना करते हैं वे श्रद्धावान, परमात्मा परायण भगवान् को और भी प्यारे हैं।

पर्युपासते शब्द ने ज्ञान को क्रियात्मकता प्रदान की है। ज्ञान की क्रिया ध्यान है। इस तरह परोक्षरूप से अन्त में भगवान् ने धर्म्यामृत रूप ध्यान की साधना का आग्रह किया है। लगता है जैसे गीताकार ने एक बार फिर भगवान् से मुक्त पुरुष के लक्षणों की झडी लगवा दी। पुनरावृत्ति पर पुनरावृत्ति हो रही है। लेकिन यदि गहराई से देखें तो हमें लगेगा कि यहां परमात्मा को कौन भक्त प्रिय है उसका उल्लेख हुआ है। गीता का भक्त ताल मजीरे वाला भक्त नहीं होकर उस ध्यानयोग का साधक है, जिसमें परमात्मा को सतत परायण हुए, तथा मन बुद्धि से सतत समर्पित हुए रहना एक महती आवश्यकता है। यह प्रभु परायणता है। गीता की भक्ति है। इस परमात्मा को कोई आत्मा में सूक्ष्म बुद्धि से, कोई सांख्य के ज्ञानयोग से तथा कोई कर्मयोग से देखता है। इस तरह ध्यान, ज्ञान व कर्म ही गीतोक्त भक्ति के सोपान हैं।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।१३.२४

उपर्युक्त वर्णन में मुक्त पुरुष के लक्षणों का मानों समाहार हो गया है। ज्ञान, ध्यान, कर्मकुशल परमात्म भक्त ही मुक्त पुरुष है। यही निर्मानमोह, सगदोषजित, नित्य अध्यात्म रत, काम निवृत्त, सुख दुःख संज्ञक द्वन्द्वों से विमुक्त अमूढ, मुक्त पुरुष ही परमात्मा के अव्यय पद को प्राप्त होता है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।१५.५

जो उपर्युक्त लक्षणों से युक्त नहीं है वह बद्ध संसारी पुरुष है; और उसका बार बार दु:खरूप विविधयोनियों में, तथा स्वर्ग नरक में आना जाना चलता ही रहेगा। वह कभी मुक्ति के दर्शन नहीं कर सकेगा। वे धन हैं जो इस जीवन में ही ब्रह्मभूत हुए विदेह जनक की भाँति, लोक संग्रहार्थ यज्ञरूप कर्मों को सर्व जन हिताय करते हुए यहाँ समत्व भाव से वर्तमान हैं तथा शरीर यात्रा समाप्त कर ब्रह्म निर्वाण के अनामय, अनावर्ती परमधाम को प्राप्त करेंगे। □

आठ

भगवत् प्रार्थना का स्वरूप

गीता में परमात्मा की प्रार्थना जैसा पृथक् कोई अध्याय नहीं है। गीता वैसे सारी ही परमात्मा की है; लेकिन ग्यारहवाँ अध्याय एक ऐसा अध्याय है जिसे प्रार्थना-प्रधान अध्याय कह सकते हैं। भगवान् कृष्ण ने योगिक ऐश्वर्यो का उल्लेख करते हुए, अर्जुन को पहले अपनी दिव्य विभूतियाँ बताई फिर अपने विविध विश्वरूप, जैसे विराट विकराल, सौम्य चतुर्भुज आदि दिखाए। इन रूपों को विलोक विलोक मोह निवृत्त हुआ अर्जुन बार बार भगवान् की स्तुति करता है, बार बार उन दिव्य रूपों का विशद वर्णन करता है। वही प्रार्थना बन गए हैं। गीताकार स्वयं भी गीता में स्थान स्थान पर परमात्मा के स्वरूप का, उसकी व्यापकता का, उसके प्रभव, स्थिति एवं प्रलयकारी स्वरूप का विवरण करते रहते हैं। इन्हीं चित्रणों से व अर्जुन की स्तुतियों से प्रार्थना का स्वरूप गठित हुआ है। गीता में यह प्रार्थना का स्वरूप तीन रूप में मिलता है। (१) सर्वत्यागी स्वरूप की प्रार्थना (२) विश्व रूप की प्रार्थना तथा (३) सौम्य रूप की प्रार्थना। देखिए—

१ सर्वत्यागी स्वरूप की प्रार्थना—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।८.९

(जो सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, अन्तर्यामारूप से सब प्राणियों के शुभ और अशुभ कर्म के अनुसार शासन करने वाले, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबके धारण पोषण करने वाले, अचिन्त्य स्वरूप, सूर्य के सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप, अविद्या से अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्द घन परमात्मा को स्मरण करता है।)

यह स्वरूप चित्रण, गीताकार द्वारा उस परम पुरुष का स्वरूप बताने के

लिए किया गया है जिसे स्मरण करते हुए यौगिक रीति से प्राणों को भ्रुवों के मध्य लाकर मृत्यु काल में जो प्राणों को छोड़ते हैं, तथा अन्ततः उसे ही प्राप्त होते हैं।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।।१०.१२
सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।१३.१३
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।१३.१४
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।१३.१५
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।१३.१६
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।१३.१७

आप परम ब्रह्म, परम धाम, एवं परम पवित्र हैं, क्योंकि आप को सब ऋषि जन सनातन दिव्य पुरुष, देवों का भी आदि देव अजन्मा और सर्व व्यापी कहते हैं। वह परमात्मा सर्वतः पाणि पाद वाला, सर्वतः अक्षि सिर मुख वाला, सर्वतः श्रुति वाला है क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त कर स्थित है। वही सब इन्द्रियों से रहित होता हुआ भी सब इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है। वह गुणातीत अनासक्त होता हुआ भी सब का पोषण करने वाला तथा गुणों को भोगने वाला है। वह इस चराचर सृष्टि के सब भूतों के बाहर भीतार परिपूर्ण है। वह सूक्ष्मता के कारण यद्यपि अविज्ञेय है पर वह पास भी है और दूर भी है। वह अविभक्त भूतों में विभक्त के समान स्थित है। वह ज्ञेय परमात्मा भूतों का भरण करने वाला, संहार करने वाला तथा सबको उत्पन्न करने वाला है। वह सब ज्योतियों की ज्योति, तम की माया से परे कहा जाता है। वह ज्ञान, ज्ञेय व ज्ञानगम्य सबके हृदयों में स्थित है।

यह प्रार्थना अर्जुन की ओर से की गई है। जब भगवान् कृष्ण से अर्जुन परमपुरुष को ही सबका आदि होने का ऐश्वर्य सुनता है, उससे ही बुद्धि आदि भावों की उत्पत्ति का कथन सुनता है तो वह गद्गद् होकर भगवान् की स्तुति करने लगता है।

(२) विश्व रूप की प्रार्थना—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ।।११.१०
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ।।११.११

अद्भुत दर्शनों वाले अनेक मुख तथा अनेक नयनों, अनेक दिव्य भूषणों, तथा अनेक उठाए दिव्य शस्त्रों से युक्त दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किए, दिव्य गन्धों का अनुलेपन किए, सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त अनन्त विराट् स्वरूप, परम देव परमेश्वर को अर्जुन ने देखा।

जब भगवान् ने यौगिक चमत्कार बताते हुए परम ऐश्वर्य युक्त रूप दिखाया, यह वर्णन उसी समय का है। यह गीताकार द्वारा स्वयं वर्णित है।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥११.१५

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥११.१६

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥११.१७

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्यय: शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥११.१८

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥११.१९

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वा:।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥११.२०

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीता: प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघा:
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभि: पुष्कलाभि: ॥११.२१

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥११.२२

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोका: प्रव्यथितास्तथाहम् ॥११.२३

नभ:स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥११.२४

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥११.२५

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगा: समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥११.२८

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥११.२९

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥११.३०

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥११.३१

हे देव ! आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों को, अनेक भूतों के समुदायों को, कमलासन स्थित ब्रह्मा को, महादेव को, सम्पूर्ण ऋषियों को तथा दिव्य सर्पो को देखता हूँ। हे विश्वेश्वर ! आपको अनेक बाहु उदर वक्त्र नेत्रों से युक्त सर्वतः अनन्तरूप वाला देखता हूँ। हे विश्वरूप ! आपका अन्त मध्य और आदि नहीं देखता हूँ। आपको मुकुट युक्त, गदायुक्त तथा चक्रयुक्त, सर्वतः दीप्तमन्त तेज पुन्न दुर्निरीक्ष्य दीप्तानल और सूर्य द्युति तथा सब ओर से अप्रमेय देखता हूँ। आपको आदि अन्त और मध्य से रहित, अनन्न वीर्य, अनन्त बाहु, सूर्य, चन्द्र रूप नेत्रों वाला, प्रज्वलित अग्निरूप मुख वाला तथा अपने तेज से इस जगत् को तपायमान करता हुआ देखता हूँ। द्यावा पृथिवी और अंतरिक्ष और सारी दिशाएँ एक आप से ही व्याप्त हैं। हे महात्मन् ! आपका यह अद्भुत उग्र रूप देखकर तीनों लोक अतिव्यथा को प्राप्त हो रहे हैं। सब देवताओं के समूह आप में ही प्रवेश करते हैं। कई एक भयभीत होकर बद्धाञ्जलि आपके ही नाम का उच्चारण करते हैं। सिद्ध महर्षियों के समूह, कल्याण हो, ऐसा उच्चारण करते हुए, पुष्कल स्तुतियों से तुम्हारी ही स्तुति करते हैं। रुद्र, आदित्य, इन्द्र साध्यदेव, विश्वेदेव, दोनों अश्विनीकुमार, मरुत, ऊषा परपिता गन्धर्व, यक्ष असुर तथा सभी सिद्ध संघ विस्मित हुए आपको ही देखते हैं। मैं तथा सारे लोक, हे महाबाहो, आपके महान् रूप को, जिसमें बहुत से मुख, नेत्र, बाहु, उरु, पाद, उदर, कराल, दांत हैं, व्यथित हो रहे हैं। हे विष्णु ! नभस्पर्शी अनेक दीप्त वर्णों से युक्त आपके व्यात्त आनन, दीप्त विशाल नेत्र, को देख मेरी अंतरात्मा व्यथित हो रही है। मैं धृति और शम को प्राप्त नहीं हो रहा हूँ। आपके मुख के कराल दांतों तथा उससे निकलती प्रज्वलित कालानल को देख, दिशाओं का ज्ञान भूल गया हूँ। शान्ति नहीं पा रहा हूँ। हे देवेश, जगन्निवास आप प्रसन्न होवें। जैसे नदियों का जल प्रवाह समुद्र में सामने दौड़कर मिलता है वैसे ही आपके प्रज्वलित मुखों में शूरवीर मनुष्यों के समुदाय प्रवेश कर रहे हैं। जैसे पतंगे समृद्ध वेग से जलने के लिए प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करते हैं वैसे ही सारे लोक अपने नाश के लिए समृद्ध वेग से आपके मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। सम्पूर्ण लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रसन करते हुए सब ओर से उन्हें चाट रहे हैं। हे विष्णु ! आपके उग्र तेज से परिपूर्ण यह समग्र जगत् प्रकाशित है तथा तप रहा है। आप उग्र रूप कौन हैं, मुझ से कहें मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे देववर ! प्रसन्न होइए। मैं आपका आदि स्वरूप जानने को उत्सुक हूँ। मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता हूँ।

(२) सौम्य रूप की प्रार्थना—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ।।११.३६
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।।११.३७
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।११.३८
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।।११.३९
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।११.४०
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।११.४३
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।।११.४४
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।११.४५
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।११.४६

हे हृषीकेश ! आपका प्रकीर्तन कर जगत् हर्षित हो, अनुरंजित हो, यह उचित ही है। आपको देखकर राक्षस भयभीत होकर दिशाओं में भागते हैं और सर्व सिद्ध संघ आपको नमस्कार करते हैं। हे महात्मन् ! वे (सिद्ध संघ) आपको नमस्कार क्यों न करें, आप तो गरीयस ब्रह्मा के भी आदि कर्त्ता हैं। हे अनन्त देवेश ! जगन्निवास ! जो सत् और असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्द घन ब्रह्म हैं वह आप ही हैं। आप ही आदिदेव सनातन पुरुष हैं। आप ही इस जगत् के परम निधान हैं, आप ही ज्ञाता और ज्ञेय हैं, परम धाम हैं। हे अनन्तरूप ! यह विश्व आप से व्याप्त है। आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, शशांक (चन्द्र) और प्रजापति (ब्रह्मा) के प्रपितामह हैं। आपको हजारों बार नमस्कार है। फिर बार-बार नमस्कार है। हे सर्व ! आपको सम्मुख से, पीछे से और सब ओर से नमस्कार है। आप अपने अनन्त वीर्य तथा अमित विक्रम से इस संसार को व्याप्त किए हैं इसलिए सर्व रूप हैं। आप इस चराचर जगत् के पिता तथा श्रेष्ठ गुरुओं द्वारा पूज्य हैं। हे अमितप्रभाव ! आपके समान तीनों लोकों में कोई नहीं है। अधिक की तो बात ही दूर है। अतः मैं आपको साष्टांग प्रणाम करता हूँ। मैं आप ईश्वर की प्रसन्नता के लिए प्रार्थना करता हूँ। हे देव ! जैसे पिता पुत्र के, सखा सखा के तथा पति पत्नी के अपराध को क्षमा कर देता है, वैसे ही आप मेरे अपराध

को क्षमा करने योग्य हैं। आपके इस अदृष्ट पूर्व रूप को विलोक हर्षित हो रहा हूँ। साथ ही मेरा मन भय से व्यथित भी है। अतः हे देव, देवेश, जगन्निवास! प्रसन्न होकर मुझे अपना सौम्य चतुर्भुज रूप दिखाइए। मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किए, हाथ में गदा व चक्र लिए देखना चाहता हूँ। अतः हे विश्वमूर्ते, सहस्रबाहु! आप चतुर्भुज रूप में होइए।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गीतोक्त प्रार्थना का स्वरूप तीन प्रकार का है। एक तो भगवान् का स्वरूप विश्लेषण करते हुए उनका गुणानुवाद। दूसरा, भगवान् के विश्वरूप का दर्शन व उसका आख्यान तथा तीसरा सौम्य रूप दर्शन तथा गद्गद् भाव से उसकी प्रार्थना। जहां प्रथम व द्वितीय ज्ञान प्रधान हैं, वहां तृतीय भक्ति प्रधान है।

सम्पूर्ण गीता का नित्य पाठ होता ही है, होना भी चाहिए क्योंकि इसका शब्द-शब्द ज्ञान परक है। जीवन के वास्तविक सत्य का प्रतिपादक है; पर इस प्रार्थना का उपयोग पृथक्शः होता नहीं लगता। हम केवल दूसरे अध्याय को सुनते हैं अन्त समय में, भौतिक मोह के नाश के लिए। यह सुनना भी चाहिए; पर भगवान् की प्राप्ति भक्ति भाव मूलक इस प्रार्थना का जो कि गीता का मूल भाव स्वर है नित्य पाठ आवश्यक है।

हमने इस प्रार्थना को इसी भाव से निकाला है कि मुक्ति कामी जन अपनी निःश्रेयस सिद्धि के लिए इसका अन्त समय में ही नहीं, जीवन के कल्याण के लिए नित्य पाठ किया करें।

युद्ध करने का जिन्हें अवसर मिलता रहता है, जो समर में उलझे रहते हैं, उनके लिए भगवान् के विश्व रूप का ध्यान बहुत हितकर है। उन्हें तो इस प्रार्थना के दूसरे भाग को पढ़ना ही चाहिए। भगवान् स्वयं महाकाल हैं। अर्जुन इस विराट् रूप का दर्शन कर भगवान् से पूछता है—'आख्याहि मे को भवान उग्ररूपो ?' तो भगवान् उत्तर देते हैं —

'कालोऽस्मि लोक क्षयकृत्प्रवृद्धो।'

इस महाकाल का स्मरण स्वयं को मृत्यु पाश से बचाता है तथा शत्रु को नष्ट करता है।

सौम्य रूप दर्शन का स्मरण तो निरन्तर होते रहना ही भक्ति है। इसी से आत्म-कल्याण सम्भव है। □

कृष्णार्जुन के विभिन्न नाम तथा उनकी प्रासंगिकता

गीताकार ने बिना किसी पूर्व कथन के, भगवान् कृष्ण को तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन को कई-कई नामों से पारस्परिक संवाद में एक-दूसरे से सम्बोधित करवाया है। इतने सारे पर्यायों के पीछे नाम पर्याय परिगणन का उद्देश्य तो है ही, इसके अतिरिक्त विविध नाम देने से लेखक के ज्ञान की विपुलता दिखती है, तीसरे इतने भिन्न नाम देने से जिसे सम्बोधित किया जा रहा है; उसकी बहुमुखी विशिष्टता के दर्शन होते हैं। इतने भिन्न नामों से सम्बोधित करने के पीछे और भी कई अभिप्राय हो सकते हैं। जहां तक हमारा अनुभव है जो नाम जिस स्थान पर प्रयुक्त किया गया है उस नाम की उस स्थान पर निश्चय ही सार्थकता एवं प्रासंगिकता विशेष है। अतः हमने जो तीन विकल्प ऊपर बताए हैं वे तो इन पर्यायों के पीछे कारण हैं ही, स्थान विशेष पर और क्या अभिप्राय है इसे देखना ही हमारा अभिप्राय है।

पहले भगवान् कृष्ण को लें। उनके क्या-क्या नाम किन-किन अध्यायों के किन-किन श्लोकों में प्रयुक्त हुए हैं यह देखें—

तालिका

क्र.सं.	नाम	अध्याय	श्लोक
१	कृष्ण	१	२८, ३२, ४१
	(मूलनाम)	५	१
	(अपनी ओर खींचने वाले)	६	३४, ३७, ३९
		११	३५; ४१
		१७	१
		१८	७८
२	माधव (मधु दैत्य का संहार करने वाले)	१	१४, ३७
३	हृषीकेश	१	१५, २१, २४
	(इन्द्रियों के स्वामी या अन्तर्यामी)	२	९, १०
		११	३६
		१८	१
४	अच्युत	१	२१

क्र.सं.	नाम	अध्याय	श्लोक
	(स्थिर, अव्यय, कभी न गिरने वाला)	११	४२
		१८	७३
५	केशव	१	३१
	(केशी दैत्य का संहार करने वाले)	२	५४
		३	१
		१०	१४
		११	३५
		१८	७६
६	गोविन्द	१	३२
	(जिन ने इन्द्रियों को जीत रखा है, इन्द्रियां स्वाधीन हैं)	२	९
७	मधुसूदन	१	३५
	(मधु दैत्य का नाश करने वाले)	२	१-४
		६	३३
		८	२
८	जनार्दन	१	३६, ३९, ४४
	(असुरों को नरक में भेजने वाले अथवा	३	१
	जिनसे जनता अभ्युदय एव निःश्रेयस	१०	१८
	की याचना करती है उनको मारना जिसका धर्म है)	११	५१
९	अरिसूदन	२	४
	(दुष्टों का संहार करने वाले)		
१०	वार्ष्णेय	१	४१
	(वृष्णि वंशोत्पन्न)	३	३६
११	पुरुषोत्तम	८	१
	(पुरुषों में श्रेष्ठ)	१०	१५
		११	३
		१५	१८, १९
१२	प्रभो (स्वामी)	११	४
	(सृष्टि की उत्पत्ति करने वाले)	१४	२१
१३	योगेश्वर	११	४
	(योगियों के ईश्वर)	१८	७५, ७८
१४	हरि	११	९
	(नारायण)	१८	७७
१५	विश्वेश्वर	११	१६
	(विश्व के जो ईश्वर हैं)		

क्र.सं	नाम	अध्याय	श्लोक
१६	बिश्वरूप (समस्त विश्व ही जिनका रूप है)	११	१६
१७	विष्णु (विष्णु रूप)	१० ११	२१ २४, ३०
१८	देवेश (देवों के ईश)	११	२५, ३७, ४५
१९	जगन्निवास (जिसमें सारा जगत् निवास करे)	११	२५, ३७, ४५
२०	देववर (श्रेष्ठ देव)	११	३१
२१	महात्मन् (महान् आत्मा वाला)	११	२०, ३७
२२	अनन्त (जिसका कोई अन्त नहीं)	११	३७
२३	यादव (यदु वंशोत्पन्न)	११	४१
२४	सहस्रबाहु (हजार भुजाओं वाले)	११	४६
२५	विश्व मूर्ति (ऐसा साकार रूप जिसमें समस्त विश्व व्याप्त हो)	११	४६
२६	महाबाहो (विशाल भुजाओं वाला)	११ १८	२३ १
२७	केशिनिसूदन (केशि दैत्य का नाश करने वाला)	१८	१
२८	महायोगेश्वर (योगियों का महा ईश्वर)	११	९
२९	अनन्तरूप	११	३८
३०	अनन्त वीर्य	११	४०
३१	सर्व	११	४०
३२	अनन्तविक्रम	११	४०
३३	सखा	११	४१
३४	भगवन्	१०	१४
३५	भूतभावन	१०	१५
३६	भूतेश	१०	१५
३७	देवदेव	१०	१५

क्र.सं.	नाम	अध्याय	श्लोक
३८	जगत्पते	१०	१५
३९	पुरुषोत्तम	८	१
		१०	१५
		११	३
४०	देववर	११	३२
४१	आद्य	११	३२
४२	परमेश्वर	११	३
४३	कमलपत्राक्ष	११	२
४४	वासुदेव	[illegible]	१९
		११	५०
		१८	७४
४५	महात्मा	११	५०

इस तालिका से हमारे सामने यह तथ्य स्पष्ट हो गया कि गीता में अर्जुन ने भगवान् कृष्ण को ४४ विविध नामों से कुल ९९ बार सम्बोधित किया है। इसमें भी कृष्ण नाम ११ बार, हृषीकेश ७ बार, मधुसूदन ५ बार, जनार्दन ६ बार, केशव ६ बार, वासुदेव, पुरुषोत्तम, देवेश, जगन्निवास ३-३ बार, माधव २ बार, गोविन्द २ बार तथा शेष नाम १-१ बार आए हैं। अब हमें यह देखना है कि भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को किन-किन नामों से, कितनी-कितनी बार, किन-किन अध्यायों में सम्बोधित किया है—

क्र.सं.	नाम	अध्याय	श्लोक
१	अर्जुन	१	४, ४७
	(मूलनाम)	२	२, ४५
	(जो ऋजु नहीं या दूसरा अर्थ	३	७
	उजला, जो काला नहीं)	४	५, ९, ३७
		६	१६
		७	१६
		८	१६, २७
		९	१९
		१०	३२, ३९; ४२
		११	४७, ५४
		१८	६१
२	पाण्डव	१	१४, २०
	(पाण्डु पुत्र)	४	३५
		६	२

क्र.सं.	नाम	अध्याय	श्लोक
		११	१३, ५५
		१४	२२
		१६	५
		१	१५
३	**धनञ्जय**	२	४८, ४९
	(धन जीतने वाला)	४	४१
	(अर्जुन ने दिग्विजय के समय मनुष्यों	७	७
	एवं देवों का बहुत सा धन जीता था	९	९
	अतः धनञ्जय।)	११	१४, ३७
		१२	९
		१८	२९, ७२
		१	२०
४	**कपिध्वज**		
	(जिसकी ध्वजा पर कपि चिह्न		
	अंकित है)	१	२५
५	**गुडाकेश**	२	९
	(गुडाका+ईश)	१०	२०
	(जिसने नींद को जीत लिया हो,	११	७
	निद्रा का स्वामी)	१	२५, २६
६	**पार्थ**	२	३,२१,३२,३९,४२ ५५,७२
	(पृथा का पुत्र)		
		३	१६, २२, २३
		४	११, ३३
		६	४०
		७	१, १०
		८	८,१४,१९,२२,२७
		९	१३, ३२
		१०	२४
		११	५, ९
		१२	७
		१६	४, ६
		१७	२६, २८
		१८	६, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ७२, ७४, ७८
		१	२७
	कौन्तेय		

क्र.सं	नाम	अध्याय	श्लोक
	(कुन्ती का पुत्र)		
		२	१४, ३७, ६०
		३	९, ३९
		५	२२
		६	३५
		७	८
		८	६; १६
		९	७,१०,२३,२७,३१
		१३	१, ३१
		१४	४, ७
		१६	२०, २२
८	परंतप	१८	४८, ५०, ६०
	(विपक्ष को अपने शौर्य रूपी किरणों	२	३
	के तेज से तपाने वाला)	४	२, ५, ३३
		७	२७
		९	३
		१०	४०
		११	५४
९	भारत	१८	४१
	(भरत वंशी)	१	२४
		२	१०,१४,१८,२८,३०
		३	२५
		४	७, ४२
		७	२७
		११	६
		१३	२, ३३
		१४	३, ८, ९, १०
		१५	१९, २०
		१६	३
		१७	३
	पुरुषर्षभ	१८	६२
	(पुरुष श्रेष्ठ)	२	१५
	महाबाहो		
	(जिसकी भुजाएँ विशाल हों)	२	२६; ६८
		३	२८; ४३
		५	३, ६
		६	३५, ३८

क्र.सं.	नाम	अध्याय	श्लोक
		७	५
		१०	१
		१४	५
		१८	१३
१२	कुरुनन्दन (कुरु वंशी)	२	४१
		६	४३
		१४	१३
१३	अनघ (निष्पाप)	३	३
१४	भरतर्षभ (भरत वंशी, श्रेष्ठ पुरुष)	३	४१
		७	११, १६
		८	२३
		१३	२६
		१४	१२
		१८	३६
१५	कुरुसत्तम (कुरुवंशी श्रेष्ठ पुरुष)	४	३१
१६	तात (पुत्रवत्)	६	४०
१७	कुरुश्रेष्ठ (कुरु वंशोत्पन्न श्रेष्ठ पुरुष)	१०	१९
१८	सव्यसाचिन् (बाएँ हाथ से तीर चलाने वाला)	११	३३
१९	कुरु प्रवीर (कुरु वंशोत्पन्न श्रेष्ठ वीर)	११	४८
२०	भरत श्रेष्ठ (भरत वंशी, श्रेष्ठ पुरुष)	१७	१२
२१	भरतसत्तम (भरतवंशी श्रेष्ठ पुरुष)	१८	४
२२	पुरुष व्याघ्र (सिंह की तरह वीर पुरुष सिंह)	१८	४
२३	अनघ	३	३
		१४	६
		१५	२०

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अर्जुन को भगवान् कृष्ण ने गीता में २३ विविध नामों से १७७ बार सम्बोधित किया है। इसमें भी पार्थ नाम ४३ बार, कौन्तेय नाम २५ बार, भारत नाम २३ बार, अर्जुन नाम १९ बार, धनञ्जय नाम १० बार, परंतप नाम ९ बार, महाबाहो १२ बार, भरतर्षभ ७ बार, पाण्डव ८ बार, गुडाकेश ४ बार, कुरुनन्दन ३ बार, शेष नाम १-१ बार प्रयुक्त हुए हैं। इनमें एक शब्द है महाबाहो, वह भगवान् कृष्ण के लिये भी प्रयुक्त हुआ है और अर्जुन के लिए भी। अन्तर केवल इतना ही है भगवान् के लिए एक बार, अर्जुन के लिए ७ बार इसका प्रयोग हुआ है। एक बात और दृष्टव्य है, अर्जुन ने भगवान् को मात्र कृष्ण कहकर भी पुकारा है और वह भी १० बार। पहले अध्याय से लेकर १८वें अध्याय तक। इससे इनके सखा होने की पुष्टि होती है। वैसे साले बहनोई थे ही।

एक और दृष्टि से हम हमारे इस अध्ययन को आगे बढ़ाना चाहते हैं कि किस-किस अध्याय में कौन-कौन से नाम आये हैं। इसकी तालिका भी हम नीचे दे रहे हैं।

अध्याय	कृष्ण के नाम	अर्जुन के नाम
१	कृष्ण, माधव, हृषीकेश, अच्युत, केशव, गोविन्द, मधुसूदन, जनार्दन, वार्ष्णेय	अर्जुन, पाण्डव, धनञ्जय, कपिध्वज, गुडाकेश, पार्थ, कौन्तेय, भारत
२	अरिसूदन, हृषीकेश, केशव, गोविंद, मधुसूदन	अर्जुन, भारत, परंतप, पुरुषर्षभ, महावाहो, पार्थ, कुरुनन्दन, धनंजय, गुडाकेश कौन्तेय
३	वार्ष्णेय, केशव, जनार्दन	अनघ, भरतर्षभ, पार्थ, कौन्तेय, अर्जुन, भारत, महाबाहो, अनघ
४	—	कुरुसत्तम, धनञ्जय, पार्थ, अर्जुन, परंतप, भारत, पाण्डव
५	कृष्ण	कौन्तेय, महाबाहो, गुडाकेश
६	कृष्ण, मधुसूदन	तात, पाण्डव, अर्जुन, महाबाहो, कुरुनन्दन, कौन्तेय
७	वासुदेव	परंतप, धनञ्जय, पार्थ, अर्जुन, भारत, भरतर्षभ, महाबाहो, कौन्तेय
८	मधुसूदन, पुरुषोत्तम	पार्थ, कौन्तेय, अर्जुन, भरतर्षभ
९	—	पार्थ, धनञ्जय, कौन्तेय, अर्जुन, परंतप
१०	केशव, जनार्दन, पुरुषोत्तम, भगवन, भूतभावन, भूतेश, देवदेव, जगत्पते, विष्णु	कुरुश्रेष्ठ, अर्जुन, परंतप, महाबाहो, पार्थ

अध्याय	कृष्ण के नाम	अर्जुन के नाम
११	महाबाहो, महात्मन्, कृष्ण, अच्युत, केशव, वासुदेव, महात्मा, अनन्तरूप, अनन्त वीर्य, सर्व, अनन्त विक्रम, सखा, पुरुषोत्तम, देववर, आद्य, परमेश्वर, कमलपत्राक्ष, परमेश्वर, प्रभो, योगेश्वर, हरि, विश्वेश्वर, विश्वरूप, विष्णु देवेश, जगन्निवास, देववर, हरि, महात्मन, अनन्त, यादव, सहस्त्रबाहु, विश्वमूर्ति, जनार्दन, हृषीकेश, कृष्ण, पुरुषोत्तम, महायोगेश्वर	सव्यसाचिन, कुरुप्रवीर, पार्थ, भारत, परंतप, अर्जुन, धनञ्जय, पाण्डव, गुडाकेश, पार्थ
१२	—	पार्थ, गुडाकेश, धनञ्जय, पाण्डव
१३	—	कौन्तेय, भारत, भरतर्षभ
१४	प्रभो	भरतर्षभ, कुरुनन्दन, भारत, कौन्तेय, पाण्डव, महाबाहो, अनघ
१५	पुरुषोत्तम	भारत, अनघ
१६	—	पाण्डव, कौन्तेय, भारत, पार्थ
१७	कृष्ण	पार्थ, भारत, भरत श्रेष्ठ
१८	कृष्ण, हृषीकेश, योगेश्वर महाबाहो, केशिनिसूदन, हरि, वासुदेव, अच्युत, केशव	धनञ्जय, परंतप, महाबाहो, भरतर्षभ, पार्थ, कौन्तेय, भारत, भरतसत्तम, पुरुष व्याघ्र, अर्जुन।

इस उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि भगवान् कृष्ण का कोई भी नाम अध्याय ४ ९, १२, १३, व १६ में कतई नहीं आया है। जबकि अर्जुन का कोई न कोई नाम सभी १८ अध्यायों में आया है। दोनों के ही सर्वाधिक नाम ग्यारहवें अध्याय में आए हैं। भगवान् कृष्ण के जहाँ ३८ नाम आए हैं वहाँ अर्जुन के १० नाम आए हैं। वैसे अर्जुन के १०-१० नाम दूसरे व १८वें अध्याय में भी आए हैं। वैसे इसके पीछे कोई तर्क नहीं है। न इस तालिका में ऐसा कोई गूढ तत्त्व या रहस्य छिपा है जिसकी कोई व्याख्या अपेक्षित हो। यह सब अनायास है। जितने जहाँ आवश्यक हैं वहाँ उतने नाम आए हैं। ग्यारहवाँ अध्याय अर्जुन द्वारा भगवान् की प्रार्थना का, स्तुति का अध्याय है अतः इसमें योगेश्वर कृष्ण के २० नाम आ गये तो कोई आश्चर्य नहीं है।

इन सम्बोधनों की मूल-प्रसंग-श्लोक के साथ क्या प्रासंगिकता है; यह देखना सचमुच में काव्य सौन्दर्य देखना है। गीताकार की काव्य कुशलता देखना है। यदि हम कवि दृष्टि से इन सम्बोधनों की सार्थक अर्थवत्ता पर विचार करें तो हमें कवि कर्म की कुशलता का मन ही मन बड़ा आनन्द आएगा। मैं यह नहीं कहता कि सारे ही सम्बोधनों के पीछे यह रहस्य है। कुछ सम्बोधन केवल छन्द

पूर्ति के ही लिए है, कुछ सम्बोधन शब्द कवि ज्ञान के द्योतक हैं लेकिन अधिकांश सम्बोधन विषय की सार्थकता ग्रहण किए हैं।

हम कृष्णार्जुन के इन सम्बोधनों पर एक-एक कर जहाँ-जहाँ वे आए हैं उनकी प्रासंगिकता एवं अर्थवत्ता देखते हुए उन पर विचार करते हैं—

(१) कृष्ण नाम १।२८, ३२,४१; ६।३४, ३७, ३९; ११।३५, ४१; १७।१ तथा १८।४८ में आया है।

भगवान् कृष्ण का मूल नाम कृष्ण है। भगवान् को दुःख के समय ही स्मरण किया जाता है। अतः जहाँ जहाँ भी कृष्ण नाम सम्बोधित किया गया है वहाँ वहाँ दुःख या कठिनाई का क्षण अवश्य है। इस नाम में सहायता का भाव, करुणा, कृपा, दया का, ममत्व का भाव छिपा है। श्लोक १।२८ में अर्जुन कहता है—'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्, सीदन्ति मम गात्राणि........ आदि।' एक दुःख का भाव अर्जुन के मन में है। वह अपनी विषाद व्यथा भगवान् से कहता है उस समय 'कृष्ण' नाम का सम्बोधन निश्चय ही सार्थक हो गया है। हे कृष्ण ! मेरी सहायता करो, मुझे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान दो। यह याचना कृष्ण से ही की जा सकती है। यही भाव २।३२ व २।४१ मे चलता है। पहला अध्याय है भी तो विषाद योग का ही। क्यों न कृष्ण नाम ऐसी याचना के समय स्मरण आए। वैसे कृष्ण का मूल अर्थ है अपनी ओर खींचने वाला। दुःखियों को अपनी ओर खींचने वाला कृष्ण ही है।

श्लोक ६।३४ में भी अर्जुन के सम्भव बलवान् प्रमथकारी मन की चंचलता तथा वायु के समान उसके दुष्कर निग्रह का प्रश्न समुपस्थित है। वह भगवान् से फिर अनुनय विनय करता है तब कृष्ण नाम से उन्हें सम्बोधित करता है। इस नाते यह सम्बोधन कृष्ण कितना सार्थक हो गया है।

विलेखन के अर्थ में जो 'कृष्' धातु है उसका रूप कृष्ण है। भक्त जन पापादि दोषाकर्षणात् कृष्णः।' भक्त जनों के पापादि को निवृत्त करने वाले होने के कारण भगवान् का नाम कृष्ण है। मन, बुद्धि और आत्मा को बाह्य इन्द्रियों के विषयों की ओर खीचे लिए जाता है। उस आकर्षण के मुकाबले दूसरा उससे अधिक आकर्षण वाला चाहिये। वह स्वयं कृष्ण के अतिरिक्त और कौन हो सकता है। इस तरह यहाँ कृष्ण शब्द का प्रयोग सार्थक हो उठा है।

श्लोक ६।३७ व ३९ में अर्जुन के समक्ष श्लोक १।२८, ३२, ४१ की ही भांति सशय की विकट स्थिति समुपस्थित है। दोष निवृत्ति ही तो कृष्ण का काम है। अतः यहाँ इस भाव में यह सम्बोधन सार्थक हो गया है।

श्लोक ११।३५ का सौन्दर्य देखिए। केशव में सामर्थ्य है शत्रुपक्ष को मरा हुआ, मारा हुआ दिखाने की। जिनके प्रति अर्जुन को संमोह-व्यथा है। भगवान् से निमित्त मात्र बनने की बात सुनकर 'निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्' (११।३२) अर्जुन गद्गद् भाव से हाथ जोड़कर बोलता है; ऐसे समय के लिए ही तो कृष्ण

हैं। यह सम्बोधन कृष्ण, कितना सार्थक हो गया है। गीताकार ने शत्रु को मारने वाले केशव का प्रयोग उसी भाव के निमित्त तथा कृष्ण का उपयोग उसी दयामय भाव के लिए किया है। यह कवि कौशल है।

गीताकार ने स्वयं कृष्ण नाम से स्थान स्थान पर किये सम्बोधन का पृष्ठांकित अभिप्राय स्वयं प्रकट कर दिया है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ।।११.४१

आपकी महिमा को नहीं जानते हुए, समवयस्क सखा मानते हुए प्रमाद अथवा प्रणय भाव से आपको कृष्ण यादव सखा आदि जो सम्बोधन मैंने अनायास कर दिये हैं उनके लिए मुझे क्षमा करना। कृष्ण नाम गीता में अर्जुन ने किन किन भावनावश प्रयोग किया है (१) सखा भाव से (२) प्रमाद के भाव से तथा (३) प्रणयभाव से। सखा या समान वय के भाव से जो नाम पुकारा जाएगा वह वास्तविक नाम होगा। जैसा हम कह आए हैं, कृष्ण नाम मूल नाम है। अत: सखा भाव से कृष्ण सम्बोधन सार्थक हो गया है। जब आदमी विक्षिप्त चित्त होगा तब भी सामने वाले का असली नाम से भी नीचा जातिगत सम्बोधन करेगा। कृष्ण यादव थे अत: यादव कहना समीचीन रहा। और जब अधिक स्नेह सम्बन्ध होते हैं तब सखा मित्र आदि शब्दों से सम्बोधित करते है। सौन्दर्य देखिए, सखा भाव से कृष्ण तथा प्रणय भाव से सखा सम्बोधन कितना सार्थक हो गया है। इस श्लोक में तीन भाव के द्योतक तीन नाम कितने अर्थवान हो गए हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण............ ....

सखा भाव में प्रसन्नता, अपमान पूर्वक हठ का भाव होता है अत: कृष्ण नाम समवयस्क होने से हठापूर्वक लिया गया है। बलात्।

श्लोक १७.१ मे ही कृष्ण नाम सम्बोधन तथा १८.७८ में योगेश्वर के साथ कृष्ण का योग अपनी-अपनी सार्थकता लिए है। कृष्ण ही मनुष्य को सन्देहों से, पापों से निवृत्ति दिलाने वाले हैं। एक दया, करुणा, ममता का प्रच्छन्न भाव इससे जुड़ा है: जो मनुष्य शास्त्रविधि को न जानते हुए, किन्तु श्रद्धापूर्वक देवादि की पूजा करते हैं, उन विचारों की श्रद्धा कौनसी श्रेणी में आएगी? यह बात कृष्ण से ही पूछी जा सकती है, जो योगेश्वर हैं। योगेश्वर भी हर एक नहीं कृष्ण। योगेश्वर के साथ कृष्ण का योग हो जाने से कृष्ण का सम्मान नहीं, योगेश्वर का सम्मान बढ गया है। कौन योगेश्वर? कृष्ण। कहाँ विजय और श्री होगी? जहाँ योगेश्वर कृष्ण तथा धनुर्धर अर्जुन होंगे। गीता का अन्तिम श्लोक गीता के भाव-सार को प्रकट करने वाला है। लोक जीवन में योग और भोग के समन्वय का दिग्दर्शक महाश्लोक इसे कह सकते हैं। कृष्ण और अर्जुन दोनों प्रतीक हो गए हैं, एक योग का तथा दूसरा शक्ति पूर्वक भोग का। एक नि:श्रेयस का दूसरा अभ्युदय का। अकेला योग जीवन की सार्थकता नहीं है। कर्म का त्याग रूप संन्यास वरेण्य नहीं है। इसी तरह अकेली भौतिक शक्ति, ऐश्वर्य, वैभव; प्रमाद एव अहंकार के ही कारण है। उसे सन्तुलित

रखने के लिए समत्व बुद्धि योग की आवश्यकता है। योगेश्वर + धनुर्धर = कृष्ण + अर्जुन = सार्थक लोक जीवन। कृष्ण अर्जुन के विना अधूरे हैं और अर्जुन कृष्ण के विना। कृष्ण समत्व बुद्धि है। वे कैसे युद्ध कर सकते हैं? अर्जुन धनुर्धर है, महावीर है, युद्ध ही युद्ध जिसे पसन्द है क्षात्रधर्म के अनुसार; लेकिन भौतिक प्राणी होने से मोहग्रस्त होना स्वाभाविक है, अतः मोह से उसका उद्धार कोई योगेश्वर ही कर सकता है। इसलिए योग व भोग का समन्वय ही गीता का महान् संदेश है।

हमने कृष्ण नाम की सार्थकता तथा उसके प्रयोग के कारणों को देखा। माधव शब्द को लें। कौन युद्ध स्थल पर शंख में शंख फूंक सकता है? कोई महाभट योद्धा ही। 'माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।' (१.१४) मधु नामकाम दैत्य का नाश करने वाले माधव ही पाञ्चजन्य फूंक सकते हैं। वीर भाव का सूचक है माधव। शंखध्वनि भी वीर भाव की सूचक है। अतः यहाँ माधव सम्बोधन सार्थक हो गया है। जो मधु को मार सकता है वही स्वबन्धुओं को मारने की आज्ञा दे सकता है। मधु नाम काम का है। जो काम रूपी दैत्य का नाश कर सकता है वही मोहातीत रागातीत स्वबन्धुओं को मारने की शिक्षा दे सकता है। इस कारण श्लोक १.३७ में भी माधव सम्बोधन सार्थक हो गया है।

अब हृषीकेश को लें। हृषीकेश का अर्थ है जिसने इन्द्रिय को जय कर रखा है। ऐसा व्यक्ति या तो तात्त्विक विश्लेषण कर सकता है या भौतिक प्राणियों को पारमार्थिक ज्ञान दे सकता है। गीता में जहाँ जहाँ भी हृषीकेश शब्द भगवान् के लिए प्रयुक्त हुआ है वहाँ ऐसे ही सन्दर्भों में हुआ है। श्लोक १.१५ में अवश्य वीर भाव सूचक है। श्लोक १.२१ में व १ २४ में प्रकटतः तो कोई अर्थ नहीं दिखाई देता, हाँ गूढार्थ लगता है। रजोगुण प्रवृत्त अर्जुन भगवान् कृष्ण से रथ को सेनाओं के मध्य लगाने के लिए कहता है। हृषीकेश रथ को सेनाओं के मध्य स्थापित कर देते हैं। यहाँ हृषीकेश शब्द से भगवान् के इस निश्चय का ही प्रकटीकरण होता है कि मैं महाभारत के युद्ध में शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा। जो रजोगुण से कतई प्रभावित नहीं वह इन्द्रियजयी ही कहा जाएगा। इस सन्दर्भ में भगवान् को हृषीकेश शब्द से सम्बोधित करना अतीव सार्थक लगता है। क्या सारथी भी शंख बजाया करते थे, जो वेदव्यास ने भगवान् से पाञ्चजन्य घोष करवाया। क्या पाञ्चजन्य का परिचय देना ही तो उन्हें अभीष्ट न था? श्लोक २ ९ में अर्जुन अपना शोक व मोह भगवान् के सम्मुख कहता है। श्लोक २.१० में भगवान् ने अर्जुन के संसार बीज रूप शोक मोह के निवारणार्थ ज्ञान धर्म करना प्रारम्भ किया। अर्जुन ने जिससे कहा, वह गोविन्द, हृषीकेश होने से सुनने का पात्र है। सांसारिक सुनता तो तमोगुण से प्रभावित हो स्वय भी उसी प्रकार का हो जाता। अपना विषाद, अपना दु.ख उसीसे कहा जाता है जो निवारण क्षम हो। इसीलिए यहाँ हृषीकेश गोविन्द दोनों समानार्थक शब्द सार्थक हो गए हैं। इन दोनों की यही प्रासंगिकता है। भगवान् ने अपना विराट् विश्वरूप दिखाया। उसे देख जगत् का प्रहर्षित होना सहज है। सिद्ध संघों का नमन करना भी उचित है और राक्षस प्रवृत्ति वालों का भयभीत होना और भी समीचीन है। यह स्वरूप दर्शन केवल हृषीकेश ही करा सकते हैं। सामान्य व्यक्ति नहीं।

अतः हृषीकेश यहाँ योगेश्वर का पर्याय हो गया है। हृषीकेश ही ज्ञान देने का अधिकारी है। १८.१ श्लोक मे सन्यास व त्याग की वही व्याख्या कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से केवल १.१५ के अतिरिक्त जहाँ भी प्रयुक्त हुआ है वह योगेश्वर, तत्त्व ज्ञानी, समबुद्धि वाले के लिए ही प्रयुक्त हुआ है जो आवश्यक भी था। श्लोक १.२१ में ही अच्युत शब्द आया है। भगवान् का सारथी ही रहने का संकल्प है। अर्जुन दोनों सेनाओं के मध्य अपने रथ को स्थापित करने के लिए कहता है। यहाँ अच्युत शब्द सार्थक हो गया है। जो अपने सारथी धर्म से च्युत होने वाला नहीं है, वह अच्युत। कहां तो भगवान् सूचक अर्थ और कहां धर्म परायणता से न हटने वाला अर्थ। सार्थकता देखकर हृदय स्वय प्रसन्न हो उठता है। इससे सुन्दर दूसरा शब्द हो नहीं सकता था।

अब केशव शब्द को लें। केशव का अर्थ केशि नामक असुर को मारने वाला। केशिनिसूदन का भी यही अर्थ है। भगवान् ने घोर हिंसा का कार्य किया था। अर्जुन को भी भगवान् युद्ध में प्रवृत्त कराकर कौरवों का विनाश करवाना चाहते हैं। जहाँ इस तरह युद्ध प्रवृत्त करने को, युद्ध के घोर हिंसात्मक काम में लगाने की बात आई है गीताकार ने वहीं केशव या केशिनिसूदन शब्द का प्रयोग करवाया है। इन्हीं अर्थो में अरिसूदन और मधुसूदन को भी हम देखेंगे। इन चारों ही शब्दों को हम एक साथ ले रहे हैं। यदि इनका प्रयोग ऐसे ही स्थलों पर, ऐसी ही भावना के सदर्भ में हुआ है तो सार्थक है। शब्द की कोई अर्थवत्ता है अन्यथा श्लोक १.१५ की ही भाँति हम यहाँ भी वही बात कहेंगे। भगवान् अर्जुन को युद्ध प्रवृत्त कर रहे हैं। उसका रथ उसकी इच्छानुसार दोनों सेनाओं के मध्य खडा कर दिया। पाञ्चजन्य भी फूँक दिया और क्या चाहिए था। केशव का यही तो भावार्थ है। घोर युद्ध कर्म म प्रवृत्त करना। यदि ऐसे प्रवर्तक को श्लोक १.३१ में अर्जुन केशव शब्द से सम्बोधित करता है तो कोई अन्यथा नहीं करता। केशव शब्द प्रासंगिक हो उठा है। लेकिन श्लोक २.५४ में ऐसे अर्थ का अनर्थ हो रहा है। केशव से अर्जुन स्थितप्रज्ञ की भाषा का अर्थ पूछना है। यह तो जनार्दन हृषीकेश गोविंद से ही पूछा जाना चाहिए था। लेकिन ३.१ में केशव सार्थक हो उठा है। 'तत्कि कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।' किसी और अर्थ की अपेक्षा ही नहीं लगती। इसी तरह १०.१४ में अर्जुन केशव नाम से भगवान् को सम्बोधित कर कहता है आप जो कुछ कह रहे हैं उसे मैं ऋत नाम सत्य मानता हूँ। भगवान् ने अपनी विभूतियो की विस्तार से व्याख्या कर अपने अलौकिक स्वरूप के शाब्दिक विवेचन तक अर्जुन को इतना प्रभावित कर दिया कि वह कहा उठा—'सर्वमेतदृतं मन्ये।' सब सत्य मानता हूँ। आप युद्ध में केशव, मुझे लगा रहे हैं। वह भी ठीक ही होगा। प्रकारान्तर से केशव शब्द यहाँ और भी अधिक सार्थक हो गया है। भगवान् का योग की विभूतियों व चमत्कार दिखाने के पीछे एक ही तो गूढार्थ था, अर्जुन का शोक व मोह दूर करना व उसे युद्ध प्रवृत्त करना।

इसी तरह श्लोक १.३५, २.१, ६.३३ व ८.२ में मधुसूदन शब्द एक ऐसे वीर के लिए प्रयुक्त हुआ है जो अपनी शक्ति से मधु दैत्य का वध कर चुका है।

यह परीक्षित है। अतः वह जो कहता है युद्ध प्रवृत्त होने के लिए उसे ठीक मानना ही चाहिए। ठीक मानते हुए भी अर्जुन मन की चंचलता के सम्बन्ध में, देह में स्थित अधियज्ञ के सम्बन्ध में, जिज्ञासा मूलक प्रश्न करता है। निजी लोभ के वशीभूत दूसरों को मारने से कतराने के संदर्भ में युद्ध प्रवृत्त करने वाले को मधुसूदन कहना उचित ही है जैसा हम श्लोक १.३५ में देखते हैं। करुणासिक्त शोकातुर प्रवह अश्रु अर्जुन को मधुसूदन ही कोई उपदेश कर सकते हैं। जैसा अर्जुन को श्लोक २.१ में भगवान् उपदेशार्थ प्रवृत्त हुए हैं, श्लोक २.४ में मधुसूदन और अरिसूदन दोनों साथ साथ प्रयुक्त हुए हैं। होने भी चाहिए। समानार्थक जो हैं। यदि कोई भिन्नार्थ शब्द आ जाता तो गीताकार का कवि कर्म संवलित हो जाता। श्लोक १८.१ में जहाँ हृषीकेश के साथ केशिनिसूदन शब्द भी सम्बोधन होकर आया है, वह प्रकटतः थोड़ा अटपटा लगता है। लेकिन केशिनिसूदन की पृष्ठभूमि में जाएँ तो फिर अर्थ सार्थक लगने लगेगा। केशि नामक असुर ने छल से घोड़े का रूप धारण कर लिया था। भगवान् ने उस छल को उसके वास्तविक अर्थ को जान उसे मार लिया अतः वे केशिनिसूदन कहलाए। यहाँ भी स्पष्टार्थ जानने वाला केशिनिसूदन अकेला ही नहीं साथ में हृषीकेश भी इस संन्यास व त्याग के वास्तविक अर्थ को कह सकते हैं। अतः एक साथ जहाँ जहां दो सम्बोधन आए हैं वे पहले सम्बोधन को बल देने के निमित्त या दोनों मिल कर एक सामर्थ्य अर्जित करने के निमित्त प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ १८.१ में हृषीकेश व केशिनिसूदन की संयुति इसी बल प्रवर्धन के भाव की द्योतक है। जनार्दन शब्द का अर्थ है जन को निःश्रेयस की ओर ले जाने वाला। अब हम देखते हैं जहां जनार्दन शब्द आया है क्या अर्जुन को निःश्रेयस की प्रेरणा देने के अर्थ में आया है या नहीं? श्लोक १.३६ में अर्जुन उन भगवान् से जो जनार्दन हैं, पूछ रहा है कि इन धार्तराष्ट्रों के मारने से हमें क्या प्रसन्नता होगी, प्रत्युत हमें पाप ही लगेगा? इस प्रश्न का उत्तर जनार्दन ही दे सकते हैं। क्या पाप है और क्या पुण्य, क्या श्रेयस है, क्या प्रेयस? इसका विवेचन जनार्दन ही कर सकते हैं। अतः यहाँ जनार्दन शब्द सार्थक हो गया है। इसी तरह कुल क्षय के पाप से बचने का उपाय तथा कुल धर्म नष्ट होने पर नरक वास से मुक्ति की बात भी जनार्दन से ही पूछी जानी चाहिए। कोई ज्ञानी ही यह तत्त्वार्थ समझा सकता है। श्लोक १.३९ व १.४४ में प्रयुक्त जनार्दन इस कारण सार्थक प्रयोग हो गया है।

भगवान् अर्जुन को उसके प्रयुक्त प्रश्नों के संदर्भ में ज्ञान का उपदेश देते हैं तो अर्जुन प्रतिप्रश्न भी उन्हीं जनार्दन से ही करेगा न? यही ३.१ में हुआ है। यदि ज्ञान श्रेष्ठ है तो हिंसा के कर्म में क्यों लगते हैं, ऐसा निःश्रेयस बुद्धि से प्रश्न करता है जो उचित है। भगवान् ने कर्म प्रेरित करते हुए अपनी योग विभूति का दिग्दर्शन कराया। योग विभूति को विस्तार से जनार्दन ही कह सकते हैं। श्लोक १०.१८ में जनार्दन सम्बोधन इस नाते सार्थक हो गया है। भगवान् ने विश्वरूप दिखाया तो अर्जुन का मन भयभीत व आश्चर्यचकित हुआ। उसने सौम्यरूप दिखाने की प्रार्थना की तो भगवान् ने सौम्य रूप दिखाया। इस योगैश्वर्य ने अर्जुन के मन में वास्तविक स्थिति को दृढ़ मूल कर दिया। इस विराट् ज्ञान को जनार्दन ही दे सकते हैं। वे जन जो भौतिक प्राणी हैं, शोक मोह से सन्तप्त हैं उन्हें निःश्रेयस की ओर

जनार्दन ही ले जा सकते हैं। श्लोक ११.५१ में प्रयुक्त जनार्दन शब्द सर्वथा समीचीन है और दसवें व ग्यारहवें अध्याय के संदर्भ में अर्थवान हो गया है।

वार्ष्णेय शब्द जनार्दन से सर्वथा भिन्नार्थक है। जनार्दन जहां कृष्ण के निःश्रेयसभाव का वाचक है, वहां वार्ष्णेय कृष्ण के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का वाचक है। यह यादव से कई तरह से अधिक श्रेष्ठ शब्द है। यादव तो जाति सूचक लघुभावात्मक हो गया है। जो श्लोक ११.४१ में केवल संवाद रूप में आया है, सम्बोधनरूप में आया भी नहीं है। गीता में अर्जुन ने यहाँ यह कहा है कि यादव सखा आदि सम्वोधनों से मैंने आपको प्रमाद रूप से पुकारा है। लेकिन गीता में यहां के अतिरिक्त हम ये दो शब्द अन्य किसी स्थान पर नहीं देखते हैं। यादव तो कृष्ण का नाम प्रतीकात्मक अर्थ में ही हो सकता है। सखा तो केवल सख्य भाव का सूचक भर ही है उससे कृष्णार्थ निकालें, सम्यक् नहीं लगता।

पुरुषोत्तम सम्वोधन ८.१, १०.१५ व ११.३ में आया है। पुरुषोत्तम ही सृष्टि विज्ञान और योगिक स्वरूप का परोक्ष व प्रत्यक्ष स्वरूप बता सकते हैं। तीनों स्थलों पर इन्हीं संदर्भ में पुरुषोत्तम शब्द का प्रयोग हुआ है जो सार्थक है।

अध्याय ११, जैसा हम जानते हैं, भगवान् के विश्वरूप व सौम्यरूप दर्शन के वाद ज्ञानाभिभूत बुद्धि से सहस निसृत स्तुतियों का समुच्चय है। अतः परमेश्वर, प्रभो, योगेश्वर, हरि, विश्वेश्वर, विश्वरूप, विष्णु, देवेश, जगन्निवास, देववर, महात्मन्; अनन्त, सहस्रवाहु, विश्वमूर्ति आदि शब्द आना स्वाभाविक है। ईशत्व एक योग सिद्धि है। जो इस सिद्धि को प्राप्त कर ले वही ईश्वर है। लेकिन परम ईशत्व वाला परमात्मा ही है। भगवान् ने अपना स्वरूप परम ईशत्व का अर्जुन को बतलाया। अतः उन्हें परमेश्वर शब्द कहना युक्तियुक्त है ही। भगवान् योग का ऐश्वर्य ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य व तेज का अर्जुन के समक्ष प्रदर्शन कर रहे हैं जो योगियों के लिए भी अतीव दुर्लभ है। ऐसे स्वरूप का प्रदर्शन करने वाला निश्चय ही योगेश्वर है। वही प्रभो है, स्वामी है। बड़े सार्थक व कृष्ण के योगेश्वर स्वरूप के सफल वाचक सम्वोधन हैं। योगेश्वर और महायोगेश्वर शब्द उत्तरोत्तर ऐश्वर्य के प्रवाचक हैं। हरि विष्णु शब्द पूर्व ऐतिहासिक सन्दर्भ लिए हैं। विष्णु भी योगेश्वर हुए हैं। वे हरि नाम से भी जाने जाते हैं। हे कृष्ण! तुम्हारा योगेश्वर रूप वही है जो कृतयुग मे विष्णु या हरि का था। आपमें साक्षात् उन्ही का अवतरण है। अतः प्रतीकात्मक ढंग से कृष्ण को ही विष्णु या हरि सम्वोधन किया गया है।

अनन्त, विश्वतोमुख, विश्वरूप, विश्वमूर्ति, जगन्निवास, विश्वेश्वर सर्वतः परमेश्वर की व्याप्ति के सूचक हैं, भगवान् की विराटता के सूचक हैं। अतः ये विशेषण, सम्वोधन सर्वथा सार्थक हैं। वही सहस्रवाहु हैं, वही देववर हैं, देवेश हैं।

महावाहु होना बड़े महापुरुषों का लक्षण है। वीर पुरुषों का लक्षण है। अतः भगवान् के लिए तथा अर्जुन के लिए दोनों ही के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग परस्पर हुआ है। जो समीचीन है।

इस तरह हम देखते है कि युद्ध प्रवृत्त करने के संदर्भ में अरिसूदन मधुसूदन केशिनिसूदन आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है। पाप पुण्य का, निःश्रेयस का विश्लेषण करने के संदर्भ में जनार्दन, गोविंद, हृषीकेश आदि सम्बोधन आए हैं। सृष्टि विज्ञान एवं ज्ञान के सदर्भ मे पुरुषोत्तम आदि का तथा विराट्रूप प्रदर्शन के पश्चात् महायोगेश्वर, योगेश्वर, परमेश्वर, विश्वमूर्ति, विश्वरूप, सहस्रबाहु आदि सम्बोधन आए हैं। कहीं किसी शब्द से उसके वाचक भाव का अतिक्रमण हमे नही मिलता। कृष्ण के नाम को हम इस तरह ३ विभिन्न भाव सूचकों में बांट सकते हैं।

इसी तरह हम अर्जुन के नामों की सार्थकता का यहाँ समासतः सक्षेप मे विश्लेषण करेंगे।

अर्जुन के गीता में आए २२ विभिन्न नामों को हम निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं—

(१) वंशसूचक सम्बोधन—जैसे पाण्डव, पार्थ, कौन्तेय, भारत, कुरुनन्दन, भरतर्षभ, कुरुसत्तम, भरतसत्तम, भरत श्रेष्ठ, कुरुश्रेष्ठ, कुरुप्रवीर आदि।
(२) वीरता सूचक सम्बोधन जैसे— धनञ्जय, पुरुषर्षभ, महाबाहो, पुरुष-व्याघ्र आदि।
(३) गुणात्मक सम्बोधन—जैसे गुडाकेश, परतप, अनघ आदि।
(४) चिन्तात्मक सम्बोधन—जैसे कपिध्वज आदि
(५) शिष्यात्मक सम्बोधन— तात् आदि। तथा
(६) मूल नाम अर्जुन।

वंश सूचक सम्बोधन-शब्दों का प्रयोग श्रेष्ठ वश परम्परा जिसमें शौर्य, गाम्भीर्य, औदार्य्य, उत्साह, ज्ञान, वीरता आदि गुणों का वैपुल्य रहा है, दिखाने के निमित्त हुआ है। ऐसे शब्दों का प्रयोग उत्साह भाव को बढाने के सन्दर्भ में हुआ है। अर्जुन में प्रारम्भ से ही हम विषाद, शोक, सम्मोह का प्रवृद्ध भाव देखते हैं। अर्जुन में पुन. क्षात्र तेज, युद्ध कामना, विजयाकांक्षा, आत्मविश्वास आदि जगे; इस निमित्त ऐसे वंश परम्परागत श्रेष्ठ पुरुषों के अवतंस के रूप मे बार बार स्मरण कराना आवश्यक है। भरत और कुरु, ऐसे ही नाम है जो अपने तेज एवं प्रताप के कारण विश्वविश्रुत रहे हैं। अपने को उनको परम्परा में मानना एक गौरव की बात है। दूसरा यह कहकर, आप ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों के वंशज हैं, उनके रूप के धारक हैं, फिर आप में वह तेज क्यों नहीं दिखता। वह आप में है उस स्मरण कर उसे जगायें। पाण्डु पृथा या कुन्ती नाम भी गीताकार ने श्रेष्ठता के संदर्भ में ही लिए हैं। कुन्ती के सम्बन्ध में मेरा मत वैभिन्य है। लेकिन उसके साहस पर मैं लट्टू हूँ। उसकी कायरता पर भी मुग्ध हूँ। कुँआरी थी तभी गर्भ धारण करने का उसमें साहस था। विवाहिता होने के पश्चात् पति असमर्थ मिला तो पर पुरुषों के साथ नियोग करने का उसमें साहस था। वह सचमुच मानवी थी। वह इसलिए भी धन्य है कि उसने राजरानी होते हुए कष्ट उठाए। वह

इसलिए भी धन्य है कि उसकी कोख से महावीर पुत्र उत्पन्न हुए। अस्तु। यहाँ यह प्रसंग भी नहीं है। अर्जुन ने वर्ण संकरता के प्रति इतना विषाद व क्लेश प्रकट किया है। पर क्या वह स्वयं वर्ण संकर न था। क्या वह सचमुच पाण्डव था? हाँ, वह पार्थ था वह कौन्तेय था। मातृ पक्ष से उसे सम्बोधित किया जा सकता है। लेकिन नियोग उस समय एक वैध उपाय था, अत गीताकार ने अर्जुन को पाण्डव कहा है। कुन्ती ने पाण्डु के प्रति कहीं अपनी निष्ठा भंग की हो, ऐसा भी नहीं लगता। पाण्डव सम्बोधन कोई दिव्यता या श्रेष्ठता सूचक सम्बोधन न होकर वंशानुगत सम्बोधन भर है।

वीरता सूचक सम्बोधन-उत्साह भाव की वृद्धि करने के निमित्त प्रयुक्त हुए हैं। धनञ्जय वह, जिसने राजाओं और देवताओं को युद्ध में जीतकर उनका धन हरण किया हो। पुरुषर्षभ वह जो पुरुषों में श्रेष्ठ हो। इसे दार्शनिक भाषा में पुरुषोत्तम से पृथक् माना जाना चाहिए। वैसे पुरुष ऋषभ = पुरुषर्षभ और पुरुष + उत्तम = पुरुषोत्तम समानार्थक हैं। ऋषभ का अर्थ है श्रेष्ठ। श्रेष्ठ व उत्तम का जब हम अर्थ गाम्भीर्य देखते हैं तो उत्तम श्रेष्ठ से अधिक भावमूलक लगता है। श्री से जो युक्त वह श्रेष्ठ। श्रीयुत होना एक गुण है; लेकिन उत्तम होना सर्वत: श्रेष्ठता का सूचक है। श्रेष्ठ जहाँ एक वाची है वहाँ उत्तम सर्ववाची है। फिर तम के बाद कोई अन्य प्रत्यय रहता नहीं जो उच्चता का सूचक हो। इसलिए पुरुषोत्तम केवल भगवान् है और पुरुषर्षभ धनुर्धर अर्जुन। महाबाहु के सम्बन्ध में हम भगवान् कृष्ण के प्रसग में लिख चुके हैं। पुरुष व्याघ्र का प्रयोग शक्ति का, वीरता का सूचक है। पुरुष की व्याघ्र से उपमा देना उसे हिंसक बनाना है, या पुरुष से पशु बनाना है। गीताकार ने १८/४ में जहाँ त्याग के त्रिविध भेद बताये हैं वहाँ पुरुष व्याघ्र का उपयोग किया है। त्याग का ज्ञान किसे दिया जाना चाहिए? जो भोग में पशु तुल्य हो। आध्यात्मिक भाषा में भोगी पशु ही तो है। योग ही भोग को संयत करता है। पशु से पुरुष बनाता है। अत: अर्जुन को इस त्याग ज्ञान के संदर्भ में पुरुष व्याघ्र शब्द से सम्बोधित करना सार्थक हो गया है।

गुणात्मक सम्बोधन, व्यक्ति विशेष के गुणों के प्रदर्शन के लिए तो किया जाता ही है, लेकिन जब व्यक्ति उन गुणों को धारण किये हुए भी माया के वशीभूत होकर विपरीत आचरण करता है, तब बार-बार उसके गुण विशेष का उसे स्मरण कराया जाता है। गीताकार ने गुडाकेश परतप अनघ जैसे विशेषणों का प्रयोग इससे भी भिन्न सन्दर्भों में किया है। जैसे गुडाकेश श्लोक १/२४ में पहले वाले सन्दर्भ में आया है। श्लोक २/९ में प्रयुक्त गुडाकेश ठीक विपरीत स्थिति बताने के सन्दर्भ में आया है। निद्रा तक को जीतने वाला अर्जुन मोहग्रस्त होकर, युद्ध विमुख होकर चुप हो गया। कहाँ वह गुडाकेशी रूप और कहाँ वह क्लीवता का अकीर्तिकर अस्वर्ग्य अनार्य जुष्ट भाव। श्लोक ११/७ में गुडाकेश यथार्थ अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भगवान् अपने एक ही शरीर में सम्पूर्ण विश्व का दर्शन करा रहे हैं। वास्तव में योग के इन चमत्कारों को सामान्य व्यक्ति नहीं देख सकता। इनके लिए कोई गुडाकेश ही समर्थ है। अत: यह सम्बोधन सर्वथा सार्थक

बन पड़ा है। यह अर्जुन के निद्राजयी योग साधक व्यक्तित्व का दिग्दर्शक है। अर्जुन को श्लोक ३/३ में अनघ शब्द से सम्बोधित किया। भगवान् ज्ञान व कर्म का पाठ पढ़ा रहे हैं। इस ज्ञान को कौन अर्जित कर सकता है। प्राथमिक आवश्यकता हृदय के अनघ रूप की है। अर्जुन का हृदय निष्पाप है अतः वह ज्ञानाधिकारी है। अनघ सम्बोधन इस प्रकार सार्थक हो गया है। परंतप, पर को तपाने वाला—शौर्यरूपी किरणों वाला तेजस्वी भानु, यह भाव है। अर्जुन परंतप है तभी तो उसके लिए भगवान् ने श्लोक २/३ में नैतत्त्वय्युपपद्यते' यह तुम्हारे लिए शोभाजन्य नहीं है, ऐसा कहा है। सामान्य व्यक्ति से ऐसा थोड़े ही कहा जा सकता है। हाँ श्लोक २/९ में गीताकार ने धृतराष्ट्र के लिए परंतप शब्द का प्रयोग कर दिया है। जो अच्छा नहीं लगा। धृतराष्ट्र का ऐसा कोई कार्य हमारे सामने महाभारत तक में नहीं आता। हाँ, नाम अवश्य ऐसा है मानो वही सारे राष्ट्र की धारणा किए हो। अस्तु ! यह यहाँ विषय भी नहीं है। श्लोक ४/२ में परतप का प्रयोग बड़ी अर्थवत्ता लिए है। जिस निष्काम कर्म योग का भगवान् उल्लेख कर रहे हैं उसका बड़ी पीड़ा के साथ उल्लेख कर रहे हैं कि हे तेजस्वी अर्जुन, जिस महान् योग को विवस्वान, मनु, इक्ष्वाक आदि राजागणों ने एवं उसके पश्चात् राजर्षियों ने जाना वह कालान्तर में नष्ट हो गया। यह दुःख गाथा सामान्य पुरुष के आगे नहीं कही जा सकती। सामान्य पुरुष के सामने कहने का कोई अर्थ ही नहीं है। सामर्थ्यवान से ही कोई करणीय बात कही जाती है। उस महान् योग को भगवान अवतार लेकर अर्जुन जैसे परंतप से ही कह सकते हैं। कितना सार्थक सम्बोधन है। श्लोक २.५ में भी यही भाव है। वहाँ पहली पंक्ति में अर्जुन ही सम्बोधन है। क्योंकि वहां किसी विशेषण प्रधान सम्बोधन की आवश्यकता ही नहीं है। तुम्हारे व मेरे बहुत से जन्म व्यतीत हो गए हैं। उन्हें मैं जानता हूँ। हे परंतप ! तुम उन्हें नहीं जानते। यहां अर्जुन भी कहा जा सकता था। लेकिन उसको जानने की क्षमता किसी परंतप में ही सम्भव है अतः यह प्रयोग हुआ है। श्लोक ४.३३ में भी द्रव्य सम्भूत यज्ञ से ज्ञान यज्ञ को श्रेष्ठ होने का उपदेश परंतप को ही दिया है, पार्थ को नहीं। श्लोक ७.२७ में भी यही भाव है। यही श्लोक ९.३ में है। भगवान् ज्ञान परंतप को दे रहे हैं और विभूति ज्ञान देते हुए कहते हैं 'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतिनां परंतप।' (१०.४०) भगवान् ने श्लोक ११.५४ तक आते आते परंतप से कह ही दिया, मैं अनन्य भक्ति से न केवल जाना जा सकता हूँ, प्रत्यक्ष देखा भी जा सकता हूँ और प्राप्त भी किया जा सकता हूँ (११.५४)। श्लोक १८.४१ तक आते आते भगवान् अपनी लौकिक शक्ति का विश्लेषण करते हुए परंतप अर्जुन से ही कहते हैं कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र ये चातुर्वर्ण्य त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तथा पूर्व संस्कारों के स्वभाववश प्रभूत गुणों के द्वारा ही विभक्त हैं। इस तरह हम देखते हैं भगवान् से ज्ञान श्रवण का अधिकारी परंतप ही है। वैसे भी क्षत्रिय स्वभाव सत्त्व मिश्रित रजोगुण प्रधान होता है। ज्ञान के लिए सत्त्व तथा कर्म के लिए रजोगुण दोनों का होना आवश्यक है। ब्राह्मण तो सत्त्वगुण प्रधान होने से शांत होता है। वैश्य तम मिश्रित रजोगुणी होने से सदैव चेष्टायुक्त होता है; लेकिन शूद्र का रजोगुण मिश्रित तमोगुणी स्वभाव मूढता एवं

अज्ञानता लिए होता है। वैश्य से क्षत्रिय अधिक ज्ञान के व शांति के निकट होता है। अत: वह निष्काम कर्मयोग के लिए सर्वाधिक उपयुक्त पात्र है।

एक स्थान पर भगवान् ने अर्जुन के लिए तात शब्द का प्रयोग किया है। उसका कारण है अर्जुन को भगवान् महान् निष्काम कर्मयोग का या यों कहें बुद्धि योग का ज्ञान दे रहे हैं। अर्जुन शिष्यवत है। शिष्य पुत्र के समान होता है। पुत्र को तात कहते हैं। वैसे यह माना जाता है कि पिता पुत्र रूप में आत्मा का विस्तार करता है अत: पिता को भी तात कहा जाता है। आत्मा होने से पिता ही पुत्र है अत: पुत्र भी तात। इस तरह यहां तात् शब्द के आने से यह अभिप्राय तो स्पष्ट हो गया कि अर्जुन के प्रति भगवान् परम्परा से चले आ रहे महान् योग धर्म के कालान्तर में विस्मृत हो जाने से उसके पुनर्जागरण हेतु अर्जुन से ही कह रहे हैं। अर्थात् अर्जुन विवस्वान आदि की भांति भगवान् का पहला व्यवहारी शिष्य है। इस छठे अध्याय के बाद ही ईश्वर विषयक तत् ज्ञान का प्रारम्भ होता है। अत: उस ज्ञान से पहले शिष्य चाहिए, वह श्लोक ६.४० से तैयार हो गया। शिष्यता की मानो अर्जुन को स्वीकृति मिल गई।

जहां अर्जुन शब्द से सम्बोधन आया है वहां कोई गूढ ईश्वरीय उपदेश न होकर सहज भाव का उल्लेख हमें मिलता है।

इस तरह हम देखते हैं कि गीताकार ने ३ रूपों में भगवान् के विविध नाम प्रयुक्त किए हैं और छह रूपों में अर्जुन के नाम। यह विश्लेषण यद्यपि लम्बा हो गया है; और भी लम्बा हो सकता है; हमने जान बूझकर इसे विस्तार नहीं दिया है क्योंकि यह कोई तात्त्विक बात न होकर एक श्रम साध्य शोध का विषय भर है। उसी शोध मार्ग पर थोड़ा चलकर हमने विविध नाम सम्बोधनों की व्यावहारिक अर्थवत्ता तथा श्लोकों के साथ उनकी प्रासंगिकता को खोजने की कोशिश की है। देखने में जो ऐसे लगते थे मानों केवल छन्द पूर्ति का ही यह एक कलात्मक उपक्रम है; वास्तव में एक गूढ प्रासंगिकता, श्लोक के भावार्थ से जुड़ी हमें हर सम्बोधन में मिलती है। भाव एवं शब्द का यह सुन्दर सामञ्जस्य गीताकार के काव्य चमत्कार, बुद्धि चातुर्य्य एवं कवि कर्म कौशल का प्रतिपादक है। □

प्रसिद्ध सूक्तियां

गीता का वैसे तो प्रत्येक श्लोक अपने में एक सूक्ति है; पर जिसे वास्तव में सूक्ति कहते हैं, जिसके लिए यह शब्द रूढ़ हो गया है; उसके लिए कुछ अनिवार्यताएँ हैं; जिनका उस वाक्य या वाक्यांश में होना आवश्यक है। जैसे संक्षिप्तता, सरलता, सार्वभौमता, स्पष्टता, पूर्णता तथा व्यवहार्यता। यदि वाक्य इतना बड़ा है कि उसे सहज उद्धृत नहीं किया जा सकता तो वह पुस्तकों तक ही सीमित रहेगा। उच्चारण के जन अधरों तक नहीं आएगा। इस नाते सूक्ति होने के लिए किसी भी वाक्य का संक्षिप्त होना प्रथम आवश्यकता है। फिर वह इतना सरल हो कि अशिक्षित जन को भी उच्चारण में कठिनाई न हो। सूक्तियाँ उच्चारण सुलभ होती हैं। जो बात बोली जा रही है वह एकदेशीय, एकांकी तथा सीमित व्याप्ति वाली न हो। सूक्ति वह होती है जो हर काल में; हर देश में समान रूप से प्रयुक्त की जा सके। सार्वभौम होना किसी भी सूक्ति का आवश्यक तत्त्व है। भाषायी अन्तर से चाहे वह सब दूर न जानी जावे, पर भाव साम्यता सब दूर एक सी देखने को मिलती है। यदि वाक्य इतना अस्पष्ट है कि उसका प्रभाव श्रोता पर तत्काल नहीं पड़े; उसे बुद्धि को खुजलाना पड़े तो वह वाक्य कभी सूक्ति नहीं बन पाएगा। वाक्य का स्पष्ट होना आवश्यक है। अर्थध्वनि सीधी हृदय पर चोट करे यह आवश्यक है। इस नाते स्पष्टता आवश्यक है। वाक्य ऐसा हो जो अपने आप में पूर्ण हो। उसे किसी और की अपेक्षा न हो। यदि अन्य की उसे अपेक्षा रही तो वह अपना प्रभाव कैसे छोड़ सकता है। वाक्य का अपने आप में पूर्ण होना आवश्यक है। पूर्णता इस नाते एक अनिवार्यता है। अन्त में, किसी भी वाक्य के सूक्ति बनने के लिए आवश्यक है कि वह व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित हो। कोरा ठूँठ ज्ञान न हो। दैनन्दिन जीवन को स्पर्श करने वाला हो। व्यवहार में उसे लाया जा सके, या उससे किसी व्यावहारिक जीवन पर चोट या प्रशंसा व्यक्त की जा सके। व्यवहार्य वाक्य ही सूक्ति बनती है और भी कई आवश्यकताएँ बतलाई जा सकती है। अपना यह लेख सूक्तियों का शोध लेख नहीं है, जो किस किस ने सूक्तियों के क्या-क्या लक्षण बताए हैं उन्हें गिनाते चलें! और गीता के श्लोकों को उन पर कसते चले। किस किस लक्षण में कौन-कौन सी सूक्ति आती है, यह बताना हमारा अभिप्राय नहीं है। केवल गीताकार ने कहाँ कहाँ ऐसी सूक्तियों का उपयोग किया है, और गीता पाठी उन्हें कण्ठस्थ करें बस इतना ही हमारा अभीष्ट है। अतः हम अध्यायानुसार कुछ बहु प्रचलित सूक्तियों को ही यहाँ उद्धृत करेंगे तथा गीता का सूक्ति सौन्दर्य-भाव प्रकट करने का यत्न करेंगे।

जैसा हमने कहा, गीता का श्लोक श्लोक सूत्र रूप है पर हर श्लोक को सूक्ति कह पाना हमारे लिए कठिन है। हमारी उपर्युक्त छहों अनिवार्यताओं पर खरे उतरने वाले श्लोकांश ही हम यहाँ उद्धृत करेंगे।

अध्याय १ में कोई बहुत अधिक सूक्तियां नहीं है। क्योंकि यह तो विवरणात्मक अध्याय अधिक है। हाँ, अर्जुन के विषाद में कारणभूत कुलक्षय एवं स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकरता आदि दोषों के आने का भय है। इस विषय से सम्बन्धित वाक्यांश ही सूक्तियों के अन्तर्गत आ सकते हैं। जैसे—

अध्याय 1

१ कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ॥४०
(कुल क्षय होने पर सनातन कुल धर्म का नाश होता है।)

२ स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१
(स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर सन्तानें उत्पन्न होती हैं।)

अध्याय २

१ गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११
(गत और अगत के लिए पण्डित शोक नहीं करते हैं।)

यह सूक्ति असरलता दोष से ग्रसित है। साथ ही जो अगत जोड़ा गया है वह निरर्थक है। जो अगत है उसका तो पण्डित ही क्या मूर्ख भी शोक नहीं करते। अतः श्री वेदव्यास ने 'गतं न शोचन्ति पण्डिताः' इस सूक्ति को अधिक ज्ञानवान बनाने की जो चेष्टा की है, उससे अर्थ बोध अस्पष्ट व असंगत ही हुआ है।

सूक्ति समुच्चय (दो सूक्ति)—

२ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥१६
(असत का तो अस्तित्व (भाव) नहीं है और सत का कहीं अभाव नही है।)

३ विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७
(इस अव्यय का विनाश करने को कोई भी समर्थ नहीं है।)

४ अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ॥१८
(ये सब शरीर नाशवान हैं।)

सूक्ति समुच्चय (दो सूक्ति)—

५ जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ॥२७
(जन्मने वालों की मृत्यु और मरने वाले का जन्म निश्चित है।)

६ देही नित्यमवध्योऽयं.................॥३०
(यह आत्मा नित्य और अवध्य है)

७ धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१
(धर्म युद्ध के सिवा क्षत्रिय के लिये अन्य कुछ श्रेयकारी नहीं है।)

८ त्रैगुण्यविषया वेदा...............।४५

(वेद त्रैगुण्य विषयक है अर्थात् त्रिगुणात्मक जगत् को ही प्रकाशित करने वाले हैं।)

सूक्ति समुच्चय (दो सूक्ति)—

९ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।।४७
(तेरा कर्म में ही अधिकार है, कभी फल में अधिकार न रख।)

१० कृपणाः फलहेतवः ।४९
(फल की वासना वाले अत्यन्त कृपण (दीन) हैं।)

११ इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।६०
(इन्द्रियां प्रमथन स्वभाव वाली होती हैं, वे वलात् मन को हर लेती हैं।)

सूक्ति समुच्चय (सात सूक्तियां)—

१२ ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।६२
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।६३

(जो पुरुष विषयों का ध्यान करता है उसमें उनके प्रति संग की कामना पैदा हो जाती है। संग रहने से काम उत्पन्न होता है। काम से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति विभ्रम, स्मृतिभ्रंश से बुद्धि नाश और बुद्धिनाश से नष्ट हो जाता है।)

सूक्ति समुच्चय (चार सूक्तियां)—

१३ नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।६६

(आचरण हीन व्यक्ति में बुद्धि नही होती। न उसमें आन्तिक भावना ही होती है। भावना हीन व्यक्ति को शांति नही मिलती और अशान्त पुरुष को सुख कहां।)

१४ या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।६९

(जो सारे प्राणवानों के लिए रात्रि है उसमें योगी जागता है। अर्थात् प्राणी मात्र जिस प्रभु से विमुख है योगी उसके प्रति सचेष्ट है।)

१५ यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।६९

(जिन (सांसारिक विषयों) में प्राणवानों की जाग्रति है (रति है) वह तत्त्व ज्ञानी मुनियों के लिए रात्रि (विरति) है।)

अध्याय ३

१ न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।४
(पुरुष कर्मो के अनारम्भ से नैष्कर्म्य को प्राप्त नहीं होता।)

२ न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।४

(और न संन्यास से ही सिद्धि प्राप्त होती है।)

३ न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।५

(कोई भी किसी भी काल में क्षण भर को भी बिना कर्म किए नहीं रहता।)

४ कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५

(क्योंकि सब प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।)

सूक्ति समुच्चय (दो सूक्ति)—

५ नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।८

(तू नियत कर्म कर। अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है।)

६ शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ।।८

(बिना कर्म के शरीर यात्रा भी सिद्ध नहीं होती।)

७ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।९

(यज्ञ (विष्णु) के निमित्त किए कर्मों के अतिरिक्त, इस संसार में अन्य कर्म बंधन के हेतु हैं। यहाँ यज्ञ से तात्पर्य समाज हिताय कर्मो से है।)

८ यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।१३

(यज्ञ शेष को खाने वाले सन्त सब पापों से छूट जाते हैं। यज्ञ शेष का अर्थ समाज को देकर शेष ग्रहण करने से है।)

९ भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।१३

(जो अपने आत्म कारण के लिए पकाते हैं (कमाते हैं) वे पापी लोग पाप को ही खाते हैं।)

सूक्ति समुच्चय (४ सूक्ति)—

१० अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।१४

(प्राणिमात्र अन्न से होते हैं। अन्न वर्षा से होता है। यज्ञ से बादल होते हैं। और यज्ञ, कर्म से उत्पन्न होता है अर्थात् लोक सेवा कर्म के बिना नहीं होती। एक यज्ञ हवन कर्म के रूप में आया है और दूसरा यज्ञ लोक सेवा के रूप में आया है।)

सूक्ति समुच्चय (३ सूक्ति)—

११ कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।१५

(कर्म ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जान। ब्रह्म अर्थात् क्षर तत्त्व अक्षर अर्थात् अव्यक्त मूल प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान। अतः सर्वगत ब्रह्म नित्य ही कर्म से उत्पन्न तथा सम्पन्न यज्ञ में प्रतिष्ठित है।)

यहाँ क्षर, अक्षर तथा अव्यय तीनों के बीच का भेद, इनके परस्पर का सम्बन्ध तथा कर्म का कर्त्ता कौन है, यह प्रश्न का हल स्वतः हुआ दीख रहा है। आत्मा कर्त्ता नहीं हैं। कर्म का कर्त्ता तो क्षर पुरुष है।

८ असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।३६
(असंयतात्मा के लिए योग दुष्प्राप्य है ।)

अध्याय ७

१ मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।७
(परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।)

२ मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।७
(माला के सूत्र में जैसे मणि पिरोई होती है वैसे ही यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा से ही गुंथा है ।)

३ बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।१०
(सम्पूर्ण प्राणियों का सनातन कारण परमात्मा ही है ।)

४ धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।११
(प्राणियों में धर्म अविरुद्ध काम परमात्मा ही है ।)

५ वासुदेवः सर्वमिति ।१९
(सब कुछ परमात्मा ही है ।)

अध्याय ८

१ आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।१६
(ब्रह्म लोक से लेकर अन्य सारे लोक पुनरावर्ती हैं । नाश होते हैं और फिर निर्मित होते हैं ।)

२ अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।१८
(सारे व्यक्त [क्षर] अव्यक्त [अक्षर] से ब्रह्मा के दिन में उत्पन्न होते हैं ।)

३ रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।१८
(ब्रह्मा की रात्रि आने पर उसी अव्यक्त संज्ञक अक्षर में लय हो जाते हैं ।)

४ यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।२१
(जहां पहुँचकर पुनर्जन्म नहीं होता वही परमात्मा का धाम है । आत्म साक्षात्कार परम गति है वहां से प्रत्यावर्तन है ।)

५ पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।२२
(परमात्मा अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य है ।)

अध्याय ९

१ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।४
(अव्यक्त मूर्ति परमात्मा से यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है ।)

२ मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।१०
(प्रकृति मेरी अध्यक्षता में ही चराचर सहित इस जगत् को रचती है ।)

३ अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।२४
(परमात्मा ही लोक-कल्याणकारी यज्ञों का भोक्ता व स्वामी है ।)

अध्याय १०

१ अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।२
(परमात्मा ही देवों एवं महर्षियों का सब प्रकार से आदि कारण है ।)

२ अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।८
(परमात्मा ही सबकी उत्पत्ति का कारण है और सब उसी से सचेष्ट हैं ।)

३ अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।२०
(परमात्मा ही आत्मा रूप से सब प्राणियों के हृदय में स्थित है ।)
(१३.४, १३.१७, १५.१५. १८.४८, १८.६१ समान भाव वाली है ।)

४ अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।२०
(परमात्मा ही सब प्राणियो का आदि, मध्य एवं अन्त का कारण है ।)

५ अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।३३
(विश्वरूप परमात्मा ही अक्षय काल तथा सब के पालक हैं ।)

६ यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।३९
(परमात्मा ही सब प्राणियों का बीज रूप है ।)

७ नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।४०
(परमात्मा की दिव्य विभूतियों का कोई अन्त नहीं है ।)

अध्याय ११

(कोई नहीं ।)

अध्याय १२

१ अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।५
(देहधारियों से अव्यक्त आत्मा की प्राप्ति की गति दुःखपूर्वक ही प्राप्त की जाती है । अर्थात् आत्म-दर्शन में मनुष्य को कष्ट बहुत उठाने पड़ते हैं ।)

अध्याय १३

१ इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।१
(शरीर दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में क्षेत्र नाम से जाना जाता है ।)

२ क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।२
(सभी शरीरों में जो आत्मा है वह परमात्मा ही है । आत्मा को परमात्मा इसी आधार पर कहा जाता है ।)

३ अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।१२
(अनादिमत परम ब्रह्म न सत् न असत् कहा जाता है ।)
यह अव्यक्त प्रकृति पर भी लागू होता है । श्लोक १९ पुष्टि करता है ।

४ ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यंहृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।१७
(सबके हृदयों में स्थित आत्मा ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञानगम्य है । आत्मा स्वयं ज्ञानरूप होने से ज्ञेय है । अतः ज्ञान से इसे प्राप्त किया जा सकता है । यह सबके

हृदय में निवास करता है। यह भाव १०.२० के निकट है।)

५ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।१९
(मूल प्रकृति एवं पुरुष दोनों अनादि हैं।)

६ विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ।१९
(सोलह विकार एवं तीन गुण प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं।)

७ कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।२०
(कार्यरूप, शरीर तथा मन, बुद्धि, अहंकार तथा दशेन्द्रिय रूप करण [त्रयोदश] के कर्तृत्व रूप कर्त्तापन का हेतु प्रकृति ही कही गई है।)

८ पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।२०
(और पुरुष [जीवात्मा] सुख-दुःखों के भोगने में हेतु है।)

९ पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।२१
(जीवात्मा कार्य करण सहित प्रकृति में स्थित होकर ही प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है।)

१० कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।२१
(सत; रज, तम गुणों का संग ही जीवात्मा के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है।)

११ परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।२२
(इस देह से परे जो आत्मा है वह परमात्मा ही कहा गया है।)

१२ समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।२७
(परमात्मा सब भूतों में [चराचर में] सम भाव से स्थित है। यही भाव इन श्लोकों में भी आया है—१८.४८, १५.१५।)

१३ प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।२९
(सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति से ही किए हुए हैं।)

१४ क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।३३
(सम्पूर्ण शरीर को आत्मा ही प्रकाशित करता है।)

अध्याय १४

१ मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।३
(महत् ब्रह्म योनि है जिसमें परमात्मा चेतन रूप बीज को उपस्थित करता है। इसी जड़-चेतन के मिलने से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।)

२ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।५
(सत, रज, तम गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं।)

सूक्ति समुच्चय (३ सूक्ति)

३ सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।।९

(सत्त्व गुण सुख में, रज कर्म में तथा तम ज्ञान को आच्छादित कर प्रमाद में लगाता है।)

सूक्ति समुच्चय (३ सूक्ति)—

४ कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।।१६

(सुकृत कर्म का सात्त्विक व निर्मल, रज का दुःख तथा तम का अज्ञान फल कहा है।)

सूक्ति समुच्चय (३ सूक्ति)—

५ सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।१७

(सत्त्व से ज्ञान, रज से लोभ तथा तम से प्रमाद, मोह, अज्ञान उत्पन्न होता है।)

सूक्ति समुच्चय (३ सूक्ति)—

६ ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।।१८

(सत्त्व में स्थित जन ऊर्ध्व गति को, राजसस्थ मध्य को तथा जघन्य गुण वृत्तिस्थ, तामसी अधोगति को प्राप्त होते हैं।)

७ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं................।१९

(गुणों के अलावा और कोई कर्त्ता नहीं है।)

८ सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।२५

(सर्वारम्भ परित्यागी [अर्थात् अपनी ओर से कोई कार्य नहीं करते हुए] गुणातीत कहलाता है। जब गुणों को पार कर लिया तो फिर कर्म चेतना शेष ही कहां रहती है? गुणों से ही तो कर्म है। गुणों के अतिरिक्त और कोई कर्म का कर्त्ता नहीं है। अतः गुणातीत हो गया तो कर्म का कर्त्ता कहां रहा? कर्त्तापन का अभिमान समाप्त हो गया। सम भाव आ गया। क्योंकि ईश्वर भूतों में सम भाव से स्थित है। ईश्वर रूप हो गया। १८.४८ को भी देखें १४.२५ + १८.४८।

अध्याय १५

१ ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।१

अव्यय परमात्मा जो सारे संसार का बीजप्रद पिता है, उसके अंश से उत्पन्न यह संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष ऊर्ध्व मूल तथा अधःशाख कहा गया है।

२ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।७

(जीव लोक में जीवभूत आत्मा परमात्मा का ही सनातन अंश है।)

३ सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो ।१५

(परमात्मा सबके हृदयों में संनिविष्ट है। (१८.६१) (१४.२७) यही भाव इन श्लोकों में भी आया है।

४ द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।१६
(लोक में ये दो पुरुष हैं क्षर एवं अक्षर ।)

सूक्ति समुच्चय (दो सूक्तियाँ)—

५ क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।१६
(सारे भूत क्षर हैं तथा शिखर पर जो (उर्ध्वमूल) स्थित है वह अक्षर कहलाता है ।)

६ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।१७
(उत्तम पुरुष अन्य है जो परमात्मा कहलाता है)

अध्याय १६

१ दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।५
(दैवी सम्पदा सूचक १७ सद्गुण मोक्षप्रदाता हैं तथा आसुरी सम्पदा सूचक ६ अवगुण दुःख से बांधने वाले हैं ।)

२ द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।६
(इस संसार में भूतों के दो स्वभाव दैव एवं आसुर हैं ।)

३ त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।२१
(आसुरी जीवन को नरक कहा है । इस नरक के तीन द्वार हैं - काम, क्रोध और लोभ ! ये आत्म नाशक हैं ।)

४ कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।२१
(काम क्रोध लोभ ये आसुरी सम्पदा पैदा करने के द्वार हैं । अतः इन तीनों को त्यागो ।)

अध्याय १७

१ त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।२
(मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से तीन प्रकार की श्रद्धा होती है ।)

सूक्ति समुच्चय (तीन सूक्तियाँ)—

२ यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्ष रक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।।४
(सात्त्विक देवताओं को, राजस यक्षों व राक्षसों को तथा अन्य तामस जन प्रेतों भूतों की भी पूजा करते हैं ।)

३ आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।७
(सभी को आहार भी तीन प्रकार का प्रिय होता है ।)

४ ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
(ब्रह्म को भी ॐ तत् एवं सत् इन तीन नामों से त्रिविध रूप से स्मरण किया जाता है ।)

अध्याय १८

१ काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।२

(कवि काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास जानते हैं।)

२ सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।२-११
(विचक्षण सर्व कर्म फल त्याग को त्याग कहते हैं।)

३ त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।३
(कई एक मनीषी दोषवत कर्मों को ही त्याज्य कहते हैं।)

४ यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।३-५
(दूसरे मनीषी यज्ञ, दान, तप को त्याज्य कर्म नहीं कहते हैं। तीसरी व इस चौथी सूक्ति के भाव में कोई अन्तर नहीं है। केवल कथन भेद ही प्रमाण है।)

५ त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।४
(त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया है।)

६ यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।५
(यज्ञ, दान, तप मनीषियों को पवित्र करने वाले हैं।)

७ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।७
(नियत कर्म जो इसी अध्याय के श्लोक ४८ में बताए हैं; उनका त्याग करना योग्य नहीं है।)

८ न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।११
(देहधारी कर्म को अशेषतः त्यागने में कभी समर्थ नहीं हैं।)

९ अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।१२
(अनिष्ट, इष्ट, व मिश्र ये तीन प्रकार का कर्म का फल है।)

१० ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।१८
(ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञाता ये तीनों कर्म प्रेरक हैं।)

११ ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।१९
(ज्ञान, कर्म व कर्त्ता भी गुण भेद से तीन प्रकार के हैं।)

१२ सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।३६
(सुख भी तीन प्रकार का है।)

१३ कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।४४
(कृषि गौरक्षा और वाणिज्य वैश्य के स्वाभाविक कर्म है।)

१४ परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।४४
(परिचर्या शूद्र का स्वाभाविक कर्म हैं।)

१५ स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।४५
(जो अपने स्वाभाविक कर्म में अभिरत है वे उसमें शीघ्र ही सिद्धि पा जाते हैं।)

१६ स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।४७
(स्वभाव से नियत कर्म करने वाला पाप को प्राप्त नहीं होता।)

१७ सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।४८

(स्वाभाविक कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं चाहे उनका प्रारम्भ सदोष हो। स्वाभाविक कर्म को ही स्वधर्म, सहज कर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावज कर्म, स्वभाव नियत कर्म आदि कहा गया है।)

१८ सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता: ।४८

(सभी कर्मों का आरम्भ तो जैसे अग्नि के साथ धुंआ होता है, वैसे ही सदोष होता है। जैसे धुएं के कारण अग्नि का जलाना नहीं रोका जा सकता, उसी प्रकार सदोष होने पर नियत स्वाभाविक कामों का आरम्भ नहीं रोका जा सकता। अभ्यास से दोष दूर हो जाता है, यह भाव भी है।)

१९ ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।५४

(ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त प्रसन्नात्मा न सोचता है न आकांक्षा करता है।)

२० सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।५४

समस्त भूत ग्राम के प्रति जो समत्व बुद्धि वाला है वह परमात्मा की पराभक्ति, (परम नैष्कर्म्य सिद्धि, परमसिद्धि, ज्ञान की पराकाष्ठा) को प्राप्त होता है।)

२१ मच्चित्त: सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।५८

(जो परमात्मा मे अपने चित्त को लगा देता है वह उसकी कृपा में सारे दुर्गों अर्थात् दुर्गम संकटों को तर जाता है।)

२२ ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।६१

(ईश्वर समस्त भूतों के हृदय प्रदेश के निवास करता है।)

२३ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।६६

(सारे कर्मो के आश्रय धर्मो को त्याग कर परमात्मा की शरण गहो।)

२४ भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशय: ।६८

(परमात्मा की पराभक्ति को प्राप्त करने वाला परमात्मा को ही असंदिग्ध रूप में प्राप्त होता है।)

श्रीमद्भगवद् गीता के ७०० श्लोकों में से हमने चुनी हुई १३४ सूक्तियां यहां सग्रहीत की हैं। इन सूक्तियों के अध्ययन मात्र से उस अध्याय में क्या विषय व्याख्यायित है, स्वत: स्पष्ट हो जाता है। शायद गीता के पूरे अध्याय को पढ़ने के बाद भी हम सहजता से उसके प्रतिपाद्य विषय को ग्रहण न कर पायें, पर इन सूक्तियों के अध्यायानुसार चयन से उस अध्याय के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय को सहज ही असंदिग्ध रूप से जान जाते हैं। इस चयन से गीताध्येताओं को अवश्य यह लाभ होगा; ऐसा हमारा मत है। सब से अधिक सूक्तियां, सबसे अधिक श्लोक वाले अठारहवें अध्याय में ही हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि जिसमें अधिक श्लोक है तो उसमें अधिक सूक्तियाँ होनी ही चाहिए। अध्याय तीन में श्लोक ४३ ही हैं पर सूक्तियाँ १७ हैं। ग्यारहवें अध्याय में ५५ श्लोक हैं पर एक भी सूक्ति नहीं है। हमारे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं लिया जावे कि वह अध्याय निरर्थक है। वास्तव में गीता का ग्यारहवां अध्याय ही गीता का प्राण है। वह योग के सर्व जन दुर्लभ चमत्कारों के दिग्दर्शन तथा भक्तिमयी प्रार्थनाओं एवं स्तुतियों का अध्याय है।

सूक्तियों के सम्बन्ध में हमने ६ अनिवार्यताएं (इन्ग्रिडियेन्टस्) बताई हैं। जब तक उस ढांचे में बात फिर नहीं होती, हम दो दो पदों वाले अच्छे श्लोकों को, जो सूक्तियों से भी अच्छा भाव अपने में समेटे हैं, कैसे सूक्तियों में ले सकते हैं। संक्षिप्तता एवं सरलता भी तो सूक्ति होने के लिए प्राथमिक आवश्यकता है। इस कारण श्लोकों की अधिकता या कमी से सूक्तियों की उस अध्याय में अधिकता या कमी को नहीं जोड़ना चाहिए।

हम नीचे एक तालिका दे रहे हैं जिससे यह स्पष्ट होगा कि किस अध्याय में कितने श्लोक हैं और उसमें कितने श्लोक सूक्तिरूप में आए हैं। वैसे इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। क्यों कि गीता में अध्यायानुसार श्लोक दिए ही हैं और हमने भी अध्यायानुसार सूक्तियों की संख्या दे दी है। फिर भी सारा कथन एक स्थान पर मिल जावे इस नाते यह तालिका दे रहे हैं—

तालिका

अध्याय क्रमांक	श्लोक संख्या	सूक्ति संख्या
१	४७	२
२	७२	१५
३	४३	१७
४	४२	६
५	२९	५
६	४७	८
७	३०	५
८	२८	५
९	३४	३
१०	४२	७
११	५५	०
१२	२०	१
१३	३४	१४
१४	२७	८
१५	२०	६
१६	२४	४
१७	२८	४
१८	७८	२४
१८	७००	१३४

सूक्ति संख्या १३४ हमने बता तो दी, पर इसमें वे सूक्तियां जिन्हें हमने सूक्ति समुच्चय कहा है, उनकी फैलावट नहीं गिनी है। उन्हें एक ही मान कर गिना है। १६ ऐसी सूक्तियां हैं जिन्हें हमने सूक्ति समुच्चय कहा है। उन १६

सूक्तियों में ४७ सूक्तियां हैं। यदि १६ कमकर ३१ सूक्तियाँ और १३४ में जोड़ देते हैं तो कुल सूक्तियाँ १६५ हो जाती हैं। इन सूक्तियों को हमने पृथक् इसलिए नहीं किया है कि वाक्य टूटता है संस्कृत की सामासिकता ऐसा करने में एक बाधा है। दूसरे भावों की समानता या विरोध का तारतम्य टूट जाता है। इस कारण हमने उन्हें एक ही साथ देकर सूक्ति समुच्चय यह संज्ञा दे दी है तथा उनमें कितनी सूक्तियां है यह गिना दिया है।

इन सूक्तियों के अध्ययन से जहाँ हमें अध्यायानुसार विषयों का ज्ञान सहजता से हो जाता है वहीं हमें भावों की ही नहीं कथनों की भी पुनरावृत्तियाँ देखने को मिलती है। यह दोष होते हुए भी गीता में यह इसलिए नगण्य है कि भगवान् को मोहग्रस्त अर्जुन को उसके प्रश्नों के संदर्भ में सारा ज्ञान समझाना था इस कारण पुनरावृत्ति होना स्वाभाविक था। बार बार एक ही बात को कहने पर श्रोता के मस्तिष्क में वह बात सदा सदा के लिए स्थिर हो जाती है। गीता में पुनरावृत्ति का यही कारण है। वैसे गीता में विषयों की पुनरावृत्ति नहीं है, विषयों से सम्बद्ध भावों का बार बार आना स्वाभाविक है अन्यथा वह विषय अपूर्ण रह जाता है। यह बात इस सूक्ति प्रसंग में अपेक्षित नहीं है अतः हम इसे यहां विस्तार नहीं दे रहे हैं। यह बात यथास्थान लिखेंगे।

हमें विषयानुसार सूक्तियों का विवरण देना चाहिए, जिससे उस विषय का ज्ञान पाठक को सूक्ति रूप में एक स्थान पर मिल सके। इसे हम आवश्यक मानते हैं। लेकिन सूक्तियों का अध्यायानुसार लेखन, फिर विषयानुसार लेखों में उद्धरण, फिर यहां उनका उल्लेख श्लोकों को बार बार लिखकर पृष्ठ बढाना भर ही होगा। विषयानुसार जो लेख होंगे वे आवेंगे ही, अतः हम यहां इस लेख को संक्षिप्तता देने हेतु विराम देते हैं। विस्तार का लोभ संवरण करते हैं।

ग्यारह

यज्ञ-विचार

हम यज्ञ का जो वर्तमान स्वरूप देखते हैं, वह गीताकार की दृष्टि में न हो, ऐसा नहीं है। गीताकार ने यज्ञ को व्यापक लोक हित के सन्दर्भ में गीता में प्रयुक्त किया है। यज्ञ शब्द हमें गीता में सर्वप्रथम श्लोक ३.९ में मिलता है, जहां यज्ञार्थ कर्म को आवागमन के भौतिक बन्धन का कारण नहीं माना है। देखिए—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।३.९

यज्ञ कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म इस संसार में बन्धन के कारण हैं। अतः हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! मुक्त संग होकर इस यज्ञ के निमित्त कर्म का समाचरण कर।

तैत्तिरीय संहिता में आया है 'यज्ञो वै विष्णुः' (१.७.४)। यज्ञ को विष्णु का रूप माना है क्योंकि विष्णु विश्व की स्थिति के देवता माने गए हैं। जिन कर्मो से व्यक्ति से लेकर समष्टि तक की धारणा हो, पालना हो, वही कर्म विष्णु कर्म याने यज्ञ कर्म है। इस तथ्य की पुष्टि गीताकार ने अगले श्लोकों में इस तरह की है। देखिए—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥३.१०
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥३.११
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥३.१२
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥३.१३

उत्पत्ति के देवता ब्रह्मा (प्रजापति) ने कल्पादि में यज्ञ के साथ ही प्रजा की सृष्टि करते हुए कहा था कि तुम लोग यज्ञ कर्मों से वृद्धि को प्राप्त होओ। यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनाओं को देने वाला हो। इसी यज्ञ कर्म से देवताओं की उत्पत्ति करो, वे देव तुम्हारी उन्नति करेंगे। इस प्रकार परस्पर उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होओगे। यज्ञ द्वारा उन्नत देव तुम्हें इष्ट भोग प्रदान करेंगे। उनके द्वारा दिए भोगों को जो उन्हें बिना दिए ही भोगता है वह चोर ही है। यज्ञ-शेष को खाने वाले सन्त सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। जो पापी अपने निज के लिए ही (बिना दिए) उन भोगों को भोगते हैं वे सचमुच पाप खाते ही हैं। गीताकार ने अन्तिम पंक्ति में भारतीय जीवन दर्शन के वास्तविक समाजवाद को प्रस्तुत किया है। तुम्हारे कर्म यज्ञ रूप हों अर्थात् समष्टि की धारणा करने वाले हों और तुम इस यज्ञ कर्म से जो देव प्रदत्त भोग प्राप्त करोगे; उसे पहले उसी समाज रूपी देवता को देकर जो शेष बचे, उसे खाओ। लोक हित में जो रत हैं उन्हें समाज ही देता है। लोक हित रतों का कर्त्तव्य है कि उस प्राप्त को समाज को देकर ही खाएं। यदि ऐसा न करोगे तो तुम पापी कहलाओगे तथा पाप को ही खाओगे। गीताकार ने उन्हें बड़े कठोर शब्द स्तेन अर्थात् चोर शब्द से अभिहित किया है। इससे बड़ी और परोपकारी दृष्टि क्या कोई ज्ञान दे सकता है? इन्हीं श्लोकों में छिपा दूसरा भाव और है, वह है परस्पर सहकार का। तुम लोकहित के यज्ञ कर्मो से देवताओं को अर्थात् इस समाज रूपी देवता को प्रसन्न करो वह तुम्हारी वृद्धि करेगा। इस तरह परस्पर की उन्नति करते हुए श्रेय को प्राप्त होओगे। उन्नति के लिए दो शब्द आते हैं—अभ्युदय एवं निःश्रेयस। अभ्युदय

भौतिक वृद्धि के सन्दर्भ में प्रयुक्त होते आ रहे हैं। वैशेषिक शास्त्र में निःश्रेयस सिद्धि कब होती है इस सम्बन्ध में एक श्लोक आया है। देखिए—

धर्म विशेष प्रसूताद् द्रव्य गुण कर्म, सामान्य विशेष समवायानां।
पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्त्व ज्ञानान्निश्रेयसम् ॥१.४

कठोपनिषद् में श्रेय और प्रेय को जितने विस्तार से व्याख्यायित किया है; उतना अन्यत्र नहीं मिलता है। देखिए—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते, उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
ततोः श्रेय आददानस्य साधु भवति, हीयतेऽर्थाद्य उप्रेयो वृणीते ॥१.२.१
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेनस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणते प्रेयो मन्दो योग क्षेमाद्वृणीते ॥१.२.२

इस तरह सिद्ध है कि आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला कल्याण अर्थात् विदेह मुक्ति निःश्रेयस नाम से प्रसिद्ध है तथा शारीरिक कल्याण अभ्युदय नाम से। अभ्युदय का विलोम शब्द प्रत्यवाय है। अभ्युदय ऊपर व आगे जाना है, प्रत्यवाय पीछे व नीचे जाना है। अभ्युदय इस तरह निःश्रेयस की प्रतिष्ठा (आधारभूमि) है। लेकिन उन्नति शब्द निःश्रयेस की प्रतिष्ठा नहीं है। अभ्युदय एवं उन्नति का यही अर्थ भेद है। जो दोनों को समान मानकर मनचाहा प्रयोग करते हैं, वे गलत हैं। उन्नति शब्द बना है उत+नति से। उत का अर्थ है ऊपर व नति का अर्थ है नीचे। जो वृद्धि ऊपर ले जाकर भी भौतिक बंधनों में बांधने वाली है, नीचे की ओर ले जाने वाली है वह उन्नति है। जिसमें यज्ञ कर्म का लेश नहीं वह उन्नति चोर की उन्नति है, वह उन्नति पापी की है। ब्लेक मार्केटियर्स के लिए या यों कहें कृपण के लिए उन्नति शब्द का प्रयोग सही है। उनकी वृद्धि को अभ्युदय नहीं कह सकते। वह निःश्रेयस की ओर ले जाने वाला, पीछे नहीं लौटने वाला अभ्युदय नहीं है। गीताकार ने स्तेन व पापी शब्द का प्रयोग उन्नति वाले लोगों के लिए ही किया है। गीताकार ने इसी संदर्भ को कि क्या यज्ञ का अर्थ मनुष्य कर्म है, और यदि ऐसा है तो वह विष्णु रूपी देवता से कैसे सम्बन्धित हो गया: इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥३.१४
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥३.१५

ज्यामिति के सिद्धान्त की तरह या न्यायशास्त्र के तर्कों की तरह गीताकार ने उपर्युक्त दोनों श्लोको में कर्म, यज्ञ तथा सर्वगत ब्रह्म का पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित करते हुए कहा है कि सम्पूर्ण प्राणी मात्र अन्न से जीवित रहते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म क्षर ब्रह्म से उत्पन्न होता है, क्षर ब्रह्म अक्षर से उत्पन्न होता है अतः सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

जब परार्थ कर्म करेंगे तभी यज्ञ नाम सार्थक होगा। अतः यज्ञ का आधान हुआ कर्म। कर्म का कारण है त्रिगुणात्मक महत् ब्रह्म। और महत् ब्रह्म का उत्पत्ति कारण है अक्षर अव्यक्त, मूल प्रकृति। अक्षर से भी अतिरिक्त एक भाव और है, वह है परमाक्षर भाव जो सर्व व्यापक है। इस तरह यज्ञ में वह परमाक्षर सदैव रहता है।

'यज्ञाद्भवति पर्जन्य' का संकेत घृत समिधा शाकल्य आदि यज्ञ सामग्री की ओर है। यहां यज्ञ का सम्बन्ध स्थूल द्रव्य यज्ञ से है।

गीताकार अन्त में धमकी भरे स्वर में कहते हैं कि जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार प्रवर्तित यज्ञ कर्म चक्र के अनुसार नहीं बर्तता है वह इन्द्रियारामी, अघायु व्यर्थ ही जीता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।३.१६

अर्थात् सार्थक जीवन के लिए लोक हितार्थ कर्म यज्ञ को मनुष्य को अवश्य करना चाहिए; क्योंकि यज्ञार्थ आचरण से समग्र कर्म प्रभाव नष्ट हो जाते है। देखिए-

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।४.२३

अनासक्त मन, ज्ञानावस्थित चित्त, तथा यज्ञार्थ कर्माचरण मुक्त पुरुष के सम्पूर्ण कर्म दोष नष्ट हो जाते है।

इस तरह गीताकार ने यज्ञ कर्म की महत्ता पुरस्थापित करते हुए यज्ञ कर्म को ईश्वरीय कार्य तथा निष्काम भाव से ज्ञानपूर्वक मुक्त होकर करने पर निःश्रेयस सिद्धि का दायक भी कहा है।

गीताकार ने द्वापर युग में प्रचलित विविध यज्ञ कर्मों का उल्लेख किया है, पर ये विविध कर्म केवल ब्रह्म साधना से ही सम्बन्धित हैं; लोक हित साधना से नहीं हैं। यह विविधता भी व्यक्तिशः अथवा सम्प्रदायशः क्रिया भेदों को लेकर है। हम अविकल रूप से उन्हें यहां उद्धृत कर रहे हैं—

(१) ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।४.२४

(२) दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।

(३) ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।।४.२५

(४) श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।

(५) शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।।४.२६

(६) सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।४.२७

(७-८-९-१०) द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।।४.२८

(११-१२-१३) अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।।४.२९

(१४) अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।।४.३०

१ प्रथम श्लोक सर्वगत ब्रह्म के सन्दर्भ में लौकिक यज्ञ सामग्री बताता हुआ एक रूपक है । जो योगीजन ब्रह्म साधना के कर्म यज्ञ में समाविस्थ हैं उनके लिए अर्पण, हवि, अग्नि तथा आहुति सब कुछ ब्रह्म ही है और उस व्यक्ति द्वारा जो यज्ञ फल प्राप्तव्य है वह भी ब्रह्म ही है । दूसरे रूप में यहाँ ब्रह्म निष्ट योगियों की ज्ञान दृष्टि का 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का उल्लेख हुआ है । तीसरे सामाजिक दृष्टि से लौकिक परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो जो कर्म कर्त्ता समस्त सृष्टि-कर्म को ब्रह्म रूप मान कर यज्ञ कर्म करता है, उसे ब्रह्म ही प्राप्त होता है, यह भाव भी है । चौथे ब्रह्म कर्म ही यज्ञ कर्म है, ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है ।

२ दूसरे श्लोकानुसार योगी जन देव पूजा को ही यज्ञ रूप मान देवोपासना में लगे रहते हैं । देव पूजा को भी यहां यज्ञ रूप माना गया है ।

३ तीसरे के अनुसार कुछ परमात्मा रूपी अग्नि से साधना रूपी यज्ञ के द्वारा, आत्मा को हवन करते हैं । आत्मा को परमात्मा में एकाकार करना भी यज्ञ है, ऐसा अर्थ है ।

४ कुछ अपनी पांचों ज्ञानेन्द्रियों को संयम की अग्नि में हवन करते हैं अर्थात इन्द्रिय निग्रह की साधना का यज्ञ करते हैं ।

५ कुछ शब्द स्पर्श रूप रस गध ये जो पांच तन्मात्राएँ हैं, इन्द्रियों के भोग्य विषय हैं उन्हें इन्द्रियों की अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियों के भोगों को शास्त्र विधि से भोग रहे हैं वे भी उसे यज्ञ मान कर करते हैं ।

६ कुछ ज्ञान दीपित जन अपने समस्त दशेन्द्रिय कर्मो को तथा पंच प्राण कर्मो को आत्म संयम की अग्नि में हवन करते हैं ।

७ कुछ द्रव्य का दान कर दान रूपी यज्ञ कर्म करते हैं । यह यज्ञ परोपकार तथा लोक हित के अन्तर्गत आता है । आत्म कल्याण के साथ साथ लोक हित भी इसमें है ।

८ कुछ व्रत, उपवास, निरग्नि, अक्रिय आदि कर्मो से कठोर तप यज्ञ करते हैं । तप शब्द व्यक्ति के सन्दर्भ में भी प्रयुक्त हो सकता है और समष्टि के सन्दर्भ में भी । जन मानस के संकट को दूर कराने के लिए की गई भूख हड़ताल, जेलयात्रा, प्रदर्शन आदि भी लोक तप कहे जायेंगे । यह समष्टिगत लोक तप या लोक यज्ञ हुआ ।

९ कुछ योग की यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि रूप साधना द्वारा ध्यान यज्ञ करते है ।

१० कुछ आप्त ग्रन्थों का नियमित स्वाध्याय कर अपनी ज्ञान शक्ति का अभिवर्धन

कर-ज्ञान यज्ञ करते हैं ।

११ कुछ आत्म यज्ञ में रत अपान वायु में प्राण वायु का हवन करते हैं। यह पूरक प्राणायाम यज्ञ हुआ है ।

१२ कुछ प्राण वायु में अपान वायु का हवन कर देयक यज्ञ क्रिया पूर्ण करते हैं ।

१३ कुछ प्राण एवं अपान दोनों की गति रुद्धकर प्राणायाम य में लीन रहते हैं ।

१४ कुछ जो नियतहारी हैं प्राण वायु को प्राण वायु में ही हवन करते हैं। वे प्राण यज्ञ करते हैं ।

ये सभी उपर्युक्त चौदह प्रकार के यज्ञ कर्मों के ज्ञाता, इन ऊपरि वर्णित यज्ञों को करते हुए अपपे कल्मषों को क्षपित करते हैं। क्षपित कल्मष सर्वथा निष्पाप होकर मुक्त पुरुष के रूप में विचरण करते हैं ।

इन चौदह यज्ञों को इस प्रकार नाम दे सकते हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ (२) देव यज्ञ (३) नाम यज्ञ (४) इन्द्रिय संयम यज्ञ (५) विषय संयम यज्ञ (६) आत्म संयम यज्ञ (७) द्रव्य यज्ञ (८) तप यज्ञ (९) ध्यान यज्ञ (१०) ज्ञान यज्ञ (११) पूरक यज्ञ (१२) रेचक यज्ञ (१३) प्राणायाम (१४) प्राण यज्ञ। वेदों में बहुत प्रकार के यज्ञों का उल्लेख मिलता है। ये सभी प्रकार के यज्ञ, चाहे वे कायिक, वाचिक और और मानसिक हों कर्म से उत्पन्न होने वाले हैं। जो इन यज्ञ कर्मों को जान जाता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है। जो यज्ञ से बचे अमृतान्न के मौजी हैं वे सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। कहा भी है—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

× × ×

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।।४.३२

उपर्युक्त यज्ञों में ज्ञान यज्ञ एवं द्रव्य यज्ञ दोनों की तुलना करते हुए गीताकार कहते हैं कि द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेयस्कर है। क्योंकि अखिल सृष्टि में सारे कर्म ज्ञान में जाकर समाप्त हो जाते हैं। अर्थात् ज्ञानी के किए कर्म, कर्म न रहकर अकर्म रूप हो जाते हैं। दूसरे अर्थ में ज्ञानी को कोई करणीय नहीं रह जाता। कर्म की अन्तिम सिद्धि विदेह मुक्ति है। ज्ञानी को वह विदेह मुक्ति पहले ही प्राप्त होने से उसके लिए फिर कर्म का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। वह केवल लोक संग्रह के लिए लोक हित में यज्ञ रूप कर्म करता है। आत्म कारण के लिए उसे कुछ नहीं करना होगा ।

गीताकार जीवन में निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए यज्ञ कर्म की महती आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं। प्रत्येक मनुष्य को उपर्युक्त १४ प्रकार के यज्ञों में से किसी न किसी प्रकार का यज्ञ अवश्य करना चाहिए। क्योंकि जो अयज्ञी हैं उनका यह लोक जीवन भी सार्थक नहीं है; दूसरे लोक तो प्रश्न ही नही रहता। कहा भी है—

नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम् ।।४.३१

यही भाव हम ऊपर श्लोक ३.१६ के सन्दर्भ में अभिव्यक्त कर चुके हैं। उपर्युक्त सभी यज्ञों को मुक्त संग होकर, निष्काम भाव से, ज्ञानमय चित्त के साथ विष्णु भाव से करना चाहिए। उसमें कामना व फलेच्छा का भाव नहीं होना चाहिए तभी वह मुक्ति का कारण हो सकता है। श्लोक ४.२३ में इसी भाव को गीताकार ने स्पष्ट किया है; लेकिन इन यज्ञ कर्मो को जो सकाम भाव से करते हैं; वे विदेह मुक्ति नहीं, केवल स्वर्ग के दिव्य भोगों को पुण्य क्षीण होने तक भोगते हैं। देखिए—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥९.२०
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रैधर्म्यमनुप्रपन्ना गतागतं कामकामी लभन्ते ॥९.२१

यह उपर्युक्त उद्धरण हमारे आशय को स्पष्ट कर रहा है। इस उद्धरण में कुछ बातें बड़ी विचारणीय हैं। वेद गीताकार ने केवल तीन ही माने हैं इसलिए गीता में स्थान-स्थान पर वेदों के सम्बन्ध में तीन का ही उल्लेख आया है। क्या अथर्ववेद उस समय तक नहीं रचा गया था? या उस समय तक इसे जन-स्वीकृति नहीं प्राप्त हुई थी या यह विद्या की श्रेणी में नहीं आता? यह विचारणीय है। चार वेद क्यों नहीं कहे गए। चतुर्विद्या क्यों नहीं कही गई? दूसरा सोमरस पीने से पाप छूट जाते थे तथा व्यक्ति पवित्र हो जाता था। सोमपा पूतपापा' इस ओर इंगित कर रहा है। तीसरा स्वर्ग और सुरेन्द्र लोक दोनों एक ही हैं। चौथे स्वर्ग लोक में मृत्यु नहीं है; मृत्यु तो केवल मर्त्य लोक है। इसी कारण यह लोक मर्त्य लोक में ही है।

ऊपर यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि यज्ञ कर्म से ब्रह्म की ही उपासना होती है और सर्वगत पर ब्रह्म सदा यज्ञ में निवास करता है। ज्ञान यज्ञ को द्रव्य यज्ञों से गीताकार ने श्रेष्ठ बताया है। ज्ञान यज्ञ की उपासना के भी तीन भेद हैं—(१) एकत्व (२) पृथक्त्व (३) बहुधा। एकत्व का अर्थ है 'एकम् एव परं ब्रह्म' पर ब्रह्म एक ही है, पृथक्त्व का अर्थ है पृथक्-पृथक् ब्रह्म स्थित है। बहुधा का अर्थ है वही ब्रह्म अनेक देव रूपों में स्थित है; लेकिन इन विविध रूपों में की जाने वाली उपासना भी उसी एक पर ब्रह्म की है। गीता में कहा है --

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥९.१५

इसी सत्य को उद्घाटित करते हुए गीता में भगवान् कृष्ण स्वयं कहते हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥९.१६

मैं ही श्रोत यज्ञ, मैं ही स्मार्त यज्ञ, मैं ही पितर यज्ञ, मैं ही प्राण यज्ञ मैं ही मन्त्र, मैं ही आज्य अर्थात् घृत, मैं ही अग्नि और हवन भी मैं ही हूँ। यहां अहम् पर ब्रह्म के लिए प्रयुक्त है। 'अहम् ब्रह्मास्मि'। सब कुछ परात्पर ब्रह्म ही है,

ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यही भाव हम श्लोक ४.२७ 'ब्रह्मार्पण' आदि में देख चुके हैं। वह ब्रह्म कर्मियों के सन्दर्भ में था तथा यह परात्पर परमात्मा के सन्दर्भ में है। सन्दर्भ भेद के अतिरिक्त दोनों का भाव एक ही है। वह परात्पर परमात्मा ही उपर्युक्त १४ प्रकारों के यज्ञों का भोक्ता तथा प्रभु है वही अधियज्ञ है। जो यज्ञ के वास्तविक वैष्णवी स्वरूप को तत्त्वत: नहीं जानते हैं वे इसी कारण निःश्रेयस सिद्धि से गिर जाते हैं। पुनर्जन्म को प्राप्त होते रहते हैं। देवव्रती देवों को, पितृव्रती पितरों को तथा भूतेज्य भूतों को प्राप्त होते हैं। केवल वही जो तत्त्वत: परमात्मा के यज्ञ रूप को जानते हैं उस परमात्मा को प्राप्त होते हैं और कोई नहीं।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।९.२४
यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।९.२५

उस परमात्मा के साक्षात् अर्थात् चतुर्भुज रूप के दर्शन के लिए अकेला यज्ञ या उस परमात्मा के तात्त्विक यज्ञ रूप को ज्ञान, समर्थ नहीं है। उसकी अनन्य भक्ति भी आवश्यक है। अनासक्त भाव से कर्मफल स्पृहा त्याग, जो परमात्मा के यज्ञ रूप को तत्त्वत: जानता हुआ उसकी अनन्य भक्ति करता है वही उसे जानने, देखने व उसी में तद्रूप हो गुंथा होने में समर्थ है। गीता में कहा भी है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न येज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।११.५३
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।११.५४

वेद ज्ञान, तप, दान, यज्ञ ये सब यज्ञ के ही विविध रूप ऊपर गिनाए जा चुके हैं। इन विविध यज्ञों को निष्काम भाव से करने पर भी तद्रूप होना तो दूर उसे जानना व देखना भी कठिन है। उसी एकमेव परमात्मा की अनन्य भक्ति आवश्यक है।

साधक की गुण भेद दृष्टि से ये यज्ञ कर्म भी तीन प्रकार के माने गए हैं—

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।।१७.११
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।।१७.१२
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।१७.१३

अर्थात् जो यज्ञ शास्त्र विधि से दृष्ट है अर्थात् जिसे करना ही कर्त्तव्य है, इस तरह मन को समाधान कर फल की आकांक्षा न रखने वाले पुरुषों द्वारा किया

जाता है वह सात्त्विक यज्ञ कहलाता है। जो यज्ञ केवल दम्भ प्रदर्शन के लिए, फल की कामना सहित किया जाता है उसे राजस यज्ञ कहते हैं और जो यज्ञ शास्त्र विधि के प्रतिकूल, अन्नदान न करते हुए, मन्त्र दक्षिणा तथा श्रद्धा से रहित होकर किया जाता है वह तामस यज्ञ कहलाता है।

इस तरह गीताकार ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया कि आप उपर्युक्त वर्णित चौदह प्रकार के यज्ञों में से अथवा वेद वर्णित अन्य किसी भी यज्ञ कर्म को करो, वह फल की आकांक्षा न करते हुए शास्त्रोक्त विधि से करो। बिना किसी दम्भ के अन्नदाता, मन्त्राहुति पूर्ण श्रद्धा तथा ऋत्विजों को अच्छी दक्षिणा देते हुए करो तभी वह सार्थक यज्ञ होता है। □

बारह

युद्ध और कुल नाश की वर्णसंकर विभीषिका

युद्ध, विजय की विश्वास भरी ऐसी बलवती कामना की नींव पर लड़ा जाता है कि विजेता तथा पराजित पक्ष दोनों अपने तथा अपने स्वजनों के कुल क्षय की तनिक भी चिन्ता नहीं करते। लोभोपहत चेतस हुए कुल क्षय कृत दोष की ओर देखते तक नहीं।[1] 'यह झूठी लोभोपहता उन तक ही सीमित नहीं रहती जो अज्ञानी होते हैं। वे भी, जो युद्ध के परिणामों से तथा कुल क्षय कृत दोषों से भलीभांति अवगत एवं परिचित हुए होते हैं, विजय की झूठी मृगमरीचिका में खोए, इस ओर विचार नहीं कर युयुत्सु हुए दीखते हैं।[2] जब युद्धों मे दोनों पक्षों के लक्षाधिक युवा पुरुष, काल के अकाल गाल में खेत रह जाते हैं, तो कुल धर्म की परम्परा को चलाने वाला तक शेष नहीं रह जाता है। कुल के निर्धारित सनातन धर्म अपूर्ण, अधूरे, तथा अकृत रह जाते हैं। जब कुल धर्म की निष्ठाएँ, मर्यादाएं, व्यवहार शून्य हो जाएँगी, उन्हें अनुपालित करने वाला परिवार में कोई शेष नहीं रहेगा, तो निश्चय ही उस परिवार को, उसके सम्पूर्ण कुल को अधर्म घेर लेगा।[3] धर्म की अपालना अधर्म की वृद्धि का कारण होती है। जिस कुल में पुरुषाभाव होता है, स्त्रियां मात्र शेष रह जाती हैं कोई कुल मर्यादाओं की रक्षा करने वाला शेष नहीं रह जाता है, जिससे स्त्रियां स्वेच्छाचारिणी बनकर सदोषता को प्राप्त होती हैं। विधवाओं का निरंकुश कुल धर्म विस्मृत जीवन व्यभिचार की ओर अग्रसर होता है। वे काम शांति के लिए, अथवा आर्थिक कारणों से विपन्न होकर विधर्मी पुरुषों का संसर्ग

१ १.३८ २ १.३९ ३ १.४०

ग्रहण करने में भी नहीं हिचकिचाती। विधर्मी पुरुषों के संसर्ग से उत्पन्न सन्तानें वर्ण संकरता के दोष से ग्रसित होती हैं।[1]

वेदव्यास हमें गीता में स्त्रियों एवं पुरुषों दोनों को ही समान कुलजाति धर्मियों में ही विवाहित होने का प्रतिपादन करते दृष्टिगत होते हैं। वे वर्ण संकरता को महादोष स्वीकारते हैं। धर्म को कर्म के तथा प्रकृतिजात गुणों के संदर्भ में ही देखना चाहिए। क्योंकि वेदव्यास ने आगे के अध्यायों में चातुर्वर्ण्यों की सृष्टि गुण कर्म विभागशः मानी है। गुण का बाह्य गुण विभूति से नहीं, त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न सत रज तम इन तीनों गुणों से अभिप्राय है, जो मनुष्य की प्रकृति को प्रभावित करते हैं। इन्हीं गुणों की प्रभविष्णुता के आधार पर वेदव्यास मनुष्य प्रकृति को तीन भागों में विभाजित करते हैं—दैवी, आसुरी तथा राक्षसी। इसीलिए वे कुल क्षय दोष के प्रसंग को बढाते हुए गीता के प्रथम अध्याय में कहते हैं कि वर्ण संकर सन्तानों द्वारा युद्ध में दिवंगत हुए परिवार से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखने के कारण, उनके लिए पिण्डोदक क्रिया क्यों करेंगे। वंश हीन उस परिवार के पिता लुप्त हुई पिण्डोदक क्रिया से अपने अपने लोकों से या अच्छी योनियों से गिर जाते हैं। युद्ध में खेत रहे वीरों का पिण्डोदक क्रिया नहीं होने से उद्धार नही होता और वे बुरी योनियों में गिर जाते है। भूत प्रेत योनि में पड़कर पतित होते है। इस तरह वर्ण संकर अपने को व कुल जिसका नष्ट हो गया है उसको, दोनों को नरक मे ले जाने वाला होता है।[2] नष्ट कुल वालों एवं वर्ण संकरो के इन दोषों से शाश्वत कुल धर्म तथा जाति धर्म दोनों नष्ट हो जाते हैं।[3] जिन वर्ण सकर मनुष्यों के कुलधर्म उत्पन्न हो गए हैं वे अनियत काल तक नरक में वास करते हैं।[4] आज की भाषा मे कहें तो श्री वेदव्यास हमें रक्त की पवित्रता पर अधिक जोर देते दृष्टिगत होते हैं। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि संसार में पुरुषों का अभाव नही होना चहिए। अन्यथा सृष्टि क्रम को चलाने, अपने काम भाव को सन्तुष्ट करने अथवा आर्थिक कारणों से विपन्न होकर साध्वी विधवाओ को भी, विजातीय, विधर्मी, तथा दूसरे कुलों के जनों के साथ संसर्ग के लिए, सहवास के लिए विवश होना पड़ता है। अपनी जाति एवं धर्म से भिन्न दूसरी जाति धर्म वाले के साथ स्त्री संसर्ग को श्री वेदव्यास व्यभिचार मानते हैं। श्री वेदव्यास मृतात्माओ की मुक्ति के लिए श्राद्ध तर्पणादि क्रियाओं को अतीव आवश्यक मानते हैं। जिन कुलों के पुरुष वर्ग का युद्ध में नाश होता है, वह वर्णसंकर उस नष्ट पुरुष के कुल के उद्धारार्थ कोई क्रिया नहीं करता अतः वह वर्ण संकर उस नष्ट वंश कुल को नरक मे डालने वाला ही कहा जाएगा। वह वर्ण संकर उस कुल का नही होने से श्राद्ध तर्पणादि क्रियाओं का अधिकारी कर्त्ता भी कैसे माना जा सकता है। अधिकारी क्रिया कर्त्ता के अभाव में युद्ध मे शहीद हुआ वीर ही नहीं, उसके पितर भी इन श्राद्ध तर्पणादि के अभाव में स्वर्ग से भी गिरकर नरकवासी हो जाते हैं और नरक में भी अनियत काल तक उन्हें अन्य नीच योनियों में जन्म लेने से पूर्व रहना होता है। ऐसा वेदव्यास सुना हुआ

---

१. १.४१
२. १.४२
३. १.४३
४. १.४४

कथन कहते हैं। वर्ण संकर सन्तान नष्ट वंश कुल के जाति एवं कुल धर्म को क्यों ग्रहण करेगी। वह तो अपने पिता के कुल जातिधर्म को वरेगा। इस तरह युद्ध में वीरगति पाए शहीदों का वंश अधिकारी वंशज के अभाव में, श्राद्ध तर्पणादि क्रियाओं के अभाव में अपने जाति एवं कुल धर्म को खो देता है।

वेदव्यास ने धनुर्धर अर्जुन के मुख से उपर्युक्त दोष कहलवाए हैं। यहां एक प्रश्न होता है, स्त्रियों के व्यभिचारिणी होने, वंशी उत्तराधिकारी न होने, श्राद्ध तर्पणादि नहीं होने से यदि वर्णसंकरता का दोष बढता है, तथा सनातन शाश्वत कुल एवं जाति धर्म को लोप हो जाता है तो कौन सेना में प्रवेश लेगा तथा देश धर्म के लिए मर मिटने को उद्यत होगा। कौन अपने पिता एवं पितरों को नरक-वासी बनाएगा ?

वेदव्यास ने इसका उत्तर गीता में कहीं नहीं दिया है। शायद यह गीताकार को अभीष्ट भी नहीं था। गीताकार को तो सांसारिकों को कर्मविधि समझानी थी; जिससे व्यक्ति कर्म करता हुआ भी जन्म-मृत्यु के बंधन में फिर न बधे। उसे उसके किए कर्म का कोई प्रतिफल न लगे और वह मृत्यु के उपरान्त मोक्ष को प्राप्त करता हुआ, अनन्त काल तक परमात्मा के परमधाम में निवास कर सके। इसीलिए कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वंशहीनता के दोष तो बताए; महाभारत भी कराया, पर युद्धोपरान्त दोषों के परिहार का प्रकार नहीं बताया। वेदव्यास जाति धर्म शाश्वत, जन्मना तथा वंशानुगत मानते हैं। क्या सत रज तम गुण के प्रभाव-सामञ्जस्य से जो कर्माचिति है, वह भी वंशज को उसी मात्रा में उत्तराधिकार में मिलती है ? पुत्र पिता की आत्मा होने से क्या उसमें भी सत, रज, तम गुणों की उसी मात्रा में शक्तिमत्ता, बहुलता तथा प्रधानता होती है ? यह प्रश्न भी गीता में कहीं समाधान को प्राप्त नहीं हुआ है। यदि ऐसा है तो एक ही पिता के पुत्र दैवी एवं आसुरी सम्पदा से युक्त कभी कभी क्यों दिखते हैं ?

यह सही है, युद्ध स्वयं में एक विभीषिका है। अतीव भयानक स्वप्न है। उसके परिणाम भी व्यभिचार बढाने वाले हो सकते है। फिर भी युद्ध लड़े जाते है, लड़े जाते रहेंगे। कभी धर्म के लिए, कभी देश के लिए और कभी अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए।

गीता का यह वर्ण-संकर प्रसंग जो प्रथम अध्याय में विषाद एक विरक्ति को प्राप्त मोहग्रस्त अर्जुन के मुख से श्री वेदव्यास ने भगवान् कृष्ण के सम्मुख कहलवाया है, क्या उससे लेखक बाधित है ? रचयिता जब कोई विचार-पक्ष एवं विपक्ष में देता है, तब उसका उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है। अतः वेदव्यास उपर्युक्त विचार को अक्षरशः स्वीकार करते है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। लेखक कवि समाज के सोच के लिए अपना तर्कसम्मत विचार प्रस्तुत भर करता है। यदि ऐसा है तो क्या अर्जुन स्वयं उपयुक्त विचारों वाला था, ऐसा मानना चहिए ?

गीता, भारतीय जीवन दर्शन का प्रतिनिधि छन्दोबद्ध ग्रन्थ है। अतः इसका प्रत्येक शब्द भारतीय जीवन दर्शन के सनातन आचार विचारों से सम्बद्ध है ऐसा

निस्सन्देह कहा जा सकता है। इस अभिप्राय से जाति, कुल, रक्त की पवित्रता, सनातन भारतीय जीवन मूल्य है तथा इन्हें इसी रूप में हमें मानना चाहिए। इसीलिए हमारे हिन्दू समाज में जाति, वर्ण, कर्म, धर्म, श्राद्ध, तर्पण, स्त्रियों में पातिव्रत्य रक्त की पवित्रता आदि भाव अपना विशेष महत्त्व का स्थान रखते हैं। □

तेरह

क्षात्रधर्म : गुण कर्म स्वभाव के सन्दर्भ में

पृथिवी पर या स्वर्ग में, देवताओं में या प्राणियों में ऐसा कोई नहीं है जो प्रकृति सम्भूत सत्, रज, तम इन तीन प्रकार के गुणों से मुक्त हो।[१] यह सारी सृष्टि त्रिगुणात्मक है। इन गुणों का प्रभाव ही स्वभाव का निर्माण करता है। यह स्वभाव चार प्रकार का पाया जाता है। स्वभावजन्य गुण कर्म विभाग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों की सृष्टि करता है।[२] शम, दम, तप, शुचिता, शांति, ऋजुता, ज्ञान, विज्ञान में आस्तिक्य ये ब्राह्मण के स्वभावज कर्म कहे गए हैं।[३] युद्ध में शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, अपलायन तथा सामान्य जीवन में दान, ईश्वर भक्ति होना क्षत्रिय के स्वभावज कर्म हैं।[४] कृषि, गोरक्षण, वाणिज्य वैश्य के तथा परिचर्यात्मक कर्म शूद्र के स्वभावज कर्म माने हैं।[५]

इन गुणों के ही परवश हुए प्राणिमात्र अपने सम्पूर्ण कार्य कर रहे हैं। कोई भी प्राणि किसी भी क्षण बिना कर्म किए नहीं रहता। मनसा वाचा कर्मणा वह कार्य करता ही रहता है।[६] कर्म शरीर यात्रा के लिए आवश्यक भी है। कुछ नियत कर्म हैं कुछ नैमित्तिक कर्म हैं। नियत कर्म किए बिना शरीर की यह वय यात्रा पूरी भी कैसे हो सकती है। इस कारण अकर्म की स्थिति से कर्म की स्थिति श्रेष्ठ कही गई है। दूसरे अर्थ में कर्म त्याग से कर्म करना अच्छा है।[७] कर्म का कर्त्ता कोई और नहीं है, आत्मा नहीं है। प्रकृति के गुण ही सारे क्रियमाण कर्मों के हेतु हैं।[८] जो गुण कर्म के तत्त्व को विभागशः जानने वाले हैं वे यही मानते हैं कि गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं।[९] इन्हीं गुण और कर्म के विभागों के अनुसार ही चातुर्वर्ण्य की सृष्टि हुई है।[१०] अच्छे कर्म जैसे यज्ञ दान

१ १८.४० गीता
२ १८.४१
३ १८.४२
४ १८.४३
५ १८.४४
६ ३.५
७ ३.८
८ ३.२७
९ ३.२८
१० ४.१३

तप आदि अत्याज्य हैं। त्याज्य केवल दोषयुक्त कर्म है। नियत कर्मों का तो कभी त्याग नहीं होता।[1] कर्म की सिद्धि के पांच हेतु होते हैं—अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा तथा दैव।[2] शरीर वाणी एवं मन से नर जो भी कार्य प्रारम्भ करता है चाहे वह न्याय हो चाहे विपरीत, ये पांचों ही उसके हेतु होते हैं।[3] सात्विक राजस व तामस करके कर्म व कर्त्ता दोनों के त्रिविध भेद होते हैं।[4]

समाज वृत्ति विश्लेषण तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु इन स्वभावज कर्मों के अनुपालन को ही उस जन का उन्होंने श्रेष्ठ कर्म माना है। वे कहते हैं कि अपने-अपने स्वभावज कर्म में अभिरत नर ही संसिद्धि प्राप्त करते हैं।[5] यह संसिद्धि कैसे प्राप्त होती है इसका भी उन्होंने सविस्तार वर्णन किया है। वे मानते हैं कि स्वभावज कर्म करना ईश्वर का अर्चन पूजन करना ही है।[6] स्वभावज कर्म ही गीताकार के अनुसार स्वधर्म है। अपने स्वभाव के विपरीत दूसरे के स्वभावज कर्म अर्थात् पर धर्म में अनुष्ठित होना श्रेयस्कर नहीं होता। अपने धर्म में आस्था प्रवृत्ति एवं उसकी क्रियान्विति ही श्रेयस्कर होती है। जो अपने स्वभावानुसार ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ऐसे चार प्रकार के जो नियत कर्म हैं, करता है वह कभी किल्विष अर्थात् पाप को प्राप्त नहीं होता।[7] जो स्वाभाविक कर्म हैं मनुष्य को उनमें दक्षता न होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए। सदोष भी उन्हें करना चाहिए। जैसे अग्नि जलने से पहले धूमावृत्त होती है वैसे ही स्वभावज कर्मों का प्रारम्भ भी अभ्यासाभाव में दोषयुक्त होना ही है।[8]

इसी सन्दर्भ को विवेचित करते हुए गीता के दूसरे अध्याय में योगेश्वर कृष्ण अपने श्रीमुख से अर्जुन को क्षात्रधर्म के आधार पर युद्ध प्रवृत्त करते हुए कहते हैं कि तू क्षत्रिय है, तेरा क्षात्रधर्म युद्ध में शौर्य, तेज, धृति, दक्षता तथा अपलायनता को ग्रहण करने वाला है। अतः तेरे स्वभाव धर्म के अनुसार तेरा युद्ध में विकम्पित होना योग्य नहीं है।[9] क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध के अतिरिक्त और कोई दूसरा कर्म श्रेयस्कर नहीं है।[10] धर्मयुद्ध में मृत्यु को वरण करने वाले भाग्यशाली को ही क्षत्रिय स्वयमेव खुल कर मिलता है। अर्थात् स्वर्ग द्वार ऐसे क्षात्र के अनुवर्ती क्षत्रियों के लिए स्वयमेव खुल जाता है।[11] यदि क्षत्रिय धर्मयुद्ध में क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध प्रवृत्त नहीं होता है तो वह अपने क्षात्रधर्म की कीर्ति का नाश ही नहीं करता अपितु कायरता को वर कर पाप भी करता है।[12] क्योंकि अकीर्ति मरण से भी अधिक भयावह होती है। पीढ़ी दर पीढ़ी इसी अकीर्ति की चर्चा चलती रहती है।[13] महारथी ऐसे रण पलायनी को मृत्यु भय से भीत होकर रण उपरत हुआ मानते हैं।[14] और जो नहीं कहना चाहिए ऐसी

---

१. १८.७ — २. १८.१४
३. १८.१३ — ४. १८.१३, २३ से २८ तक
५. १८.४५ — ६. १८.४६
७. १८.४७ — ८. १८.४८
९. २.३१ — १०. २.३२
११. २.३३ — १२. २.३४
१३. २.३५ — १४. २.३६

अवाच्यवाणी अहिती कहते संकोच नहीं करते । निन्दा से दुःखतर अन्य कोई नहीं होता ।[1] अतः हे कौन्तेय ! विषाद को त्यागकर उठ और युद्ध करने का निश्चय कर । यदि वीर गति को प्राप्त हुआ तो स्वर्ग के अपार सुख भोगेगा और जीता तो इसी भारी मही के राज्य सुख को प्राप्त होवेगा ।[2]

परमात्मा न तो कर्तृत्व को, न लोक कर्म को, न कर्मफल संयोग को सृजता है । केवल परमात्मा के प्रकाश से प्रकृतिज गुणों का स्वभाव ही गुणों में बरत रहा है ।[3] जो देवी सम्पदा से युक्त पुरुष होते हैं वे अपना जीवन शास्त्र-विधि के अनुसार ढाल लेते है । पर आसुर स्वभाव वाले स्वेच्छाचारी उच्छृंखल होते हैं । उनके लिए शास्त्र का कोई अर्थ नहीं होता ।[4] अशास्त्र निहित कर्मी ही आसुर हैं ।[५]

ये जो गुण हैं, सत, रज, तम ये तीनों प्रकृति प्रसूत हैं । इसी तरह रागद्वेषादि विकार प्रकृति संभूत हैं ।[६] कार्य करण एव कर्तृत्व की हेतु प्रकृति कही गई है । संपूर्ण कर्म प्रकृति से क्रियमाण हैं ।[७] ये भी प्रकृति संभूत हैं ।[८] सत्त्वगुण निर्मलता के कारण अनामय प्रकाश का कारण है । ज्ञान व सुख से मनुष्य को जोड़ता है ।[९] तृष्णा के सग उत्पन्न होने से रजोगुण रागात्मक होता है। यह कर्म के साथ नर को बांधता है ।[10] तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न मोह में प्राणियों को बांधता है । प्रमाद आलस्य निद्रा का कारण है ।[11] इस तरह संक्षेप में कहें तो सत्त्वगुण सुख में तथा रजोगुण कर्म में लगाने वाला है और ज्ञान को ढके रखने वाला तमोगुण प्रमाद से जोड़ता है ।[12] जब रज तम अभिभूतावस्था में होते हैं तब सत को बढा जानो । जब सत तम पराभूत हो रहे हों तव रज को तथा जब सत रज अभिभूत हों तव तम को की वृद्धि होती है ।[13] जब देह के समस्त द्वारों में प्रकाश उत्पन्न दिखे, जब ज्ञान और विद्या का वैवृद्धय लगे तब समझो सत बढा है ।[14] जब लोभ, प्रवृत्ति आरम्भ, कर्म में अशान्ति और स्पृहा जगे तब रज का वैवृद्धय जानो ।[१५] और जब अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद मोह जगें तब तम की वृद्धि जानो ।[1६] सुकृत कर्म का फल सात्त्विक निर्मलफल होता है । रज का फल दुःख है तथा तम का अज्ञान ।[17] सत्त्व से ज्ञान, रज से लोभ और तम से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है ।[18] जो सत्त्वस्थ होकर

---

१. २.३७
२. २.३८
३. ५.२४
४. १६.२३
५. १९.५.६
६. १३.१९,१४.५
७. १३,२०
८. १३ २९
९. १४.६
१०. १४.७
११. १४.८
१२. १४.९
१३. १४.१०
१४. १४.११
१५. १४.१२
१६. १४.१३
१७. १४.१६
१८. १४.१७

शरीर छोड़ते हैं, वे उर्ध्व गमन करते हैं। जो राजस स्थित होकर शरीर छोड़ते हैं वे बीच में ही रहते हैं। तथा जो तामसी स्वभाव वाले जघन्य गुण वृत्ति में स्थित होकर शरीर छोड़ते हैं वे अधोगति को प्राप्त होते हैं[1]—इन गुणों के अतिरिक्त कर्म का कोई कर्त्ता नहीं है।[2] □

१. १४.१८ २. १४.१९ (१)

चौदह

शांकर भाष्य और श्रीमद्भगवद्गीता

गीता पर सबसे पहला भाष्य यदि कोई उपलब्ध होता है तो वह शाङ्कर भाष्य है। आद्य शङ्कराचार्य जैसा विद्वान् मनीषी अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। उनके भाष्य ने ही गीता के मर्म को विद्वत् समाज के सम्मुख रखा है। इस दृष्टि से भारत ही नहीं विश्व का विद्वान् उनका ऋणी रहेगा।

आद्य शङ्कराचार्य वालपन से ही संन्यासी थे। सर्व कर्म त्यागी सन्यासी थे। आत्म ज्ञानी थे। इस नाते उनका अनुभव परीक्षित मान लेने में किसे क्या आपत्ति हो सकती है। संसार ने उन्हें माना ही है। हां, कुछ लोग ऐसे अवश्य है जिन्होंने इसी भाष्य के सहयोग से गीता को समझ, इसके अन्तर्भूत कुछ मौलिक प्रश्नों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। मैं नहीं कहता वे शत प्रतिशत सही हैं; पर एक निश्चित अपना चिन्तन तो उन्होंने प्रस्तुत किया है। उनका कहना भी है कि श्रीमद् आद्य शङ्कराचार्य ने गीता का भाष्य पहले कर्म त्याग संन्यास की पूर्व धारणा बनाकर किया है। अत: भाष्य में भी उसी का प्रभाव आ जाने से प्रस्थापनाएं विचार प्रभावित हो गई हैं।

जैसे श्रीमद् शङ्कराचार्य ने अध्याय एक के दूसरे श्लोक से लेकर अध्याय २ के नवें श्लोक तक का आशय समझाते हुए (शांकर भाष्य, गीता प्रेस गोरखपुर दशम संस्करण पृष्ठ २५ से ३२ तक।) अपना यह मत प्रतिपादित किया है कि शोक व मोह की निवृत्ति सर्व कर्म त्याग संन्यासपूर्वक आत्म ज्ञान से ही हो सकती है, और किसी प्रकार से नहीं। यहां सहमत होना कठिन है। इसका गीता के तीसरे अध्याय से भी अधिक सटीक उत्तर अठारहवें अध्याय में भगवान् ने दिया है। देखिए—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।१८.५
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।१८.७

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।।१८.११

अर्थ है यज्ञ, दान, तप, कर्म त्यागने योग्य नहीं है। इन्हें करना निस्संदेह कर्त्तव्य है। नियत कर्म का त्याग करना योग्य नही है। क्योंकि देहधारी पुरुष सपूर्णता से सब कर्मो को त्यागने में समर्थ नही है।

इसीतरह आद्याचार्य ने जब यह कहा कि अधिकारी को ज्ञान एवं कर्म का एक काल में करना भगवान् ने नहीं कहा है; वहाँ भी हमारी सहमति नहीं हो सकती जबकि गीता में भगवान् को ज्ञान और कर्म दोनों का समुच्चय अभीष्ट है। उदाहरण के लिए निम्न श्लोक को उद्धृत किया जा सकता है—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।।४.४१

जिसके सम्पूर्ण कर्म समत्व बुद्धि योग से संन्यस्त हैं तथा जिसके समस्त सशय ज्ञान से सछिन्न हो गये है, ऐसे आत्मवन्त पुरुप को कर्म नही बांधते हैं। गीता में कर्म एवं ज्ञान से सयुक्त होने के पश्चात् भी एक और अनिवार्यता कही है, वह है आत्मवन्त होने की। परमात्म परायण होने की। इस तरह ज्ञान कर्म व भक्ति तीनों का समन्वय ही गीता को अभीप्ट है।

इसी तरह भगवान् शङ्कर जब यह कहते हैं कि तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति होती है, कर्म सहित ज्ञान से नहीं होती वहाँ भी हमारी असहमति ही है। यदि वे ऐसा इस आधार पर मानते हैं कि ज्ञान सारे कर्मो को दग्ध कर देता है; तो क्या उसका अर्थ यह है कि उस स्थिति में कर्म यथार्थ में रहता ही नहीं ? हमारा मत है कि गीताकार का 'ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणो' में कर्म के बंधनकारी प्रभाव का दहन भर है, कर्म की नैसर्गिक स्थिति का दहन नही। अकर्म में कर्म की स्थिति सदा छिपी है। फिर शरीर यात्रा भी तो विना कर्म के सिद्ध नही होती। गीता में स्पष्टता से इसका उल्लेख आया है—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ।।३.८
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।३.१६
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।।३.२०

अर्थात् तुम नियत कर्म करो। निस्सन्देह अकर्म से कर्म श्रेप्ठ है। अकर्म से शरीर यात्रा भी यथार्थ रूप से सिद्ध नही होती। इस लिए अनासक्त भाव से सतत कार्य कर्मो का समाचरण करो। अनासक्ति भाव से कर्मो का आचरण करता हुआ मनुष्य असंदिग्ध रूप से परम पुरुष को प्राप्त होता है। जनकादि भी कर्म करते हुए संसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। लोक संग्रह को देखते हुए भी कर्म करना योग्य है।

इस तरह भगवान् ने कहीं भी केवल ज्ञानी होकर और सारे कर्मो का त्याग कर बैठ जाने को बिल्कुल नहीं कहा है। इसके विपरीत भगवान् ने स्पप्ट कहा है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तःसमाचरन् ।।३.२६

अर्थ है ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे। स्वयं परमात्मा में स्थित हुआ भी सब कर्मों को बुद्धियोगपूर्वक समाचरित करता हुआ उनसे भी वैसे ही करावे। इससे अधिक स्पष्ट निर्देश और क्या हो सकता है।

तृतीय अध्याय के पहले श्लोक का भाष्य करते हुए आद्याचार्य ने जब कहा कि वेदव्यास ने श्लोक २.५५ से लेकर अध्याय पर्यन्त सांख्य बुद्धि वाले पुरुषों को संन्यास का तथा 'एषा ब्राह्मीस्थिति' तक अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश दिया है; उससे भी सहमत हो पाना कठिन है क्योंकि सारा का सारा वर्णन व प्रसंग निष्काम कर्मयोग का है। गीता इसीलिए पूर्व के सभी धर्मग्रन्थों से थोड़ी पृथक् हो गई है। संन्यास का सही अर्थ गीता में अठारहवें अध्याय में प्रस्तुत किया है। ब्रह्मचर्य से ही सब कर्म छोड़कर संन्यासी बनने की बात गीता ने कहीं नहीं कही है। गीता ने तो संन्यास या त्याग का अर्थ काम्य कर्मों का संन्यास तथा कर्म फल का त्याग बताया है।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।१८.२
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।१८.६
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।।१८.९

विचार कुशल पुरुष सब कर्मो के फल के त्याग को त्याग कहते हैं। यज्ञ दान और तप जैसे कर्म तथा अन्य और सभी श्रेष्ठ कर्म आसक्ति और फल त्याग कर अवश्य करने चाहिए। भगवान् का ऐसा ही निश्चित किया हुआ उत्तम मत है। कर्म करना कर्त्तव्य है, ऐसा समझकर शास्त्रविधि से नियत किया हुआ कर्त्तव्य कर्म आसक्ति और फल को त्यागकर करना चाहिए। यह ही सात्त्विक त्याग माना गया है।

शङ्कराचार्य जी जब यह कहते हैं कर्मयोग का विधान अज्ञानियों के लिए ही है, ज्ञानियों के लिए नहीं, कर्म योग तो ज्ञान के एक उपादान के रूप में आया है, वहाँ भी हमें असहमति ही प्रकट करनी पड़ती है। शंकराचार्य जी की त्रुटि नहीं है। उनकी अपनी यह मान्यता है और भाष्य से पूर्व वे इसे मानकर चले हैं अतः अपने मतानुसार ही उन्होंने गीता का अर्थ भी किया है।

यदि कर्मयोग, ज्ञानयोग का मात्र उपादान होता तो भगवान् 'योग संन्यस्त कर्माणं ज्ञान संछिन्न संशयम्' अलग-अलग नहीं कहते। फिर ज्ञान व कर्मयोग को एक तथा एक सा फल प्रदाता नहीं कहते हैं। देखिए, कहा भी है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।५.४

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५.५

मूर्ख लोग सांख्य व योग को पृथक् कहते हैं, पण्डित नहीं । कोई भी व्यक्ति सम्यक् प्रकार से दोनों में से किसी एक में आस्थित होने पर दोनों के फल रूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है । मैं इतना भी कह सकता हूँ कि भगवान् ने सांख्य के ज्ञान योग की अपेक्षा कर्मयोग को अपनाने का ही आग्रह किया है । इसी कारण कई विद्वान् गीता को कर्मयोग का दर्शन कहते हैं । देखिए—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥५.६

निष्काम कर्मयोग के बिना संन्यास प्राप्त होना कठिन है । इसके विपरीत जो निष्काम कर्मयोग से युक्त मुनि है वह शीघ्र ही परमात्मा को प्राप्त हो जाता है । अर्थात् संन्यास की सिद्धि, निष्काम कर्मयोग की सिद्धि के बिना कठिनता से प्राप्त होती है । इसलिए संन्यास के पीछे पड़ने की आवश्यकता नहीं है, वह तो कष्टसाध्य है । निष्काम कर्म योग की सिद्धि करो उसी से परमात्मा में स्थिति हो जाएगी । एक तरह से ज्ञान योग का तिरस्कार है । भगवान् ने ज्ञान की तो प्रशंसा की है पर सांख्य के ज्ञानयोग की प्राप्ति की प्रेरणा न देकर कर्मयोग की प्रेरणा दी है ।

शंकराचार्य जी भगवान् के कहे वचनों पर सन्देह करते हुए जब संशयप्रकट करते हैं तथा उस श्लोक को अपना अर्थ देते हैं, तो पाठक का मन वितृष्णा से भर जाता है । शंकराचार्य जी जब यह कहते हैं कि ज्ञान का उपाय कर्मयोग है उसे करो तब लगता है आद्याचार्य गीता की उस महती भूमिका को छोड़ अपने मत के प्रचार के लिए गीता का उपयोग करते दृष्टिगत होते हैं । हमारा अपना मत है कि अर्जुन के विषाद का जो कारण था, वह ज्ञानियों जैसा था, त्याग परक । भगवान् को अर्जुन को युद्ध प्रवृत्त करना था और अर्जुन को युद्ध के नरसंहार के बाद भी मोक्ष की सिद्धि दिलवाना था, अतः भगवान् ने सारी गीता में संन्यास से निष्काम कर्मयोग को श्रेष्ठ प्रतिपादित किया है । सार रूप में हम कह सकते हैं कि गीता कर्म की ही व्याख्या है । यदि ऐसा न होता तो भगवान् अर्जुन को नहीं कहते, हे अर्जुन ! तू तो पण्डितों एवं ज्ञानियों जैसी बातें कर रहा है और अशोचनीय के प्रति शोक कर रहा है ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥२.११

यदि मैं यह कहूँ कि निष्काम-कर्म योग के उपादान के रूप में ज्ञान योग का उपयोग भगवान् ने गीता में किया है तो अत्युक्ति नहीं होगी—

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४.४२

अतः हे भारत, अज्ञान से उत्पन्न हृदय में स्थित संशय को तू अपनी ज्ञान रूपी तलवार से छेदन करके योग में स्थित होने को खड़ा हो । पहले कौनसा कर्म,

ज्ञान से संशय को छेदना फिर योग में स्थिति। कौन किसका उपादान हुआ? और जब भगवान स्पष्ट रूप में यह कह देते हैं—

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥५.२

कर्म संन्यास से कर्मयोग विशिष्ट है तब हमारे कथन के प्रति क्या सन्देह रह जाता है। ऊपर कहे कथनों को और इसके साथ जोड़ दीजिए। पुष्टि होती चलेगी। शंकराचार्य जी का यह कथन कि ज्ञान और कर्म का समुच्चय कभी नहीं हो सकता, सर्वथा असंगत लगने लगता है। ज्ञानी को भी नियत तथा नित्य नैमित्तिक कर्म करना होता है। ज्ञानी को लोक संग्रह के लिए सर्वभूतहितरत होकर कार्य करना होता है। इस तरह ज्ञान के साथ कर्म तो आवश्यक रूप से जुड़ा होना चाहिए। ज्ञानी ही निष्काम कर्म योगी हो सकता है। बिना ज्ञान के निष्कामता कैसी। निष्काम भाव भी तो एक तरह से ज्ञान ही है। हमारा अभिमत है कि ज्ञान सहित कर्म या कर्म सहित ज्ञान से मुक्ति होती है। शंकराचार्य जी के इस मत से कि तत्त्वज्ञान ही से मुक्ति होती है, कर्मसहित ज्ञान से नहीं होती, हमारा सहमत होना कठिन है। इसी तरह उनकी इस धारणा से कि कर्मयोग की समाप्ति पर ज्ञानयोग की स्थिति होती हैं, हम सहमत नहीं है। कारण, हम विस्तार से ऊपर बता आये हैं। आद्याचार्य जब यह कहते हैं द्वितीय अध्याय में 'नायं हन्ति न हन्यते' ऐसी प्रतिज्ञा करके 'न जायते' से 'वेदानाशिनं नित्यम्' तक ज्ञानी को कर्म के अधिकार का नहीं होना, गीता शास्त्र के आदि में संक्षेप से भगवान् कह कर और मध्य में विस्तार पूर्वक प्रसंग जहां तहां करके इस अठारहवें अध्याय में इस गीता शास्त्र के अर्थ को एक पिण्ड रूप करके भगवान् उपसंहार करते हुए कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१८.१७

जिसमें कर्त्तापन का अभिमान नहीं, जिसकी बुद्धि, कर्म फल में लिपायमान नहीं है वह इस संसार में युद्ध में शत्रुओं को मारकर भी न किसी को मारता है, न युद्ध कर्म के बुरे फल से बंधता है। यहां तक तो हम सहमत हैं, लेकिन इसका अर्थ ज्ञानपरक करना त्रुटिपूर्ण है। ये दोनों बातें कर्म के सम्बन्ध में है। कर्म का प्रसंग इसके आगे पीछे चलता है। फिर इसका अर्थ दूसरे अध्याय के सांख्य ज्ञान से जोड़ना कहां तक न्याय संगत है हम नहीं समझ सके हैं। यह कर्म बंधन का नहीं होना निष्काम कर्म योगी से सम्बन्धित है, न कि योगी से। केवल हन्ति व निबध्यते आदि शब्दों से दूसरे अध्याय के शब्दों के साथ पूरे श्लोक की संगति बैठाना उचित नहीं है। शंकराचार्य जी से हम यहाँ भी सहमत नहीं है।

इतना कुछ होते हुए भी हम निस्संदेह यह कह सकते हैं कि आद्यशंकराचार्य ने गीता का अर्थ सव्याख्या स्पष्ट कर जिज्ञासुओं का मार्ग प्रशस्त किया है। कई शब्दों की व्याख्या यदि आद्याचार्य स्पष्ट नहीं करते तो अर्थ की पकड़ कठिन हो जाती। □

गीता का प्रकट प्रयोजन

कठोपनिषद् का एक मन्त्र है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत: ।।१.३.१४

उठो, जागो और श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त करो। वही सार भाव गीता का कहा जा सकता है। सारी गीता सुनाने के उपरान्त भगवान् कृष्ण के पूछने पर अर्जुन कहता है—

नष्टो मोह: स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गत सन्देह: करिष्ये वचनं तव ।।१८.७३

हे अच्युत ! आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट-नष्ट हो गया है, मुझे अपने कर्त्तव्य की स्मृति प्राप्त हो गई है। सारे सन्देह दूर हो गए हैं। मैं आपके वचन की पूर्ति करने को प्रस्तुत हूँ। इस श्लोक में मोह, स्मृति एवं सन्देह तीन शब्द आए हैं जो भगवान् के अभिवचन से नि:शेष हुए हैं।

अर्जुन को किस लिए मोह हुआ, किस कारण से स्मृति नाश को प्राप्त हुआ और मन में क्या-क्या सन्देह जगे, विषय पर आगे बढ़ने से पूर्व इन कारणों को जान लेना अतीव आवश्यक है। गीता में मोह की उत्पत्ति का कारण दर्शाने वाला एक श्लोक इस प्रकार आया है -

क्रोधाद्भवति संमोह: संमोहात्स्मृतिविभ्रम: ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।२.६३

क्रोध समुद्भूत मोह स्मृतिभ्रंश का कारण है। इस तरह अर्जुन का मोह तथा स्मृति भ्रंश दोनों उद्विग्न मनोदशा के नैरन्तर्य के सूचक हैं। क्रोध का जनक काम है और काम विषयों के ध्यान व उनके संग का परिणाम है।

ध्यायतो विषयान्पुंस: सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।२.६२

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मन: ।
काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।१६.२१

काम, क्रोध व लोभ ये तीनों ही नरक के द्वार हैं, आत्मा का नाश करने वाले हैं अत: ये तीनों ही त्याज्य हैं।

अर्जुन के विषाद का कारण भी मोह ही था। गीता के अठारहों अध्यायों में इस मोह से मुक्ति के उपाय ही बतलाए गए हैं। अर्जुन के व्याज से भगवान्

श्रीकृष्ण के श्रीमुख से वेदव्यास जी ने निष्काम कर्मयोग का भारतीय मनीषा का महान् सन्देश समस्त विश्व के जन-जन को दिया है। सचमुच में वास्तविक ज्ञान के उदय का प्रकल्प ही गीता का सन्देशवाहक है। यह ज्ञान मनुष्य-मनुष्य को विश्व में सांसारिक जीवन को व्यतीत करते हुए कैसे वर्तना चाहिए ? इसकी महान् शिक्षा देने वाला है। व्यक्ति के स्वयं के आचरण, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के सम्बन्ध तथा व्यक्ति एवं समष्टि के बीच के सामञ्जस्य परक सिद्धान्त का विवेचन ही गीता का ज्ञेय है।

भगवान् मधुसूदन कृपयाविष्ट अश्रुपूर्ण आकुल नेत्र विषीदन्त अर्जुन के हृदय में जगे मोह की भर्त्सना करते हुए कहते हैं—

> कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
> अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२.२

हे अर्जुन ! तुझमें यह आर्यों द्वारा असेवित, स्वर्ग प्राप्ति में बाधक, अकीर्ति का अज्ञान रूप मोह इस विषम परिस्थिति में कैसे समुपस्थित हो गया ? यहाँ भगवान् का अर्जुन के वीर हृदय में अचानक समुपस्थित मलीन क्लैव्य के प्रति एक आश्चर्य का भाव प्रदर्शित है। साथ ही भगवान् अर्जुन को सचेष्ट भी कर रहे हैं कि जो कायरता का भाव जन्मा है, वह अयशकारी है।

> क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
> क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥२.३

हे कौन्तेय ! क्लीवता को मत प्राप्त होओ। तुम्हारे लिए यह शोभनीय नहीं है। हृदय के इस क्षुद्र दौर्बल्य को त्यागकर, हे परमतप ! खड़े हो जाओ। यहां कौन्तेय अथवा पार्थ दोनों ही शब्द वीर माता के वीर पुत्र होने का स्मरण कराते रहे हैं। 'न एतत् त्वयि उपपद्यते' में प्रच्छन्न रूप से क्षत्रिय होने का ही नहीं, सिद्ध वीर होने का भाव भी छिपा है। फिर क्षत्रिय का अर्थ भी है 'क्षातात् त्रायत इति क्षत्रिय' क्षति से जो बचाए वह क्षत्रिय।

इधर भगवान् के लिए इससे पहले श्लोक में मधुसूदन शब्द का उपयोग किया है। ज्ञान कौन दे सकता है ? जो अज्ञान को हरने की क्षमता रखता हो। मधु काम राग का है। मोह का है। पौराणिक दृष्टि से देखें तो भगवान् विष्णु के कान से उत्पन्न होने वाले मधु कैटभ राग द्वेष नहीं तो और क्या थे ? यह सृष्टि एवं मनुष्य सब इसी राग-द्वेष के द्वन्द्व को लिए भौतिक बन्धन से बंधे हैं।

विषम शब्द भी बड़ा सार्थक हो गया है। विषम क्यों—दोनों ओर की सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हो गईं। दोनों ओर से युद्ध की शंख ध्वनियां हो गईं। गीताकार ने युद्ध की इस तैयारी के बाद ही जब श्वेतअश्वरथी अर्जुन रथ को दोनों सेनाओं के बीच में लाने हेतु भगवान् से कह देता है तथा भगवान् ऐसा कर देते हैं तब कर्म विरति का वाचक यही गीता का मूल सन्देश है, जो सर्वत्र विषय प्रतिपादन के उपरान्त भगवान् के श्रीमुख से उच्चरित करवाया गया है। भगवान् ने शोक संविग्न मानस अर्जुन को इसी सन्देश को यह कह कर दिया है—

'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ।'

जो निश्चित श्रेयस्कर है वही मैं तेरे प्रति कहूँगा । मोहग्रस्त अर्जुन की क्या स्थिति हो गई थी ? स्वय कहता है—

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्पश्च जायते ।।१.२९

× × ×

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।१.३०

शरीर मे कम्पन होने लगा है । रोमाञ्च हो रहा है । हाथ से गाण्डीव छूट रहा है तथा त्वचा जल रही है । मेरा मन भ्रमित हो रहा है और मैं कोई भी काम करने की अवस्था में नही हूँ । भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसी मोह निद्रा से जगाने के लिए गीता के माध्यम से कर्मयोग का महान् उपदेश दिया है ।

युद्ध कर्म में प्रवृत्त करने के लिए ही, कुरुक्षेत्र के उस रणस्थल में जहां दोनों पक्षो की अठारह अक्षौहिणी सेना महाभीषण संहारक शस्त्रों से सन्नद्ध हो, अनेकानेक युद्धो के महायशस्वी धनुर्धरों के नेतृत्व में आमने-सामने खड़ी है । भगवान् अनेकानेक तर्को के माध्यम से अर्जुन के सन्देहों को दूर करते हुए उसे मोह-निद्रा से जगाकर कर्म प्रवृत्त करते हैं । गीता के दूसरे अध्याय के ११वें श्लोक से ऐसे विभिन्न तर्कों का प्रारम्भ होता है । सबसे पहले भगवान् अर्जुन को सांख्य योग का उपदेश देते हुए आत्मा की अमरता तथा देह की नश्वरता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।२.१२
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।२.१३

ऐसा नही है कि तू, मैं और ये सब राजागण पहले नही थे और ऐसा भी नही है कि हम सब आगे नही होंगे । देहो में स्थित जो आत्मा है वह प्राणियों की तीनो अवस्थाएँ कौमार्य, यौवन एवं जरा में तथा देहान्त के उपरान्त अन्य देह मे भी वर्तमान रहेगा । जो बुद्धिमान् आत्मा की अमरता के रहस्य को जानता है वह कभी मोहग्रस्त नही होता । आत्मा की अमरता का यह विपय ११वें श्लोक से प्रारम्भ होकर २५वे श्लोक तक निरन्तर चलता है; लेकिन वर्णन मे पिष्टपेषण न होकर सर्वत्र विषय की नवीनता बनी रहती है । लगता है भगवान् वासुदेव अपने शिष्य अर्जुन को एक के बाद एक तर्क देकर आश्वस्त कर रहे हो । जब वे कहते हैं शब्द स्पर्श रस रूप गन्धादि जो तन्मात्राएँ वे अपनी-अपनी मात्रा व स्पर्श के भेदानुसार प्राणी को शीत-ऊष्णकारी हैं, सुख देने वाली है, ये आने-जाने वाली है तथा अनित्य है, इसलिए प्राणीमात्र को सहर्ष इन्हें सहना चाहिए ।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।२.१४

क्योंकि जो असत् है उसका कोई भाव नहीं होता और जो सत् है उसका कहीं अभाव नहीं होता। यहां देह व आत्मा का अन्तर असत् व सत् के माध्यम से दर्शाया गया है। इसे दूसरा तर्क कह सकते हैं। तीसरा तर्क वे इस प्रकार देते हैं—

अन्तवन्त इमे देहानित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥२.१८

केवल शरीर नाशवान् है। इसकी सत् रूप आत्मा नित्य अविनाशी है। सार्वकालिक है। सब अवस्थाओं में है। जन्मान्तर के बाद भी है अतः युद्ध कर।

दर्शनीय यही है कि भगवान् अर्जुन को 'तितिक्षस्व', 'युद्धस्व' कहकर करणीय कर्त्तव्य का स्मरण कराना नहीं भूलते। तर्क तो विश्वास बंधाने भर के लिए है। मुख्य ध्येय अर्जुन को युद्ध प्रवृत्त करना ही है।

अविनाशी आत्मा के अकर्त्ता भाव को समझते हुए चौथा तर्क प्रस्तुत करते हैं—

नायं हन्ति न हन्यते।२.१९
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२.२०
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२.२१
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२.२२
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२.२३
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२.२४
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२.२५

इन छह श्लोकों में आत्मा के लक्षणों का वर्णन करते हुए युद्ध में किसी प्राणी के मरने न मरने के सम्बन्ध में चिन्ता न करने की प्रेरणा देते हुए वासुदेव भगवान् कृष्ण कहते हैं, यह आत्मा न तो मारता है न मारा जाता है। न यह जन्म लेता है न मृत्यु को प्राप्त होता है। न यह कभी होकर फिर होने वाला है। क्योंकि यह अज, नित्य, शाश्वत तथा पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी यह नाश को प्राप्त नहीं होता है। इसे अविनाशी नित्य अजन्मा तथा अव्यय जान। यहाँ तर्क देते हुए भगवान् कहते हैं—हे पार्थ, अब तू सोच, फिर किस प्रकार वह आत्मा किस पर घात करता है और किसे मार सकता है। अर्थात् न तो आत्मा घात करता है न किसी को मारता है। अगला तर्क देते हुए कहते हैं, जैसे मनुष्य अपने जीर्ण वस्त्रों को छोड़ कर दूसरे नये वस्त्र ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार जीर्ण देह को त्याग कर,

अन्य नवीन देह में यह आत्मा चला जाता है। इसे न शस्त्र छेद सकता है, न पावक जलाता है। न इसे जल गलाता है न मारुत सोखता है। यह तो छेद्य, असह्य, अक्लेद्य तथा अशोष्य है। यह तो नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल एवं सनातन है। यह अव्यक्त अचिन्त्य तथा अविकारी है अतः इस आत्मा को अविनाशी अकर्त्ता जानते हुए तू किसी भी प्रकार चिन्ता करने योग्य नहीं है।

अगला छठा तर्क देते हुए भगवान् कहते हैं कि महाबाहु अर्जुन, यदि इसे तू सदा जन्मने व सदा मरने वाला भी माने तो भी चिन्ता की कोई बात नहीं होनी चाहिए। क्योंकि जो जन्मा है, वह तेरे विचार से मरेगा अवश्य और जो मरा है वह जन्मेगा अवश्य। जो जन्मा है वह पहले अव्यक्त था और निधन के उपरान्त भी अव्यक्त होगा। केवल बीच की स्थिति में ही वह शरीर रूप में व्यक्त है। अपरिहार्य रूप से अव्यक्त को ही प्राप्त होता है तो फिर किसी की मृत्यु की चिन्ता पर परि-वेदना कैसी ? देखिये—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२.२६
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२.२७
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२.२८

सांख्य योग के उपर्युक्त तर्कों के पश्चात् भगवान् वासुदेव कृष्ण धर्म सम्मूढ चेता, कार्पण्य दोषोपहत स्वभाव विषीदन्त अर्जुन के समक्ष लौकिक दृष्टि से उसके क्षात्रधर्म के नैतिक पक्ष को आधार बनाकर सातवां या संश्लिष्ट भाव से कहें तो दूसरा तर्क समुपस्थित कर करते हैं कि हे पार्थ, क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्त्तव्य नहीं है। धर्मयुद्ध को करते हुए यदि तू जीता तो भू लक्ष्मी का उपभोग करेगा, मृत्यु को यदि प्राप्त हुआ हो सीधा स्वर्ग को जायेगा। यदि तू युद्ध से विमुख होकर पीठ दिखाकर भाग खड़ा हुआ तो तू महादुःखकारी निन्दा का पात्र बनेगा। इस तरह भगवान् एक ओर तो राज्य व स्वर्ग का प्रलोभन दिखाते हैं तो दूसरी ओर लोक निन्दा का भय। हर तरह से वे अर्जुन को युद्ध प्रवृत्त देखना चाहते हैं। देखिए—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३.३५

जो तुम्हारा क्षात्रधर्म है दूसरे धर्म की अपेक्षा विगुण भी यदि है तो भी उस पर चलना श्रेयस्कर है। अपने धर्म की पालना करते यदि निधन भी हो जाये तो श्रेयस्कर है पर परधर्म का अर्थात् कायर का धर्म पालन करना अतीव भयावह है।

भगवान् अर्जुन को विश्वास दिलाते हैं कि तू दैवी सम्पदा सम्पन्न है। तुझे चिन्ता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दैवी सम्पदा मोक्ष दिलवाने वाली है—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।।१६.५

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।२.३१

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।२.३२

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।२.३३

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।।२.३४

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।२.३७

अठारहवें अध्याय की समाप्ति तक पहुँचते-पहुँचते भगवान् कृष्ण शिष्य अर्जुन को फिर भय दिखाते हुए यह विश्वास प्रकट करते हैं कि तू अपने क्षत्रिय स्वभाव के विरुद्ध नहीं जा सकता । मानो वे उसके प्रसुप्त क्षात्रधर्म को अप्रत्यक्ष रूप से जगा रहे हैं । देखिए—

अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।।१८.५८

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।१८.५९

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।१८.६०

यदि अहङ्कार के कारण मेरे वचनों को ध्यान से नहीं सुनेगा, उनके अनुसार कार्य नहीं करेगा तो निश्चय ही नष्ट हो जायेगा । यदि अहङ्कार के आश्रित हो तू युद्ध नहीं करने का तय करता है तो यह क्षत्रिय व्यवसाय के विरुद्ध होने से तुझे तेरी क्षत्रिय प्रकृति अवश्य युद्ध में लगा देगी । यदि तू अपने स्वभावजन्य कर्म को मोह वश नहीं करना चाहता है तो भी तू उसे अपने स्वभाव के परवश होकर करेगा ही ।

यदि तुझे यह डर हो कि इन जीवधारियों को मारने से तुझे पाप लगेगा तो अगला आठवां उपदेश तथा संश्लिष्ट भाव से तीसरा उपदेश प्रस्तुत करते हुए भगवान् कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।२.३८

सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय, को समान समझते हुए यदि तू युद्ध प्रवृत्त होगा तो तुझे पाप नहीं लगेगा ।

भगवान् वासुदेव कृष्ण वीरवर अर्जुन को केवल सांख्य के ज्ञान योग आधार

पर सन्तुष्ट नहीं करते अपितु उसे इसके पश्चात् निष्काम कर्म योग का उपदेश भी देते हैं जिससे कर्म करते पाप नहीं लगता। अपितु जिसका थोड़ा भी साधन जन्म मृत्यु रूप महान् भय से प्राणी मात्र का उद्धार कर देता है। इस निष्काम कर्म पथ पर जो जितना बढ़ गया है, वह वहां से पीछे नहीं लौटता। अर्थात् मुक्ति की ओर सतत आगे ही बढ़ने वाला है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।२.४०

अतः वे अर्जुन से कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।२.४५
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।२.४७
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।२.४८
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।२.५०

हे पार्थ, निस्त्रैगुण्य, निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम आत्मवान बन। तेरा कर्म करने में ही अधिकार है। फल में नहीं। तू कर्म फल की इच्छा वाला न बन। साथ ही कर्मो में तेरी आसक्ति भी न हो। अतः तू योगस्थ होकर, आसक्ति को त्याग कर सिद्धि एवं असिद्धि समी भाव हो कर्म कर। समत्व भाव ही योग नाम से अभिहित है। समत्व बुद्धि वाला जन पाप और पुण्य को इस लोक में यहां ही त्याग देता है। अतः समत्व बुद्धि योग से जुड़।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।१८.५७

सब कर्मों को मेरे में अर्पण कर। मेरे में परायण हुआ समत्व बुद्धि रूप निष्काम कर्म योग का अवलम्बन कर। निरन्तर मेरे में चित्त वाला हो। यह समत्वबुद्धि योग ही कर्मो में कुशलता है। इस तरह भगवान् अर्जुन के मन में बैठे पाप भय रूपी कलुष को दूर करने हेतु समत्व बुद्धि युक्त निष्काम कर्मयोग का उपदेश देकर पाप लगने के भय से भी मुक्ति दिलाते हैं।

इससे भी आगे बढकर भगवान् वासुदेव कर्म के प्रति सशंकित मन अर्जुन के सन्देहों को दूर कर, कौन से कर्म मनुष्य को नहीं बांधते इस तथ्य का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।३.९

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।३.२७
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वर: ।।३.३०

नवां तर्क प्रस्तुत करते हुए भगवान् कहते हैं, हे अर्जुन ! सर्वत्र प्रकृति के गुण ही सारे कर्मों के करने वाले हैं। केवल अहंकारी विमूढमन ही अपने को कर्त्ता मानता है। ऐसे लोगों के कर्म ही संसार में कर्म बन्धन के कारण होते हैं; लेकिन जो कर्म परमार्थ के भाव से यज्ञ स्वरूप किए जाते हैं वे बधनकारी नहीं होते। अत: तू आध्यात्मिक भावना को मन में जगाते हुए सारे कर्म मुझे समर्पित करते हुए, कर्मफल की आशा से रहित हो, यह मेरा नहीं है इस भावना से, संशय ज्वर से विगत हो, युद्ध कर।

कर्म की व्याख्या कर कर्म करने की विधि बतलाते हुए भी भगवान् अर्जुन से यह कहना विस्मृत नहीं करते 'युध्यस्व' युद्ध कर।

वे बार बार अर्जुन को विश्वास दिलाते हैं कि संहार का यह हिंसक कर्म भी तुझे किसी भव बन्धन में नही बांधेगा। क्योंकि जो पुरुष कर्मफल से असंग नित्यतृप्त निराश्रयी हो कर्म में प्रवृत्त होता है वह कर्म करता हुआ भी कुछ नही करता। जिसकी चित्तात्मा निराशी हो गई है, सर्वपरिग्रहों का जिसने त्याग कर दिया है, वह केवल शरीर सम्बन्धी कर्म को करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता। जो कुछ मिल जाए उससे सन्तुष्ट रहने वाला, द्वन्द्वातीत, विमत्सर, सिद्धि असिद्धि में समत्व बुद्धि वाला व्यक्ति कर्मो को करके भी उनसे नहीं बन्धता है। ऐसे गतसंग, मुक्त, ज्ञानस्थ यज्ञाचारी के समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं। अत: हे भारत ! अज्ञान सभूत हृदयस्थ संशयों एवं दौर्बल्य को ज्ञान रूपी अग्नि में छेद कर समत्व बुद्धि योग का आश्रय ले युद्ध के लिए खड़ा हो जा। देखिए—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रय: ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति स: ।।४.२०
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह: ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।।४.२१
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सर: ।
सम: सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।।४.२२
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतस: ।
यज्ञायाचरत: कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।४.२३
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मन: ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।४.४२

भगवान् कृष्ण देखते हैं अर्जुन का मोह अभी भी दूर नहीं हुआ तो अपना दसवां उपदेश शस्त्र छोड़ते हैं। बुरी से बुरी बात विचार कर कहते हैं,

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय: ।।८.५
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ।।८.६
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।८.७

हे अर्जुन ! जो अन्तकाल के समय मेरा स्मरण कर अपने कलेवर को छोड़ता है, वह मेरे ही भाव को प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं है। अर्थात् यदि युद्ध करते तुझे अपना अन्तकाल लगे तो तू यदि मेरा स्मरण भर कर लेगा तो मेरे स्वरूप को ही प्राप्त करेगा इसमें संशय नहीं है क्योंकि हे कौन्तेय ! जो-जो मनुष्य अन्त: काल में जिस-जिस भाव को स्मरण करते हुए अपने शरीर का त्याग करते है वे सदा उसी भाव को प्राप्त होते है। अत: तू सारे समय मेरा ही स्मरण करते हुए युद्ध कर। मुझे अर्पित मन बुद्धि वाला तू मुझे ही प्राप्त होगा। यह असंदिग्ध है।

इतने पर भी भगवान् कृष्ण देखते हैं कि अर्जुन के मन का विषाद, संशय तथा दौर्बल्य गया नहीं है तो वे एकादश उपाय का अवलम्बन लेते हुए विराट रूप का दर्शन कराकर शत्रु पक्ष के समस्त योद्धाओं को मृतावस्था में दिखलाते हैं तथा विश्वास दिलाते हैं कि तू इन्हें मारने वाला नहीं है। ये तो मरने ही वाला है। हे सव्यसाची ! तू तो निमित्त मात्र बनने वाला है। इस पर भी पीछे क्यों हटता है।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त: ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिता: प्रत्यनीकेषु योधा: ।।११.३२
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्वराज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहता: पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।।११.३३
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।११.३४

मैं इस समय लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ लोकक्षयकृत प्रवृद्ध महाकाल हूँ। ये शत्रु पक्ष के समस्त योद्धागण तेरे युद्ध प्रवृत्त न होने पर भी

जीवित नहीं रहेंगे। अतः उठ, यश-लाभ कर, शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य का भोग कर। ये सब मेरे द्वारा पूर्व में ही मारे हुए हैं। हे सव्यसाची ! तू निमित्त मात्र बन। ये द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्यान्य योद्धागण हैं। ये मेरे द्वारा मारे हुए हैं तू प्रत्यक्ष में मार। व्यथित मत हो। युद्ध में तू इन शत्रुओं को अवश्य जीतेगा।

इतना दिखाने के बाद भी अर्जुन को कृष्ण की परमात्म शक्ति पर विश्वास नहीं होता। मानो वह इतने भयावह प्रदर्शन को भी मात्र जादू टोना समझ रहा हो। अतः वह चतुर्भुज रूप दिखाने की विनती करता है। भगवान् उसे केवल युद्ध प्रवृत्त करने के लिए ही अपना चतुर्भुज रूप भी दिखाते हैं। उस द्वादश उपाय को, उस रूप को देखकर अर्जुन अपनी सम्पूर्ण चेतना को संवृत्त कर क्षत्रिय प्रकृति को प्राप्त होता है। क्षात्रधर्म में प्रवृत्त होते ही युद्ध करने को उद्यत होता है।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ।।११.५०
दृष्ट्वेद मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।।११ ५१

इस तरह हम देखते हैं, गीता का मूल संदेश संसार में रहते हुए नियत कर्म करते रहना है। नियत कर्म से विरति असंगत है, असमीचीन है। जो यह कहते हैं गीता वैराग्यमूलक सकाम परम ग्रन्थ है तथा संसार से दूर भगाती है उनसे सहमत होना कठिन है। गीता तो मनुष्य को संसार में कैसे जिए, कैसे रहे, कैसे बर्ते इसका सद्ज्ञान देने वाली है। संसार से दूर भगाने वाली नहीं। संसार में रहते हुए इतना ही ज्ञान रखे। आत्मा अजर अमर है। शरीर और आत्मा भिन्न हैं। एक नाशवान है और दूसरा अविनाशी। आत्मा को विषय बांधते हैं। अतः इन विषयों से काम, क्रोध, लोभ से असंग का, कर्मफल की स्पृहा न करते हुए, सारे स्वभावज नियत कर्मों को ईश्वरार्पण कर करते हुए करते चलो। निराशी निर्ममी निरहंकारी भाव से समत्व बुद्धि के साथ जीवन यापन करते हुए यह भी मानकर चलें कि जो कुछ होने वाला है वह तो होवेगा ही। हम तो उस कर्म के निमित्त भर हैं। करने वाला तो वही ईश्वर है। हम किसी काम के कर्त्ता हैं ही नहीं। हमें तो हमारे गुण कर्म करवा रहे हैं। हमारे गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं। यह इनका स्वभाव है। इनकी गति को संसारोन्मुखी बनाने वाली इन्द्रियों को आत्मोन्मुखी बना लो। इतना ही भर पर्याप्त है।